काव्य और सङ्गीत
का
पारस्परिक सम्बन्ध
(सं० १७००-१६००)

काव्य और सङ्गीत का पारस्परिक सम्बन्ध

(संवत् १७०० से १९००)

(दिल्ली विश्वविद्यालय द्वारा पी-एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत शोध-प्रबन्ध पर आधृत)

डा० उमा मिश्र, एम० ए०, पी०-एच० डी०,
सङ्गीत विशारद (भातखण्डे सङ्गीत विद्यापीठ लखनऊ और गान्धर्व महाविद्यालय मण्डल, बम्बई)

प्राध्यापिका

लेडी श्री राम कालेज

नयी दिल्ली

दिल्ली पुस्तक सदन

बंगलो रोड, दिल्ली

प्रकाशक—
दिल्ली पुस्तक सदन
बंगलो रोड जवाहर नगर
दिल्ली



प्रथम संस्करण जून १९६२
मूल्य :
साढ़े बारह रुपये



मुद्रण—
कम्पोजिंग हिन्दी-मन्दिर प्रिंटिंग एजेंसी
प्रिंटिंग आर० के० प्रिन्टर्स
दिल्ली

अम्मा

और

पण्डित जी

को

जिनका स्नेह-सिक्त मार्ग-दर्शन

मेरे जीवन का आधार है

निवेदन

यह पुस्तक दिल्ली विश्वविद्यालय की 'पी-एच० डी० उपाधि के लिए प्रस्तुत मेरे अन्वेष प्रबन्ध 'रीतिकालीन काव्य और संगीत का पारस्परिक सम्बन्ध' पर आधृत है। मूल अन्वेष प्रबन्ध की तैयारी और प्रस्तुत पुस्तक के प्रकाशन के बीच की अवधि में समय प्रवाह के साथ साथ विचार प्रवाह में भी परिवर्तन होते रहे अतः उन परिवर्तनों का प्रस्तुत पुस्तक में समाविष्ट किया जाना स्वाभाविक था किन्तु इन परिवर्तनों से अन्वेष प्रबन्ध की मूल स्थापना में कोई तात्त्विक अन्तर नहीं आया।

काव्य और संगीत का पारस्परिक सम्बन्ध कितना गहन कितना सूक्ष्म और कितना व्यापक है इसकी निरन्तर वर्धमान अनुभूति मुझे अब भी आश्चर्यमिश्रित आह्लाद से विभोर कर देती है। अतः अपने इस विनीत प्रयास में मैंने जिन उपस्थापनाओं को पाठकों के सम्मुख रखा है उनकी सर्वांगीण पूर्णता का दावा तो मैं नहीं कर सकती किन्तु इतना विश्वास है कि काव्य और संगीत के पारस्परिक सम्बन्ध को स्पष्ट करने में ये मान्यताएँ—आंशिक रूप में ही सही—उपयोगी सिद्ध होंगी। प्रस्तुत पुस्तक का प्रकाशन मेरी इस धारणा का परिणाम है इतने पर भी इस धारणा के समुचित मूल्यांकन का अधिकार एकमात्र सुविज्ञ पाठकों को ही है।

—उमा मिश्र

विषय-सूची

ख

भारतीय संगीत का संक्षिप्त इतिहास

(रीतिकाल से पूर्व तक)

वैदिक युग   भरत युग   दत्तिल   मतंग   नारद   संगीत मकरन्द   मुसलमानी शासन काल   जयदेव   शार्ङ्गदेव   अमीर खुसरो   लोचन   मध्यकालीन धार्मिक उत्थान और संगीत   अकबर   तानसेन और ध्रुपद शैली   राजा मान   पुण्डरीक विट्ठल   जहाँगीर युग के संगीतज्ञ ।

ग

भारतीय संगीत की प्रमुख शैलियों का आलोचनात्मक अध्ययन

(रीतिकाल से पूर्व तक)

जाति और प्रबन्ध गायन   ध्रुपद   धमार   भजन-कीर्तन ।

परिच्छेद ३

(पृष्ठ ६१—१४४)

क

गीतिकाव्य

परिभाषा   व्यक्तिगत सीमा   तीव्र सुखदुःखात्मक अनुभूति   संगीतात्मकता में गेय   निष्कर्ष   गीतिकाव्य के विभिन्न रूप   प्रबन्ध और मुक्तक   श्रव्य और दृश्य   गीतिकाव्य की कसौटी ।

ख

हिन्दी-गीतिकाव्य का संक्षिप्त इतिहास

(रीतिकाल से पूर्व तक)

वैदिक युग   महाकाव्य काल   संस्कृत-साहित्य   अपभ्रंश-साहित्य   वीरगाथा काल   अमीर खुसरो   विद्यापति   ज्ञानाश्रयी धारा   प्रेममार्गी धारा   राम भक्ति धारा   कृष्ण भक्ति धारा   अष्टछाप के कवि   स्वामी हित हरिवंश   मीरा   स्वामी हरिदास   रीतिकाल में गीतिकाव्य ह्रासोन्मुख ?   हमारा अभिनव-गीतिकाव्य ।

शोध-खण्ड

परिच्छेद ४

(पृष्ठ १४७—१६४)

रीतिकालीन परिस्थितियाँ

राजनीतिक स्थिति धार्मिक स्थिति सामाजिक स्थिति आर्थिक स्थिति कला प्रवृत्ति वास्तु-कला तथा मूर्ति-कला चित्रकला काव्य तथा संगीत कला निष्कर्ष।

परिच्छेद ५

(पृष्ठ १६५—१८७)

क

रीतिकालीन संगीत (ऐतिहासिक आधेय)

शाहजहाँ जहाँगीर अंगरेजी औरंगजेब भावभट्ट मुहम्मद शाह रंगीले श्रीनिवास प्रतापसिंह देव मुहम्मद रजा कृष्णानन्द व्यास वाजिद अली शाह अंगरेजी शासन काल।

ख

रीतिकालीन संगीत की प्रमुख शैलियों का शास्त्रीय अध्ययन

ख्याल चतुरंग तराना टप्पा ठुमरी गजल और त्रिवट प्रबंध भजन इत्यादि।

परिच्छेद ६

(पृष्ठ १८८—२२६)

रीतिकालीन काव्य और सांगीतिक प्रवृत्तियाँ तथा उनका पारस्परिक सम्बन्ध

रीति तीन प्रकार के कवि आचार्य कवि आचार्यत्व का प्रभाव मौलिकता का प्रभाव रीतिबद्ध कवि रीतिमुक्त कवि शृङ्गारिक प्रवृत्ति विभिन्न काव्य रूप विभिन्न भाव धाराएँ अन्य प्रिय विषय रीतिकालीन सांगीतिक प्रवृत्तियाँ रीतिकालीन काव्य और सांगीतिक प्रवृत्तियों

मुखबन्ध

प्रस्तुत प्रबन्ध में काव्य और संगीत के पारस्परिक सम्बन्ध को स्पष्ट किया गया है और साथ ही यह यथासम्भव चेष्टा की गयी है कि काव्य के उत्कर्ष में संगीत किस सीमा तक सहायक होता है। गवेषणात्मक प्रबन्धों में विषय की परिमिति और अनुसन्धान का संवर्धन का आग्रह बना रहता है। यही कारण है कि प्रस्तुत शोध-कार्य में अनुसन्धित्सु का अध्ययन के परिणामस्वरूप जो प्रेरणाएं उपलब्ध होती हैं उनके आधार पर केवल उसी सीमा तक अग्रसर हुआ जा सकता है जिस सीमा तक तथ्यप्रमाण यथार्थ आगे बढ़ने देता है।

इस प्रबन्ध का प्रतिपाद्य विषय रीतिकालीन साहित्यिक प्रवृत्तियां और तत्कालीन उत्तर भारतीय संगीत की प्रवृत्तियों के पारस्परिक सामंजस्य का उद्घाटन है। प्रतिपादन के क्रम में इसी कारण दृष्टिकोण उतना ऐतिहासिक एवं तथ्यपरक नहीं जितना तत्त्वपरक एवं सैद्धान्तिक है। 'अस्तु, रीतिकालीन प्रायः सभी प्रमुख कवियों और तत्कालीन सभी काव्य-रूपों को तो ग्रहण कर लिया गया है किन्तु किसी कवि-विशेष की समस्त कृतियों की प्रत्येक पंक्ति में संगीत एवं काव्य की पारस्परिक उत्कर्षाधायक विशेषताओं की विवेचना का प्रयास समीचीन नहीं समझा गया। तथापि पर्याप्त उदाहरणों पर आधृत उपस्थापनाएं अपने वर्ग के सभी कवियों और सभी काव्य-रूपों पर समान रूप से प्रयुक्त हो सकती हैं। कदाचित् अन्वेषणका काम ही कुछ ऐसा है कि अन्वेषीको अपनी केन्द्रीय मान्यता के संस्थापन और पुष्टीकरण के हेतु इधर-उधर भटके बिना चैन नहीं। इसका अपवाद मैं भी नहीं हूं।

इस उपक्रम का उद्देश्य रीतिकालीन काव्य और संगीत के पारस्परिक सम्बन्ध का निदर्शन है। रीतिकालीन साहित्यिक प्रवृत्तियों में तत्कालीन संगीत की प्रवृत्तियाँ दूध में मिसरी की भांति घुली हुई हैं। इसी तथ्य के आलोक में रीतिकालीन साहित्यिक प्रवृत्तियों की पुनःसमीक्षा की दिशा में यह मेरा विनीत प्रयास है।

हिन्दी-साहित्य में काव्य और संगीत के पारस्परिक सम्बन्ध को लेकर प्रसंगवश ही थोड़ी-बहुत चर्चा हुई है। उदाहरणार्थ पन्त कृत 'पल्लव की भूमिका', निराला कृत 'परिमल की भूमिका', प्रसाद कृत 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध' एवं उनका 'स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य' नाटक, डा० श्यामसुन्दर दास कृत

'साहित्यालोचन' तथा 'हिन्दी भाषा और साहित्य' पंडित रामनरेश त्रिपाठी कृत 'तुलसीदास और उनकी कविता' (दूसरा भाग) एवं कविता-कौमुदी का पाँचवां तथा छठा भाग डा० विश्वम्भर नाथ भट्ट कृत 'रत्नाकर : उनकी प्रतिभा और कला' इत्यादि पुस्तकों का नाम लिया जा सकता है।

सूर, तुलसी और मीरा पर विचार करते समय भी आलोचकों का ध्यान संगीत की ओर आकृष्ट हुआ। फलतः उन्होंने संक्षेप में उनके संगीत-कौशल पर भी विचार कर लिया है। डा० दीनदयालु गुप्त कृत 'अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय' डा० मुन्शीराम शर्मा 'सोम' कृत 'सूर-सौरभ' डा० हरवंशलाल शर्मा कृत 'सूर और उनका साहित्य' श्री शिखरचन्द जैन कृत 'सूर एक अध्ययन' श्री ब्रजरत्न दास कृत 'मीरा-माधुरी' इत्यादि पुस्तकें इस सम्बन्ध में द्रष्टव्य हैं।

इधर श्री नर्मदेश्वर चतुर्वेदी की 'संगीतज्ञ कवियों की हिन्दी रचनाएं' नामक पुस्तक प्रकाशित हुई है जिसमें कृष्णानन्द व्यास कृत 'राग-कल्पद्रुम' से चुनकर गोपाल नायक, तानसेन, स्वामी हरिदास और बैजू की कुछ सांगीतिक निबन्ध नामों को (अनेक पाठ-अशुद्धियों के साथ) उद्धृत किया गया है। जो रचनाएं ली गयी हैं उन पर राग-नाम का उल्लेख तक नहीं है। फलतः इस कृति से न तो पद के भाव के अनुरूप समुचित राग-चयन का अनुशीलन हो सकता है और न 'राग कल्पद्रुम' के अनुरूप मूल पाठ की उपलब्धि। 'कवि तानसेन और उनका काव्य' शीर्षक उनकी एक और पुस्तक भी (प्रथम संस्करण संवत् २०१२ विक्रमी) प्रकाशित हुई है। इसमें 'ध्रुपद के पद' शीर्षक से तानसेन के जो पद प्रकाशित हुए हैं उन पर भी राग-नाम का उल्लेख नहीं है।

लगभग तीन वर्ष पूर्व लखनऊ विश्वविद्यालय द्वारा डा० उषा गुप्त का शोध प्रबन्ध 'हिन्दी के कृष्ण भक्तिकालीन काव्य में संगीत' पी-एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ था। यह प्रबन्ध आठ अध्यायों में विभक्त है। लेखिका ने इसमें वल्लभ सम्प्रदाय के अन्तर्गत आने वाले अष्टछाप के आठों कवियों, गौड़ीय सम्प्रदाय के अन्तर्गत गदाधर भट्ट, सूरदास मदनमोहन, राधावल्लभीय सम्प्रदाय के हितहरिवंश, हरिरामव्यास, हरिदासी सम्प्रदाय के हरिदास स्वामी, विट्ठल विपुल, बिहारिन दास तथा निम्बार्क सम्प्रदाय के श्री भट्ट और परशुराम के पद-साहित्य का सांगीतिक दृष्टि से मूल्यांकन किया है। इन सम्प्रदाय मुक्त कवियों के अतिरिक्त मीराबाई तथा रसखान जैसे लोकगीत सम्प्रदाय-मुक्त कवियों के पद साहित्य को भी उपयुक्त दृष्टि से परखा गया है। इसमें सन्देह नहीं कि अनुसन्धान की दिशा में यह एक नवीन प्रयास है किन्तु इस प्रबन्ध में एक ऐसी त्रुटि है जो किसी भी संगीतज्ञ का ध्यान तुरन्त ही अपनी ओर आकृष्ट कर लेगी। वह

दृष्टि है इस विवेचन की उपेक्षा कि सूरदास नन्ददास परमानन्द भट्ट हित हरिवंश हरिदास मीराबाई इत्यादि के युग में संगीत का यथार्थ और प्रामाणिक स्वरूप क्या था। यह ठीक है कि इन कवियों ने अपने पदों के लिए जिन राग-रागिनियों को चुना है वे राग आज भी गाये-बजाये जाते हैं, किन्तु आज का संगीत रीतिकालीन संगीत से तो अधिकांश में एकरूपता स्थापित किये हुए है परन्तु भक्तिकाल के संगीत से आधुनिक संगीत बहुत अधिक बदल गया है। यद्यपि रागों के नाम वे ही हैं किन्तु उनमें प्रयुक्त होने वाले स्वरों का कोमल तीव्र स्वरूप अथवा उनका आरोहण अवरोहण सम्पूर्णत्व षाडवत्व औडुवत्व वादी-संवादी इत्यादि आज सर्वथा वही नहीं है जो भक्तिकाल में था। अतः जब तक उस युग के संगीत का सम्यक् स्पष्टीकरण नहीं हो जाता तब तक उस युग के रागों का शास्त्र-स्वरूप भी अज्ञात ही रहेगा और जब तक तत्कालीन रागों का शास्त्र-स्वरूप स्पष्ट नहीं होता तब तक असन्दिग्ध रूप से यह सिद्ध नहीं किया जा सकता कि इन कवियों ने अपने पदों में उपयुक्त भाव और उपयुक्त राग के सुन्दर सम्मिलन द्वारा किस अनुपम कला-कृति का निर्माण किया था।

अस्तु कुछ सामग्री यत्र-तत्र निस्सन्देह बिखरी पड़ी है, किन्तु अभी तक रीतिकाल के साहित्य और संगीत का समन्वित दृष्टि से अध्ययन नहीं हुआ है। वस्तुतः यह दृष्टिकोण अथवा नवीन है। यही कारण है कि हिन्दी में इस विषय की पुस्तकों का अभाव है।

संगीत और काव्य की पारस्परिक घनिष्ठता को तो सभी स्वीकार करते हैं किन्तु इस घनिष्ठता के कारण हिन्दी-काव्य का जो विशिष्ट शिल्पविधान हुआ अथवा गीति-काव्य में जो जो विशेषताएं उत्पन्न हुईं उनका न तो वैज्ञानिक ढंग से विवेचन हो सका और न समुचित मूल्यांकन हो।

हिन्दी-काव्य से लेकर ऐसे अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं जिनमें संगीत के तत्त्वों का समावेश बड़ा ही मार्मिक है किन्तु संगीत ज्ञान के अभाव में इसकी मार्मिक अभिव्यंजना को लोग समझ नहीं पाते। दो एक उदाहरणों से यह बात और भी स्पष्ट हो जायगी। कविवर सेनापति की यह उपमा देखिए

'लाल मनरंजन के मिलबे को मंजन कै,
चौकी बैठि बार सुखवति बर नारी है।
अंजन सजोर, मनि कंचन सिंगार बिन
सोहत अकेली यह बीणा के सिंगारी है॥
सेनापति सहज को [illegible]

ताल गीत बिन एक रूप के हरति मन
परवीन गाइन की ज्यों आलापचारी है॥"१

सद्यःस्नाता नायिका के आभरणावरणमुक्त सौन्दर्य की यह उपमा सहृदय-संवेद्य है। जो लोग इस बात को जानते हैं कि ताल और गीत से रहित आलाप गायन के कौशल द्वारा राग-सौन्दर्य का स्पष्टीकरण कैसा और किस प्रकार होता है वे ही इस उपमा का वास्तविक आनन्द उठा सकेंगे।

सूर-साहित्य में तो ऐसे मार्मिक प्रसंग भरे पड़े हैं किन्तु संगीत-ज्ञान के अभाव में पाठक तथा आलोचक का इनके रसास्वादन से वंचित रह जाना पड़ता है। सूर का यह पद देखिए

"बंसी बन कान्ह बजावत।
आई सुनो स्रवननि मधुरे सुर राग रागिनी ल्यावत॥
सुर श्रुति तान बंधान अमित अति सप्त अतीत अनागत आवत।
जनु जुग कर बर बैन काढि मथि बरन पयोधि अमृत उपजावत॥
मनो मोहनी भेष धरे हरि मुरली मोहन मुख मधु प्यावत।
सुर नर मुनि बस किये राग रस अधर सुधारस मदन जगावत॥
महा मनोहर नाद सूर थिर चर मोहे मिलि मरम न पावत।
जानहु मूक मिठाई के गुन कहि न सकत मुख सीस डुलावत॥"२

इस पद की दूसरी पंक्ति का अर्थ सम्यक्रूपेण स्पष्ट करने के लिए आप से पर्यायवाची शब्द चुन लेना अथवा संगीत की सुनी-सुनायी बातों के आधार पर उसकी व्याख्या करना पर्याप्त न होगा। 'सूरपंचरत्न' में इस पद की व्याख्या करते हुए जो कुछ कहा गया है वह इस पंक्ति की संगीतात्मकता को स्पष्ट करने में सहायक नहीं होता। यह ठीक है कि संगीत में बाईस श्रुतियाँ मानी गयी हैं किन्तु स्वर और श्रुति में क्या भेद है, वर्णित किसे कहते हैं तथा अतीत और अनागत इत्यादि संगीत के पारिभाषिक शब्दों का क्रियात्मक रूप में समझे बिना इस पंक्ति का पूरा आनन्द नहीं उठाया जा सकता।

१—कवित्त रत्नाकर प्रथम संस्करण दूसरी तरंग छन्द-संख्या ५४ पृष्ठ ११ सम्पादक उमाशंकर शुक्ल

२—सूर पंचरत्न मुरली माधुरी पद संख्या ६ पृष्ठ ३ सम्पादक लाला भगवानदीन, चौथा संस्करण

प्रसाद ने 'कामायनी' के चिन्ता सर्ग में कहा है

"महा-नृत्य का विषम सम अरी
अखिल स्पन्दनों की तू माप
तेरी ही विभूति बनती है
सृष्टि सदा होकर अभिशाप।"१

हिन्दी के अधिकांश पाठक यही नहीं जानते कि सम क्या बला है फिर विषम सम को समझना तो और भी टेढ़ी खीर है। ताल क्या है ताल में सम का संचार किस प्रकार होता है इन सब के द्वारा ताल-चक्र के आवर्तन में सम में जो एक अनिर्वचनीय आनन्द उत्पन्न होता है अथवा विषम सम के द्वारा इस आवर्तन में उपस्थित होने वाले कृत्रिम व्याघात से श्रोताओं के मानस में आनन्द की जो हिलोर उठती है उसे समझे बिना प्रसाद की इन पंक्तियों की मार्मिकता को भला कैसे हृदयंगम किया जा सकता है?

प्रसाद का यह गीत भी बहुत प्रसिद्ध है

"बीती विभावरी जाग री
अम्बर पनघट में डुबो रही—
तारा घट ऊषा नागरी।
खग-कुल कुल-कुल सा बोल रहा
किसलय का अंचल डोल रहा
लो यह लतिका भी भर लाई—
मधु मुकुल नवल रस गागरी।
अधरों में राग अमन्द पिये
अलकों में मलयज बन्द किये—
तू अब तक सोई है आली
आँखों में भर विहाग री।"२

इस गीत से बहुत से पाठकों की यह धारणा हो जाती है कि विहाग शायद प्रातःकाल में गाया जाता है, किन्तु यथार्थता यह है कि विहाग रात्रि के द्वितीय प्रहर का राग है। इसके स्वरों की विह्वलता से वियोग की मार्मिकता अभिव्यक्त होती है। जो लोग जानते हैं कि विहाग का विशिष्ट स्वर-विन्यास किस प्रकार भावोद्रेक करता है तथा उसका प्रभाव कितना मर्मस्पर्शी होता है वे ही समझ

१—कामायनी चिन्ता सर्ग पृष्ठ-२७ द्वितीय संस्करण
२—जयशंकर प्रसाद कृत 'लहर' पृष्ठ-१६ चतुर्थ संस्करण

सकेंगे कि रात भर प्रिय की प्रतीक्षा के पश्चात्—"तू अब तक सोई है आली आँखों में भरे विहाग री" में कैसी मर्मस्पर्शी व्यंजना छिपी है।

'साकेत' की इन पंक्तियों की मार्मिकता देखिए

"ठौर ठौर प्रभातियाँ होने लगीं
अलसता की ग्लानियाँ खोने लगीं।
कौन भैरव-राग कहता है इसे
भुक्ति-मुक्ति न मान देता है जिसे।"१

कवि ने यहाँ 'भैरव' शब्द का श्लिष्ट प्रयोग किया है। भैरव राग का नामकरण उसकी भीषणता अथवा भयानकता के गुण पर निर्भर नहीं है। भैरव शब्द का मूलार्थ है 'भयंकर'। इसी दूसरे अर्थ के कारण श्लेष का सहारा लिया गया है और श्लेषात्मक सौन्दर्य की अभिव्यंजना के लिए ही कवि ने प्रश्न के द्वारा भैरव राग की प्रशंसा की है। इस राग की उत्पत्ति भगवान् शिव के प्रथम मुख से मानी जाती है। भैरव भगवान् शिव का भी नाम है। इसी धारणा के आधार पर इसका भैरव नाम रखा गया। यह प्रातःकालीन भक्तिप्रधान राग है अतः इसमें ध्यान और भक्ति-भावना की अभिव्यंजना स्वाभाविक हो जाती है।

'यशोधरा' का निम्नांकित गीत भी द्रष्टव्य है

"रुदन का हँसना ही तो गान।
गा गा कर रोती है मेरी हृत्तन्त्री की तान।
मींड़ मसक है कसक हमारी, और गमक है हूक
चातक की हत हृदय ध्वनि तो तो कोकिल की कूक।
राग है सब मूर्च्छित आह्वान
रुदन का हँसना ही तो गान।"२

यहाँ भी कवि ने संगीत की भाषा में यशोधरा की मार्मिक वेदना को अभिव्यक्त किया है किन्तु तान, मींड़, गमक, राग, मूर्च्छना जैसे संगीत के पारिभाषिक शब्दों के विशेष अर्थों को भली भाँति समझे बिना इस गीत के रसास्वादन में भी बाधा उपस्थित होती है।

यह भी विचारणीय है कि सूर, तुलसी, मीरा, घनानन्द इत्यादि ने अपने पदों को विशिष्ट राग रागिनियों में क्यों बाँधा है? किसी विशेष पद को किसी

१—साकेत—प्रथम सर्ग पृष्ठ ६, अनुवर्तित
२—'यशोधरा'—पृष्ठ १० अवतरित

विषय राग के अन्तर्गत रखने में उनका क्या उद्देश्य था तथा अपने इस उद्देश्य में वे कहाँ तक सफल हुए ? हिन्दी के आलोचक अभी तक इस महत्वपूर्ण पक्ष की ओर से प्रायः उदासीन हैं। यद्यपि उन्होंने इन कवियों के काव्य की समीक्षा करते हुए रस-निरूपण की दृष्टि से विभिन्न पदों का राग-रागिनियों से सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न किया है किन्तु इस सम्बन्ध में जो अभिमत प्राप्त हैं वे प्रायः भ्रामक हैं। हिन्दी के कवि और आलोचक प्रायः संगीत के विषय को छू तो लेते हैं, किन्तु वे जिस प्रकार उसका प्रतिपादन करते हैं उससे स्पष्टीकरण के स्थान पर या तो जटिलता उत्पन्न हो जाती है या फिर विषय हास्यास्पद बन जाता है। उदाहरणार्थ श्री रामकुमार वर्मा ने हिन्दी-साहित्य के आलोचनात्मक इतिहास (प्रथम संस्करण) के पृष्ठ-४६१ पर तुलसी के गीति-काव्य की संगीतात्मकता पर विचार करते हुए लिखा है "संगीत का आधार होने के कारण राग रागिनियों का ही प्रयोग किया गया है। हर्ष और करुण की भावना में जयतश्री केदारा सोरठ और आसावरी वीर की भावना में मारू और कान्हरा शृंगार की भावना में ललित गौरी बिलावल सूहो और बसंत शान्त की भावना में रामकली वर्णन में विभास कल्याण मल्हार और टोड़ी का प्रयोग है।"

इसी पुस्तक में सूर के पदों के सम्बन्ध में ये विचार उपलब्ध होते हैं

'रस-निरूपण में प्रधानतः सूर ने जिन राग रागिनियों का वर्णन किया है उनका संक्षेप से परिचय इस प्रकार है

शृंगार रस—ललित गौरी बिलावल सूहो और बसन्त।
करुण—जयतश्री केदारा धनाश्री और आसावरी।
हास्य रस—टोड़ी सोरठ सारंग।
शान्त रस—रामकली।
वर्णन—विभास नट सारंग कल्याण मल्हार।[1]

डा० वर्मा ने एक जगह टोड़ी को हास्य-रस का राग माना है और दूसरी जगह यह कहा है कि वर्णन में टोड़ी का प्रयोग होता है। संगीत की दृष्टि से सोरठ विशेष शृंगार प्रधान राग है किन्तु इसे हास्य रस का राग बताया गया है। इसी प्रकार बिलावल को मात्र शृंगारपरक मानना भ्रामक है।

आचार्य शुक्ल ने यद्यपि सूर, तुलसी और मीरा की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की

१—डा० रामकुमार वर्मा कृत हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास पृष्ठ-६७१ प्रथम संस्करण

सकेंगे कि रात भर प्रिय की प्रतीक्षा के पश्चात्—"तू अब तक सोई है आली आँखों में भरे विहाग री" में कैसी मर्मस्पर्शी व्यंजना छिपी है।

'साकेत' की इन पंक्तियों की मार्मिकता देखिए

ठौर ठौर प्रभातियाँ होने लगीं
अलसता की अलसियाँ खोने लगीं।
कौन भैरव-राग कहता है इसे
श्रुति-पुटों से प्राप्त अंत है जिसे ?"१

कवि ने यहाँ 'भैरव' शब्द का श्लिष्ट प्रयोग किया है। भैरव राग का नामकरण उसकी भीषणता अथवा भयानकता के गुण पर निर्भर नहीं है। भैरव शब्द का व्युत्पत्त्यर्थ है 'भयंकर'। इसी दूसरे अर्थ के कारण श्लेष का सहारा लिया गया है और श्लेषात्मक सौन्दर्य की अभिव्यंजना के लिए ही कवि ने प्रश्न के द्वारा भैरव राग की प्रशस्ति की है। इस राग की उत्पत्ति भगवान् शिव के प्रथम मुख से मानी जाती है। भैरव भगवान् शिव का भी नाम है। इसी धारणा के आधार पर इसका भैरव नाम रखा गया। यह प्रातःकालीन शान्तिप्रधान राग है अतः इसमें उत्साह और भक्ति-भावना की अभिव्यंजना स्वाभाविक रूपेण हो जाती है।

'यशोधरा' का निम्नांकित गीत भी द्रष्टव्य है

"रुदन का हँसना ही तो गान।
गा गा कर रोती है मेरी हृत्तन्त्री की तान।
मींड़ मसक है कसक हमारी, और गमक है हूक
चातक की हत हृदय श्रुति को लो कोयल की कूक।
राग हैं सब मूर्च्छित आह्वान
रुदन का हँसना ही तो गान।" २

यहाँ भी कवि ने संगीत की भाषा में यशोधरा की मार्मिक वेदना को अभिव्यक्त किया है किन्तु तान मींड़ मसक राग मूर्च्छना जैसे संगीत के पारिभाषिक शब्दों के विशेष अर्थों को भली-भाँति समझे बिना इस गीत के रसास्वादन में भी बाधा उपस्थित होती है।

✓ यह भी विचारणीय है कि सूर, तुलसी, मीरा, घनानन्द इत्यादि ने अपने पदों को विशिष्ट राग-रागिनियों में क्यों बाँधा है? किसी विशेष पद को किसी

१—'साकेत'—प्रथम सर्ग पृष्ठ १ चतुर्थावृत्ति
२—'यशोधरा'—पृष्ठ १८ षष्ठावृत्ति

विभिन्न राग के प्रयोग करने में उनका क्या उद्देश्य था तथा प्राय इस उद्देश्य में वे कहाँ तक सफल हुए ? हिन्दी के आलोचक वर्गों के इस महत्वपूर्ण पक्ष की ओर से प्राय उदासीन हैं। यद्यपि उन्होंने इन कवियों के काव्य की समीक्षा करते हुए रस-निरूपण की दृष्टि से विभिन्न पदों का राग-रागिनियों से सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न किया है किन्तु इस सम्बन्ध में जो अभिमत प्राप्त हैं वे प्राय भ्रामक हैं। हिन्दी के कवि और आलोचक प्राय संगीत के विषय का उल्लेख तो लेते हैं किन्तु वे जिस प्रकार उसका प्रतिपादन करते हैं उससे स्पष्टीकरण के स्थान पर या तो जटिलता उत्पन्न हो जाती है या फिर विषय हास्यास्पद बन जाता है। उदाहरणार्थ श्री रामकुमार वर्मा ने हिन्दी-साहित्य के आलोचनात्मक इतिहास (प्रथम संस्करण) के पृष्ठ-४६१ पर तुलसी के गीति-काव्य की सगीतात्मकता पर विचार करते हुए लिखा है "संगीत का आधार होने के कारण राग रागिनियों का ही प्रयोग किया गया है। रूप और करुण की भावना में जयतश्री केदारा सोरठ और आसावरी और की भावना में मारू और कान्हरा शृंगार की भावना में ललित गौरी विभावस सूही और बसन्त शान्त की भावना में रामकली वर्णन में बिलावल कल्याण मल्हार और टोड़ी का प्रयोग है।"

इसी पुस्तक में सूर के पदों के सम्बन्ध में ये विचार उपलब्ध होते हैं

"रस-निरूपण में प्रधानत सूर ने जिन राग-रागिनियों का वर्णन किया है उनका संक्षेप में परिचय इस प्रकार है

शृंगार रस—ललित गौरी विभावस सूही और बसन्त।
करुण—जयतश्री केदारा धनाश्री और आसावरी।
हास्य रस—टोड़ी सोरठ सारंग।
शान्त रस—रामकली।
वर्णन—बिलावल नट सारंग कल्याण मल्हार। १

डा० वर्मा ने एक जगह टोड़ी को हास्य-रस का राग माना है और दूसरी जगह यह कहा है कि वर्णन में टोड़ी का प्रयोग होता है। संगीत की दृष्टि से सोरठ विशेष शृंगार प्रधान राग है किन्तु इसे हास्य रस का राग बताया गया है। इसी प्रकार विभावस को मात्र शृंगारपरक मानना भ्रामक है।

आचार्य शुक्ल ने यद्यपि सूर, तुलसी और मीरा की मुक्तकम् से प्रशंसा की

१—डा० रामकुमार वर्मा कृत हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास पृष्ठ ६४१ प्रथम संस्करण

है, फिर भी ऐसा प्रतीत होता है कि शास्त्रीय संगीत में उनकी अभिरुचि नहीं थी। हिन्दी का पद-साहित्य यद्यपि राग-रागिनियों पर ही आधृत है, किन्तु संगीत के पेंच पाँच देखकर शुक्ल जी को हठयोग का स्मरण हो आता था।[1] अतः उन्होंने राग-रागिनियों की विवेचना ही उचित नहीं समझी।

उपर्युक्त आलोचनाओं में शुद्ध सांगीतिक समीक्षा का अभाव विशेष चिन्तनीय नहीं है, क्योंकि आलोचक का दृष्टिकोण जब मात्र साहित्यिक होता है तब उसकी आलोचना के मान वे ही नहीं होते जो किसी अन्य दृष्टि से साहित्य को परखने वाले व्यक्ति के हो सकते हैं। अतः हिन्दी-साहित्य में सांगीतिक दृष्टि से यत्र-तत्र जो बातें कह दी गयी हैं उनका उद्देश्य किसी सांगीतिक मन्तव्य की स्थापना नहीं है। रीतिकालीन गीतिकाव्य के मूल्यांकन में भी कतिपय महत्वपूर्ण बातें इसी कारण छूट गयी हैं। उदाहरणार्थ यह ठीक है कि राग-रागिनी-युक्त भक्तिकालीन पद-साहित्य की वेगवती धारा हिन्दी के रीतिकाल में आकर क्षीण रूप में बहती हुई दृष्टिगोचर होती है और इसका कारण भी तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक एवं साहित्यिक परिस्थितियां ही हैं, किन्तु इस बात पर विचार नहीं किया गया कि सूर, तुलसी और मीरा के युग में जो पद-साहित्य संगीत की ध्रुपद-शैली से प्रभावित था वही रीतिकाल में खयाल-शैली से प्रभावित हो गया था, फलतः गीतिकाव्य के रूप में भी थोड़ा-बहुत परिवर्तन हो गया। इस परिवर्तन के परिणामों पर भी हिन्दी-साहित्य में विचार नहीं हुआ। रीतिकालीन कवित्त सवैये हिन्दी की परम्परागत पद-शैली में नहीं आते तथापि ऐसे अनेक कवित्त-सवैये रीतिकाल में लिखे गये जिनमें अन्तर्जगत की मार्मिक अभिव्यक्ति है और जो आज भी गायकों द्वारा गाये जाते हैं। उनकी रूपरेखा अथवा उनका शिल्पविधान चाहे पदों जैसा न हो, फिर भी गीतिकाव्य की प्रायः सभी विशेषताएं उनमें सम्पूर्ण रूप से व्याप्त हैं। इन कवित्त-सवैयों को शास्त्रीय संगीत के नियमानुसार विभिन्न राग-रागिनियों में गाया भी जा सकता है।

एक बात और भी है। रीतिकालीन काव्य को यदि परम्परागत प्रसिद्ध

१—"संगीत के पेंच पाँच देखकर हठयोग याद आता है। जिस समय कोई कलावन्त पक्का गाना गाने के लिए आठ अंगुल मुँह फैलाता है और 'आ-आ' करके विकल होता है उस समय बड़े-बड़े धीरों का धैर्य छूट जाता है—दिन-दिन भर चुपचाप रहने वाले बड़े-बड़े आलसियों का आसन डिग जाता है।"
आचार्य शुक्ल कृत 'चिन्तामणि' भाग १ पृष्ठ ११ संस्करण सन् १९५०

समासों से मिलाया जाय तो दोनों में अद्भुत भाव-साम्य भी दृष्टिगत होता है।

उदाहरणार्थ मतिराम का यह कवित्त देखिए

"आवत लिलार मोठ मदन की लीक सोहै
पीछे न चलीक लोक-लीक न बिसारिए
कवि 'मतिराम' छाती मन—दल अगमये
[illegible] पग [illegible] मय में न पारिए।
कलके उघारत [illegible] पलक पलक मानौ
[illegible] में पौढ़ि जब रातिको बिसारिए
झपटे हैं [illegible] [illegible] न कहत बन
लटपट पेंच सिर-पाग के सुधारिए।" १

इसे रामकली के अधोलिखित परम्परागत ख्याल से मिलाने पर उपर्युक्त कथन स्पष्ट हो जायगा।

'निहारे रैन के जाग सजन
सुन्दर चतुर सुजनवा अलसा भोरहि भोर आये।
बिन गुन माल अधर पर अंजन भाल तिलक लगाय॥
हरि रस मगन सखी बड़भागिन तन मन धन न्योछावर करि आये।"२

निश्चय ही कविता का राग संगीत के संकेतों से प्रभावित होता है। गद्य में शब्द संगीत की जो कमी रहती है उसी की पूर्ति काव्य में छन्द विधान द्वारा हुआ करती है। गद्य की पुस्तकों की तरह पद्य की पुस्तकों को पढ़ा नहीं जाता। कविता में भावों का मर्मस्पर्शी संगीत भाषा के मनोरम संगीत से ओतप्रोत होकर पूर्ण रूप से प्रस्फुटित होता है। दोनों के मेल से ही विश्व का सर्वोत्तम संगीत कविता में मुखरित होता है। प्रस्तुत प्रबन्ध मेरे इसी दृष्टिकोण की स्थापना का प्रयास है।

इस अल्प प्रबन्ध की सीमाओं का मुझे भली-भाँति भान है। अपने सीमित रूप में यह अयोजित के सम्मुख विषय का सम्यक उद्घाटन कर सकेगा

१—'मतिराम-ग्रन्थावली', पृष्ठ २६७ २६८ तृतीय संस्करण सम्पादक कृष्ण बिहारी मिश्र बी० ए० एल० एल० बी०

२—द्रष्टव्य—'संगीत अर्चना', पृष्ठ-१४ द्वितीय संस्करण लेखक—डा० विश्वम्भर नाथ भट्ट

यह दावा तो मैं नहीं कर सकती किन्तु इतना विश्वास मुझे है कि इससे न केवल रीतिकालीन काव्य और संगीत के आदान प्रदान की झाँकी मिलेगी अपितु संगीत और काव्य के अन्योन्याश्रित सम्बन्ध का भी असन्दिग्ध आभास मिल सकेगा। प्रस्तुत प्रबन्ध का स्थूल रूप यही है। इस तथ्य की परिज्ञानजन्य प्रतिक्रिया कविता और संगीत दोनों के लिए मंगलकारिणी सिद्ध हो सकेगी।

यह शोध-प्रबन्ध दो खण्डों और नौ परिच्छेदों में विभक्त है। भूमिकाखण्ड में तीन परिच्छेद हैं जिनमें से प्रथम परिच्छेद विषय प्रवेश और उसके क्षेत्र-विस्तार से सम्बन्धित है। प्रतिपाद्य विषय का सम्बन्ध संवत् १७०० से १९०० तक विस्तृत उस काल के पद-साहित्य से है जो हिन्दी में रीति-युग के नाम से अभिहित है। तत्कालीन सांगीतिक और साहित्यिक प्रवृत्तियों के सम्मिलन का मूल्यांकन ही इसका मुख्य उद्देश्य है अतः प्रथम परिच्छेद में काव्य और संगीत की सामान्य सम्प्रकृतिक विशेषताओं के उल्लेख के साथ प्रबन्ध आरम्भ हुआ है। इसके 'ख' भाग में संगीत की व्याप्ति है जिसका एकमात्र उद्देश्य यह दिखाना है कि संगीत और जीवन का पारस्परिक सम्बन्ध कितना घनिष्ठ है। संगीत की इस व्यापकता ने मानव की सामाजिक और आध्यात्मिक प्रवृत्ति को ही नहीं उसकी काव्याभिरुचि को भी सहज ही आत्मसात् कर लिया है।

इस परिच्छेद का 'ग' भाग काव्य और संगीत के अन्योन्याश्रित सम्बन्ध को स्पष्ट करता है। यह सम्बन्ध अतीव महत्त्वपूर्ण है। भारतीय और पाश्चात्य काव्य-शास्त्रियों ने इसे प्रायः किसी-न-किसी रूप में कविता और संगीत के अनुपूरक सम्बन्ध को स्पष्टतः स्वीकार किया है। कविता में संगीत का समावेश या तो आन्तरिक या फिर आंतरिक और बाह्य दोनों प्रकार के संगीत के रूप में रहा करता है। यह तत्त्व इस शोध-प्रबन्ध की केन्द्रीय स्थापना का एक अपरिहार्य अंग है।

भारतीय संगीत की प्रायः सभी प्रमुख बातों का उल्लेख दूसरे परिच्छेद में किया गया है। यह परिच्छेद तीन भागों में विभक्त है। 'क' भाग में संगीत का पारिभाषिक अर्थ और भारतीय संगीत की दो प्रणालियों का उल्लेख है। इसके अतिरिक्त भारतीय संगीत की परिवर्तनशीलता को भी यहीं स्पष्ट कर दिया गया है। 'ख' भाग में भारतीय संगीत का रीतिकाल से पूर्ववर्ती संक्षिप्त इतिहास वर्णित है और 'ग' भाग में रीतिकाल से पहले की भारतीय संगीत की प्रमुख शैलियों का आलोचनात्मक अध्ययन है।

तीसरा परिच्छेद गीतिकाव्य से सम्बन्धित है, क्योंकि विभिन्न काव्य-रूपों में

गीतिकाव्य का ही संगीत से सर्वाधिक सम्बन्ध होता है। इस परिच्छेद के 'क' भाग में गीतिकाव्य के स्वरूप का विवेचन तथा 'ख' भाग में रीतिकाल से पूर्ववर्ती हिन्दी गीतिकाव्य का संक्षिप्त इतिहास उल्लिखित है।

शोध-खण्ड का आरम्भ चौथे परिच्छेद से होता है। यह परिच्छेद रीतिकालीन परिस्थितियों से सम्बन्धित है जिसमें तत्कालीन राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और धार्मिक परिस्थितियों का उल्लेख करते हुए यह दिखाया गया है कि इन सब से प्रेरित होकर रीतिकाल की कलागत प्रवृत्तियाँ किस दिशा में अग्रसर हो रही थीं। इस परिच्छेद में वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला, काव्य और संगीत की कलागत प्रवृत्तियों के पारस्परिक साम्य पर प्रकाश डाला गया है।

पाँचवाँ परिच्छेद रीतिकालीन संगीत से सम्बन्धित है। इसके 'क' भाग में उस युग का ऐतिहासिक मानचित्र अंकित है और 'ख' भाग में रीतिकालीन संगीत की प्रमुख शैलियों का शास्त्रीय अध्ययन उपस्थित किया गया है।

छठे परिच्छेद में रीतिकालीन काव्य-प्रवृत्तियों का उल्लेख करते हुए उनका तत्कालीन उन सांगीतिक प्रवृत्तियों से पारस्परिक सम्बन्ध दिखाया गया है जिनका उल्लेख पाँचवें परिच्छेद में हुआ है।

सातवें परिच्छेद में रीतिकालीन छन्द और अलंकार-योजना का संगीत से सम्बन्ध स्पष्ट किया गया है। संगीत में जो स्थान लय का है वही कविता में छन्द का है। यही नहीं, शब्दालंकारों के समायोग से भी कविता में आन्तरिक संगीत की प्रतिष्ठा होती है; अतः इस परिच्छेद में इसी दृष्टिकोण की स्थापना है।

आठवें परिच्छेद में रीतिकालीन प्रमुख काव्य-रूपों का संगीत से सम्बन्ध उपन्यस्त है। अध्ययन की सुविधा के लिए इस परिच्छेद को 'क', 'ख' और 'ग' भागों में विभक्त किया गया है। 'क' भाग में रीतिकालीन गीतिकाव्य और संगीत के सम्बन्ध का उल्लेख है तथा 'ग' भाग में रीतिकालीन प्रबन्धकाव्य और संगीत के सम्बन्ध का व्याख्यापन।

अध्ययन के परिणामस्वरूप जो निष्कर्ष उपलब्ध हुए हैं वे नवें परिच्छेद (उपसंहार) में आ गये हैं और यहीं यह प्रबन्ध समाप्त हो जाता है।

विषय के प्रतिपादन में यत्र-तत्र अनुभव की जा सकने वाली प्रखरता किसी अवांछनीय वृत्ति का परिणाम नहीं; उसे प्रतिपाद्य की तार्किक स्पष्टता से अधिक महत्त्व न दिया जाना चाहिए। वस्तु प्रतिपादन की किंचित् प्रगल्भता मेरी अपनी दुर्बलता है न कि शैली।

भूमिका-खण्ड

अन्त में मैं आदरणीय डाक्टर विश्वम्भर नाथ भट्ट के प्रति कृतज्ञतापूर्ण आभार प्रकट करना अपना परम कर्तव्य समझती हूँ। उन्हीं के स्नेह-सिक्त निर्देशन में मैं साहित्य और संगीत दोनों के विशेष अध्ययन तथा इस अन्वेष प्रबन्ध को पूर्ण रूप प्रदान करने में समर्थ हो सकी हूँ।

उन अन्य विद्वानों एवं गुरुजनों के प्रति भी मैं हार्दिक आभार प्रकट करती हूँ जिनकी प्रेरणा अथवा कृतियों से मुझे अन्वेषण कार्य में सहायता मिली है।

—उमा मिश्र

भूमिका-खण्ड

विषय प्रवेश और क्षेत्र विस्तार

परिच्छेद-१

(क)

हिंदी के रीतिकालीन काव्य-वैभव का स्मरण मात्र ही उन प्रवृत्तियों की ओर ध्यान जाना स्वाभाविक है जिनके कारण तत्कालीन काव्य में समागत विषमताओं का प्राचुर्य हुआ। इनकी चकाचौंध में हमारी दृष्टि काव्य और संगीत के चिरन्तन समवाय के आंतरिक मोहक स्वरूप से हटकर उस युग के कवियों के बाह्य-सौन्दर्य प्रदर्शन में ही उलझ कर रह जाती है। परम्परागत रीति-शैली के ह्रास के कारण इस काल में काव्य और संगीत का शाश्वत सम्बन्ध प्रच्छन्न रूप में सामने आता है। वस्तुतः इसका कारण अध्ययन का विशिष्ट दृष्टिकोण ही है। शुद्ध साहित्यिक दृष्टि से उस युग का साहित्य शब्दों की कारीगरी, वाक्य-विन्यास की पटुता उक्ति की वक्रता छन्द-विधान की रमणीयता अलंकारों की चमक-दमक आदि से ही अपने पाठकों को आकर्षित करता है किन्तु सांगीतिक अभिरुचि के अध्येता से काव्य का यह आन्तरिक संगीत छिपा नहीं रह सकता जिसने काव्य को कला सम्पन्न बनाने में सतत सहयोग प्रदान किया है।

संगीत से अनुस्यूत काव्य-माधुरी युग-युग से मानव-हृदय को रसप्लावित करती आ रही है। हृदय की भावनाओं का संगीत मानो पथ प्रशस्त कर देता है। विषाद उल्लास-मिश्रित जीवन में संगीत अनुस्यूतता के अनुपम तत्त्व के रूप में विद्यमान है किन्तु अनुरूप होते हुए भी यह मानवीय आवेगों का अस्पृश्य पार्थक्यपूर्ण एवं भिन्न रूप है अतः रीतिकाल जैसे कला-युग में इस शाश्वत सम्बन्ध का विच्छेद हो जाना कदापि सम्भव नहीं माना जा सकता। पूर्व मध्यकालीन काव्य में यदि आन्तरिक संगीत गौण और बाह्य संगीत प्रधान है तो उत्तर मध्यकालीन काव्य में आंतरिक संगीत प्रधान और बाह्य संगीत गौण है। सूर, तुलसी मीरा प्रभृति ने अपने पदों पर राग-कीर्तन देकर बाह्य संगीत का स्पष्ट निर्देश

किया है। रीतिकाल के पद-साहित्य में भी परम्परागत शैली से राग-रागिनियों का निर्देश है परन्तु कवित्त-सवैयों में अनुकूल राग-चयन का कार्य गायकों की इच्छा पर छोड़ दिया गया है। अस्तु, मानव की सहज संगीताभिरुचि का काव्य से सर्वथा बहिष्कृत हो जाना सम्भव नहीं है। निखिल विश्व के साहित्य में इस तत्त्व की अधिकारपूर्ण सत्ता निर्विवाद है।

क्षेत्र विस्तार

संगीत कला सार्वभौम है। संसार का कोई ऐसा भाग नहीं जिसके निवासी किसी न किसी रूप में संगीत से संश्लिष्ट न हों। हिन्दू-संस्कृति में तो देवी-देवता भी संगीत के अनन्य प्रेमी बने दिखायी देते हैं। हिन्दुओं के प्राचीनतम ग्रन्थ वेदों में सामवेद का स्थान विशेषतः महत्त्वपूर्ण है। गीता में भगवान् कृष्ण ने अपने आपको वेदों में सामवेद कहा है१। स्वर्ग की अप्सराओं गन्धर्वों यक्षों अथवा किन्नरों की तो बात ही क्या भगवान् शंकर का स्वरूप भी बिना डमरू के अधूरा ही रह जायगा। विद्या की अधिष्ठात्री भगवती सरस्वती तो वीणा-पुस्तक-धारिणी हैं ही भगवान् कृष्ण भी 'सीस-मुकुट कटि काछिनी' के अतिरिक्त "कर मुरली" *के बिना वैसे ही अपूर्ण हैं जैसे धनुष-बाण के बिना भगवान् राम।*२

मानव-जीवन की विविधताओं का गान करने वाले संगीत का क्षेत्र अतीव व्यापक है। केवल सुख और दुःख इन दो शब्दों में मानव की कहानी पूरी हो

१—वेदानां सामवेदोऽस्मि (मैं वेदों में सामवेद हूँ)
　　　　श्रीमद्भगवद्गीता अध्याय १० श्लोक-२२

२— "गीतेन प्रीयते देवः सर्वज्ञः पार्वतीपतिः।
　　गोपीपतिरनन्तोऽपि वंशध्वनिवशंगतः॥
　　सामगीतिरतो ब्रह्मा वीणासक्ता सरस्वती।
　　किमन्ये यक्षगन्धर्वदेवदानवमानवाः॥"
　　　　श्री शार्ङ्गदेव कृत संगीत रत्नाकर पृष्ठ-७ आनन्दाश्रमसंस्कृत ग्रन्थावली ग्रन्थांक ३५ ख्रिस्ताब्द १९४२

(सर्वज्ञ पार्वतीपति और देवता गीत से प्रसन्न होते हैं। अनन्त गोपी-पति भी वंशीध्वनि के वश हो गये। अतएव ब्रह्मा सामगान करते हैं। सरस्वती वीणा में आसक्त हैं। यक्ष गन्धर्व देव दानव मानवादि अन्यों की तो बात ही क्या!)

जाती है। हर्ष अथवा विषाद, सुख अथवा दुःख, जन्म अथवा मृत्यु कैसा भी अवसर हो भारतीय जीवन में संगीत को प्रथम स्थान मिल जाता है। एक ओर यदि जीवन के मधुर स्वप्न संगीत के हिन्डोले पर झूमते हैं तो दूसरी ओर युद्ध का ताण्डव रण-वाद्य के भैरव संगीत से संचालित होता है। मधुर लोरियों के प्रभाव से रोता हुआ शिशु भी सो जाता है।१ भारतीय जीवन में संगीत सम्भवतः घुट्टी में ही घुट जाता है और फिर दुःख-सुख का यह साथी सभी संस्कारों में विद्यमान रहकर, महायात्रा में भी साथ नहीं छोड़ता।

मानव ही क्या मानवेतर प्राणी भी संगीत से प्रभावित होते देखे जाते हैं। सपेरे की बीन में भयंकर विषधर मस्ती से झूम उठता है और नाद पर रीझकर मृग प्राणोत्सर्ग कर देता है।२ बीन सुनकर भैंस भले ही पड़ी पागुर करती रहे किन्तु यह सत्य है कि आधुनिक युग के अनेक डेयरी फार्मों में संगीत के प्रसार से पशुओं से कुछ अधिक ही दूध प्राप्त कर लिया जाता है फिर मानव तो स्वभावतः संगीत की ओर उन्मुख है।

संगीत मनुष्य के हृदय की भाषा है। चित्त प्रसन्न करने के लिए संगीत से बढ़कर सम्भवतः अन्य कोई साधन नहीं। भक्त के कोमलतम भावों की अभिव्यंजना का माध्यम बन जाने से यह आत्मसंस्कार का भी सफलतम साधन बन जाता है। संगीत आध्यात्मिक विधान, मस्तिष्क का प्रसार एवं जीवन के सत्य, शिव और सुन्दर की मार्मिक अभिव्यक्ति है। इसीलिए जीवन की व्याख्या करने वाला काव्य भी संगीत के व्यापक क्षेत्र में सहज ही प्रविष्ट हो जाता है।

१— "अज्ञात विषयास्वादो बालः पर्यंकशायितः।
स्तन्यपीतमृतं पीत्वा हर्षोत्कर्षं प्रपद्यते॥"

वही पृष्ठ-७

(विषयास्वाद से अनभिज्ञ पर्यंक पर पड़ा रोता हुआ बालक गीतामृत पीकर अत्यन्त हर्ष को प्राप्त होता है।)

२—"वने चरस्तृणाहारश्चित्रं मृगशिशुः पशुः।
लुब्धो लुब्धकसंगीते गीते त्यजति जीवितम्॥"

वही पृष्ठ-७

(तात्पर्य है कि वन में घूमने वाला घासाहारी पशु होते हुए भी बहेलिया (शिकारी) के संगीत से लुब्ध होकर गीत में प्राण गंवा देता है।)

भारतीय दृष्टि से यद्यपि संगीत के समान काव्य स्वत: एक कला नहीं है किन्तु काव्य में भावों को उत्कर्ष प्रदान करने के लिए कवि को विभिन्न कलाओं का सहारा लेना ही पड़ता है। कविता का कला-पक्ष यही है। इसके संयोग से कवि की कृति में प्रेषणीयता आ जाती है। अलंकार छन्द और संगीत से अलंकृत एवं कला-संयुक्त होकर कविता दर्शन और विज्ञान से अलग हो जाती है किन्तु इस प्रकार काव्य में जो सौन्दर्य प्रस्फुटित होता है वह उसका साध्य है साधन नहीं। मनुष्य का मनुष्यत्व प्रदान करने वाले जो भाव हैं वे स्वतः स्फूर्त होते हैं। भावों में प्रभावोत्पादकता उत्पन्न करने का काम अभ्यासजन्य कला ही करती है। भावाभिव्यक्ति की मार्मिकता जिन बाह्य उपादानों पर निर्भर है वे उपादान काव्य के सुविचारित अभ्यास पर ही आधृत हैं१ और इस अभ्यास के लिए संगीत असन्दिग्ध रूप से उत्कर्षविधायक सिद्ध होता है।

१—(क) द्रष्टव्य—'Greek literary criticism by J D Denniston page 42 edition 1924

(ख) 'Essential to all art, in the first place was said to be the need for taking thought. This it was that distin guished an art like medicine from a sham art like cookery the latter being described as the outcome of mere experiment or rule of thumb. No true artist added Plato whether painter or builder or poet selected or applied his material at random, his effort was always directed towards giving definite and effective form to his work and with that end in view some knowledge of the technique of art was held to be necessary Atkins– Literary Criticism in Antiquity page 53-54 Volume I Methuen & Co Ltd. London

(कहते हैं कि सबसे पहले सभी कलाओं के सम्बन्ध में विचार अपेक्षित होता है। इसी से औषधि-विज्ञान जैसी कला का पाकशास्त्र जैसी कला से अन्तर स्पष्ट हो जाता है क्योंकि पाकशास्त्र तो मात्र प्रयोग का प्रतिफल अथवा हस्तचातुरी माना जाता है। प्लेटो ने कहा है कि कोई भी सच्चा कलाकार चाहे वह चित्रकार हो अथवा वास्तु-कला-विशारद अथवा कवि अपनी सामग्री का बिना विचार

निश्चय ही काव्य की आत्मा रस है। वही उसका प्राण है किन्तु जिस प्रकार प्राण का एक मात्र आधार शरीर है उसी प्रकार काव्य के भाव-पक्ष के लिए उसका कला-पक्ष महत्वपूर्ण है। भाव तो वस्तुगत हैं ही किन्तु उनकी अभिव्यक्ति का ढंग अवश्य कवि की निजी विशेषता है। इसीलिए काव्य के अन्तर्गत ऐसी ही पुस्तकों की गणना होती है जो वस्तु अथवा विषय-विशेष के कारण ही नहीं प्रतिपादन के विशिष्ट ढंग के कारण भी आनन्दोद्रेक में समर्थ हैं। ऐसी कृतियाँ किसी वर्ग-विशेष को नहीं अपितु मानव मात्र को आनन्द प्रदान करती हैं। व्यक्ति-विशेष के विचारों अथवा अभिव्यक्ति के माध्यम में तो अन्तर हो सकता है किन्तु भाव सर्वत्र एकरस और सनातन हैं। ये ही भाव काव्य और संगीत के विषय हैं जो अभिव्यंजना-कौशल से समृद्ध होकर सौन्दर्यानुभूति के परिष्कार और तृप्ति की अद्भुत क्षमता प्राप्त कर लेते हैं।

साहित्य और जीवन

संगीत की तरह साहित्य भी जीवन से उद्भूत होकर पुनः जीवन को ही प्रभावित करता है। भाषा के माध्यम से यह जीवन की अभिव्यक्ति है और जिस जीवन की यह अभिव्यक्ति है वही जीवन उसका प्राण भी है। उसके बिना इसका अस्तित्व ही सम्भव नहीं अतः जीवन में ही हमें वे तत्व निहित मिलेंगे जो साहित्य के प्रेरक हैं। इस दृष्टि से मानव-जीवन और साहित्य के विभिन्न पक्षों में परस्पर तादात्म्य स्थापित हो जाता है, क्योंकि दोनों का क्षेत्र एक ही है।

उपर्युक्त तादात्म्य निम्नांकित चतुर्विध रूपों में स्थापित होता है।[1]

१ आत्माभिव्यक्ति की अदम्य लालसा।

२ मानव जाति एवं उसके क्रियाकलापों के प्रति हमारी रुचि।

३ जिस यथार्थ संसार में हम रहते हैं उससे तथा उस काल्पनिक जगत से हमारा प्रेम जिसका हम अपना निर्माण कर लिया करते हैं।

प्रयोग अथवा चयन नहीं करता। उसका प्रयत्न सर्वत्र यही रहता है कि उसके भावों को कोई निश्चित और प्रभावशाली रूप आकार प्राप्त हो और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए कला के टेक्नीक के विशिष्ट ज्ञान की आवश्यकता है।)

१ द्रष्टव्य William Henry Hudson, An Introduction to the Study of Literature Page 11 12 Second revised edition.

४ सौन्दर्यपूर्ण अभिव्यक्ति के प्रति हमारा आकर्षण ।

हमारे अन्तस् में एक अदम्य लालसा ऐसी है जो उन सब बातों को अभिव्यक्त करने के लिए उत्कण्ठित रहती है जिन्हें हम जानते हैं सोचते हैं तथा अनुभव करते हैं। इस दृष्टि से साहित्य कवि की आत्माभिव्यक्ति है।

मनुष्य सामाजिक प्राणी है फलतः वह अपनी भावनाओं को लेकर अकेला नहीं रह सकता। अपनी भावनाओं को औरों को बताये बिना उसे चैन नहीं किन्तु जहाँ वह अपनी बात दूसरों को बताना चाहता है वहाँ दूसरों की बात सुनने के लिए उत्सुक भी रहता है। जैसे हम अपने द्वारा निर्मित किसी सुन्दर वस्तु को दूसरों को दिखाने के लिए उत्सुक हो उठते हैं वैसे ही दूसरों की बनायी हुई सुन्दर वस्तु की प्रशंसा में भी रस लेते हैं।

हमारा हृदय मानव मात्र के जीवन भावनाओं उद्देश्य तथा विभिन्न सम्बन्धों में अभिरुचि रखता है अतः साहित्य मानव-जीवन के महान् नाटक की अभिव्यक्ति है। इस बाह्य जीवन का छायाचित्र अन्तर्जगत में भी प्रतिबिम्बित होता है। जीवन का बाह्य रूप उसका सत्य स्वरूप नहीं है। उसकी अशेष शाश्वत भावनाओं और वासनाओं में ही उसका वास्तविक रूप निहित है। सीमित और स्थूल बाह्य रूप एवं असीम भावनाओं और कल्पनाओं के सूक्ष्म अन्तर्जीवन में समन्वय स्थापित करने का और इस प्रकार पूर्ण सत्य की प्रतिष्ठा करने का अपूर्व कृत्य काव्य और संगीत के द्वारा ही सम्पादित होता है। बाह्य जगत् में सत्य का जो प्रतिबिम्ब भासमान है संगीत से समृद्ध कविता उसी को साकार बनाती है।

हमारी सौन्दर्याभिरुचि वस्तुओं को आकर्षक रूप प्रदान करने में तल्लीन रहती है। सौन्दर्य हमें प्रिय है और हम अपने चारों ओर सुन्दर वातावरण बनाये रखना चाहते हैं विभिन्न वस्तुओं को सुसज्जित सुरुचिपूर्ण तथा व्यवस्थित रूप-रेखा में देखना पसन्द करते हैं। मानव अपनी भावनाओं को भी स्वभावतः आकर्षक रूप-रेखा और सुन्दर वातावरण के साथ अभिव्यक्त करना चाहता है। इसी लिए पाश्चात्य काव्य-शास्त्र में साहित्य भी एक ललित कला है। यही वह पवित्र संगम है जहाँ भाव की गंगा में संगीत की यमुना आकर मिलती है। काव्य में रीति गुण छन्द अलंकार इत्यादि की आवश्यकता का अनुभव यहीं होता है। इन रीतियों का सहारा लेकर ही साहित्य अपनी चेष्टा को सफल बनाता है।

उपर्युक्त चारों आवश्यक-बातों में से सौन्दर्यपूर्ण अभिव्यक्ति साहित्य के प्रकारों में समान रूप से व्याप्त है। शेष तीनों में प्रत्येक इतनी व्यापक है

कि किसी भी एक से प्रभावित हो सकती है। इसीलिए साहित्य में भी ये गुणा-मिश्रित दिखाई देती हैं। नाटक, महाकाव्य, गीतिकाव्य इत्यादि काव्य के विभिन्न रूपों में भेद स्थापित करते अथवा वर्गीकरण का आधार उपस्थित करते समय यह देखना पड़ता है कि उपर्युक्त प्रमुख मनोवृत्तियों में से कौन सी किस विशिष्ट प्रकार के काव्य-सृजन में प्रधानतः सहायक हो रही है, अन्यथा अति व्याप्ति या अव्याप्ति परिलक्षित होती ही है।

काव्य का क्षेत्र

यदि काव्योपयोगी विषयों पर विचार किया जाय तो जीवन में सम्भवतः ऐसी कोई बात नहीं जो काव्य का विषय न बन सके और जैसे जीवन की ये बातें अनेक हैं वैसे ही काव्य के विषय अनेक हैं। इनका व्यापक स्वरूप सम्मुख होने पर काव्य के लिए उपयुक्त विषयों को चुनना अथवा उनका वर्गीकरण करना कठिन कार्य है। तथापि व्यावहारिक उपयोग की दृष्टि से निम्नलिखित पाँच विषय काव्योपयोगी कहे जा सकते हैं१

१ व्यक्ति का पूर्णतः निजी अनुभव जिसमें उसके जीवन की अन्तरंग और बहिरंग व्यक्तिगत अथवा गोपनीय सभी बातें आ जाती हैं। यह पूर्णतः अन्तर्जगत का काव्य है। गीतिकाव्य का प्राण यही है।

२ मानव का मानवता के नाते प्राप्त होने वाला अनुभव। उदाहरणार्थ जीवन-मृत्यु का रहस्य, ईश्वर की सत्ता और आत्म-विधान, पाप और पुण्य इत्यादि ऐसी ही बातें हैं जो सम्पूर्ण मानव-जाति से सम्बद्ध कही जा सकती हैं। यहाँ चिन्ता व्यष्टि की नहीं समष्टि की होती है।

३ व्यक्ति का सब मानव-जाति से सम्बन्ध अथवा अखिल विश्व की सम्पूर्ण समस्याओं एवं क्रियाकलापों के साथ उसका सम्बन्ध।

४ प्रकृति का संसार और हमारा उससे सम्बन्ध।

५. मानव की सौन्दर्याभिव्यक्ति और उसकी वह कलात्मक अभिव्यंजना जो काव्य के विभिन्न रूपों के माध्यम से प्रकट होती है।

---

१ द्रष्टव्य—William Henry Hudson—An Introduction to the Study of Literature' Page 13-14 Second revised edition.

साहित्यकार की विशिष्ट वैयक्तिक अनुभूति एवं अभिव्यञ्जना-शैली-विशेष की दृष्टि से संगीत से समृद्ध विभिन्न प्रकार के गीतिकाव्यों का निर्माण होता है। गीतिकाव्य में तो संगीत अपना विशिष्ट स्थान रखता ही है अन्य प्रकार के काव्यों में भी उसका अभाव नहीं रहता।

प्रतिपाद्य विषय

प्रस्तुत प्रबन्ध की कालगत सीमारेखा संवत् १७०० से १९   तक विस्तृत है। हिन्दी का रीतिकाल इसी युग के साहित्य का इतिहास है। इस काल के काव्य (ब्रजभाषा-पद्य) का जिस संगीत से सम्बन्ध-निदर्शन अभीप्सित है वह सांगीतिक दृष्टि से उत्तर भारतीय संगीत है जो अपने विशेषत्व के कारण दाक्षिणात्य संगीत से पृथक् है। प्रतिपाद्य विषय का सम्बन्ध तत्कालीन किसी विशेष कवि से नहीं प्रत्युत उस युग के काव्य (ब्रजभाषा-पद्य) और संगीत के पारस्परिक सम्बन्ध से है, अतः इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए रीतिकालीन काव्य और संगीत के समन्वित सौन्दर्य का मूल्यांकन कवि-कर्म में संगीत-कला के योग दान एवं उस युग की साहित्यिक और सांगीतिक प्रवृत्तियों के सामंजस्य का अनुशीलन यहाँ आवश्यक हो जाता है।

काव्य और संगीत का यह सम्बन्ध चिरन्तन है अतः प्रतिपाद्य विषय के स्पष्टीकरण के अभिप्राय से यहाँ काव्य और संगीत के अन्योन्याश्रित सम्बन्ध पर विचार कर लेना समीचीन प्रतीत होता है।

काव्य और सगीत का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध

(घ)

संगीत ने मानव जीवन में इतनी व्यापकता से प्रवेश किया है कि मनुष्य जीवन से सम्बन्ध रखने वाली प्राय: प्रत्येक बात से उसका कुछ-न-कुछ सम्बन्ध जुड़ गया है। इधर काव्य भी मानव जीवन की व्याख्या है यदि कुछ अन्तर है तो वह अभिव्यक्ति के माध्यम मात्र का अन्यथा काव्य और संगीत दोनों ही की अभिव्यक्ति समान है।

भारतवर्ष में जातीय जीवन की अभिव्यक्ति कलाओं के द्वारा ही अधिक हुई है। भारत की कलाओं का जीवन से सदैव घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। कवि गायक एवं अन्य कलाकारों ने युग-युग से मानव जीवन की भावनाओं एवं चित्त वृत्तियों का संस्कार किया है अत: व्यक्तिगत और सामाजिक दोनों ही दृष्टियों से संगीत और काव्य का लक्ष्य बहुत कुछ समान हो जाता है।

कविता और संगीत में इतना अधिक सामञ्जस्य है कि अनेक पाश्चात्य विद्वान कविता की परिभाषा उपस्थित करते समय उसकी संगीतात्मकता का भी उल्लेख करना अनिवार्य समझते हैं। उदाहरणार्थ एडगर एलेन पो का कथन है कि संगीत जब आनन्ददायक विचारों से युक्त होता है तब उसे कविता कहते हैं।[१]

१ "Music when combined with a pleasurable idea is poetry music without the idea is simply music the idea without the music is prose from its very definiti
Edgar Allan Poe

An Anthology of Critical Statements page-69

(संगीत का जब किसी प्रीतिकर कल्पना से संयोग होता है त कविता बन जाता है बिना कल्पना का संगीत मात्र संगीत रह जात संगीत रहित कल्पना अपनी स्पष्टता अथवा निश्चितता के कारण गद्य का धारण कर लेती है।)

कारलाइल ने भी कविता को संगीतमय विचार कहा है।१ अस्तु, पाश्चात्य मनीषियों ने भाषा सौन्दर्य-निरूपण, कल्पना, छन्द इत्यादि के साथ संगीत को भी काव्य के तत्त्वों में महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया है।

भारतीय विद्वानों ने यद्यपि स्पष्ट रूप से संगीत का सहारा लेकर कविता की परिभाषा नहीं की तथापि भरत ने 'नाट्यशास्त्र' में दृश्य काव्य के सम्बन्ध में कहा है

"मृदुललित पदार्थं गूढशब्दार्थहीनं
बुधजनसुखयोग्यं बुद्धिमन्नृत्ययोग्यम् ।
बहुरसकृतमार्गं सन्धिसन्धानयुक्तं
भवति जगति योग्यं नाटकं प्रेक्षकाणाम् ॥" २

भामह ने जब शब्दार्थ-युक्त रचना को काव्य स्वीकार करते हुए काव्य के समस्त सौन्दर्य को उसी पर आधृत किया तथा आचार्य कुन्तक ने काव्य-सौन्दर्य के पर्याय रूप में जब वक्रोक्ति सिद्धान्त की स्थापना की तब प्रकारान्तर से उसमें संगी-

---

१ "For my own part, I find considerable meaning in the old vulgar distinction of poetry being metrical having music in it, being a song .. .A musical thought is one spoken by a mind that has penetrated into the inmost heart of the thing; detected the inmost mystery of it. T CARLYLE An Anthology of Critical Statements Page-61

(जहाँ तक मेरा सम्बन्ध है मुझे कविता की इस प्राचीन तथा प्रचलित परिभाषा में विशेष अर्थ दिखायी देता है कि वह छन्दोबद्ध होती है, उसमें संगीत का गुण होता है और वह एक गीत होती है। संगीतात्मक विचार अथवा भावना ऐसे मस्तिष्क से निःसृत होती है जिसने वस्तु के अन्तर तम में प्रविष्ट होकर उसके गूढ़ रहस्य का पता लगा लिया है।)

२ श्री भरतमुनिप्रणीतं 'नाट्यशास्त्रम्' पृष्ठ—२१४ ॥ (११२॥१२१।) चौखम्बा-संस्कृत-सीरिज आफिस बनारस सिटी

(मृदु ललित शब्दार्थ से युक्त, गूढ़ शब्दार्थ से हीन जनसाधारण को सुख देने वाला, बुद्धिमान व्यक्तियों द्वारा किए हुए नृत्य से युक्त, शृङ्गारादि अनेक रसों की योजना से युक्त, सन्धियों के सन्धान से सम्पूर्ण नाटक जगत में दर्शकों के योग्य होता।)

सुन्दर शब्दों का भी स्वागत किया था। उनकी वर्ण-विन्यास-वक्रता अनुप्रास का ही दूसरा नाम है जो वर्णों की उर्मिल आवृत्ति से नाद के अनुरणन द्वारा संगीत-सौन्दर्य का ही द्योतक है। वामन का विशिष्ट पद रचना वाली रीतियों में सम्प्रति प्रतिपादित दस गुणों का तत्व अनुप्रास तथा प्रसाद का गुणवत्ती से सन्निविष्ट हुआ है। वामन की मुख्यता सर्वत्र ही स्पष्ट है किन्तु ध्वनिकाव्य में भी प्रसाद गुण सर्वत्र अनिवार्य ही है। ओज और माधुर्य द्वारा जो रस व्यक्त होता है उसका आधार विशेष रूप से नाद की परुषता और कोमलता है एवं वर्णों का उचित रूप से सामंजस्य की स्वीकृति मात्र है। 'काव्य मीमांसा' के अन्तिम अध्याय में काकु-व्यवस्था के कारण श्लोकों में से प्रयोग के अनुसार पाठ की काव्य-कला में सर्वथा एक सम्पूर्ण स्थान है। विश्वनाथ का 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' कथन के विशिष्ट अंश पर बल देते हुए काव्य के अन्तस्तत्व के महत्व को ही प्रकाश आवश्यक है किन्तु सम्यक् भाव की अभिव्यक्ति के लिए रोचक पद रचना और छन्द के लयात्मक सौन्दर्य की उपेक्षा विश्वनाथ तथा किसी भी आचार्य ने नहीं की। वस्तुतः विभिन्न काव्य शास्त्रियों में न किसी ने कविता के बाह्य स्वरूप पर, न किसी ने अन्तस्तत्व पर विचार कम किया किन्तु न तो देहवादियों द्वारा भाव-सौन्दर्य उपेक्षित हुआ और न आत्मवादियों द्वारा शब्दार्थ का तिरस्कार। कविता के बाह्य स्वरूप का संगीत से क्या सम्बन्ध है तथा उसके अन्तस्तत्व के उत्कर्ष में संगीत का कितना हाथ है यही प्रस्तुत प्रबन्ध की उपस्थापना है और इसी दृष्टि से इस प्रबन्ध में यत्र यथास्थान रीतिकालीन कवियों की कला के पुनराख्यान का प्रयत्न किया गया है।

कविता में संगीत तत्त्व

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि कविता में किसी न किसी रूप में संगीत का तत्त्व अवश्य विद्यमान रहता है। मृदुललित पदावली आन्तरिक संगीत से युक्त अवश्य होती है। विभिन्न ललित कलाओं में से संगीत और काव्य का सम्बन्ध इस कारण भी अधिक गहरा हो जाता है कि इतर कलाएं स्थिर रूप में गहरा आनन्द का उद्रेक करती हैं—उदाहरणार्थ कोई मूर्ति कोई भव्य भवन अथवा कोई चित्र अपनी पूर्णता के पश्चात् स्थिर रूप में हमारे नेत्रों के सम्मुख आता है—किन्तु संगीत और काव्य दोनों ही गतिशील कलाएं हैं और दोनों ही कर्णेन्द्रिय के माध्यम से आनन्दोद्रेक करती हैं। जैसे संगीत के अन्तर्गत गीत वाद्य और नृत्य तीनों का ही समावेश है। इतर नृत्य का विकसित रूप नाटक

ध्वनि और लय का उपयोग कविता और संगीत में समान रूप से होता है। संगीत जिन भावनाओं की सूक्ष्म और निराकार अभिव्यक्ति करता है उन्हीं को कविता साकार रूप प्रदान कर देती है। सूर के अनेक पद अपनी मार्मिक अभिव्यक्ति और कलात्मक शब्द-योजना के कारण तो आह्लादकारी हैं ही उनकी भावानुकूल राग-योजना भी काव्य के भाव-वैभव की समृद्धि में अत्यधिक सहायक हुई है। उदाहरणार्थ निम्नांकित पद द्रष्टव्य हैं

१ हरि परदेस बहुत दिन लाए।
कारी घटा देखि बादर की नैन नीर भरि आए।

भ्रमर-गीत-सार पृष्ठ—११४ तृतीय संस्करण

२ निस दिन बरसत नैन हमारे।
सदा रहति पावस ऋतु हम पर जब तें स्याम सिधारे।

वही पृष्ठ—१२१

३ बरु ये बदराऊ बरसन आए।
अपनी अवधि जानि नंदनंदन गरजि गगन घन छाए।

वही पृष्ठ—१०६

उपर्युक्त पदों के लिए सूर द्वारा मल्हार राग का चयन सोच-समझकर ही हुआ है। इस राग के स्वरों की आर्द्रता मसृणता सुकुमारता व्याकुलता और वेदना में डूब कर सूर की भावाभिव्यक्ति द्विगुणित रूप में प्रभावशालिनी हो उठी है।

ऐसी परिस्थिति में पाठक को काव्य द्वारा जो आनंदानुभूति होती है उसमें कविता के साथ-साथ संगीत का भी बहुत कुछ हाथ रहता है। कविता जब तक गायी नहीं जाती तब तक वह अपना पूर्ण प्रभाव नहीं डाल पाती और संगीत भी जब तक गीत से युक्त नहीं होता तब तक पूर्णतः प्रभावोत्पादक नहीं बनता। ताल और स्वर के ढाँचे में ढलकर जब कविता के शब्द आगे बढ़ने लगते हैं तब प्रत्येक पंक्ति में जहाँ एक-एक स्वर मार्मिक संकेत उपस्थित करता है वहाँ उसी के साथ प्रयुक्त होने वाला एक-एक शब्द उन संकेतों को मार्मिक स्पष्टता भी प्रदान करने लगता है।

हिन्दी-साहित्य के प्रत्येक युग में जिन विशिष्ट प्रवृत्तियों ने काव्य रचना को सौष्ठव प्रदान किया उन्हीं के अनुरूप संगीत भी साहित्य के साथ अपना अबाध सम्बन्ध स्थापित किये हुए बढ़ता चला गया। इसका कारण यही है कि जिस प्रकार संगीत रागात्मक अनुभूति की एक ऐसी अभिव्यक्ति है जिसमें चित्त रंजन

की क्षमता होती है उसी प्रकार कविता भी जीवन की रागात्मक मनोवृत्ति एवं अन्तर्दर्शन की ऐसी कलात्मक अभिव्यक्ति है जो जन-मानस के साथ हमारे रागात्मक सम्बन्ध को अक्षुण्ण ही नहीं रखती अपितु अपने संवेदनात्मक कोमल स्पर्श से हृदय-वीणा को झंकृत करने की भी अपूर्व क्षमता रखती है। दोनों ही सहृदय संवेद्य हैं और दोनों ही अपने सूक्ष्म बिम्ब रूप संविधानों में आनन्दप्रद अतः कविता शब्दों में संगीत और संगीत स्वरों में कविता है। यदि दोनों में कोई अन्तर है तो वह मूर्त्ताधार की सूक्ष्मता क्षेत्र-विस्तार और प्रभावोत्पादकता का ही है।

मूर्त्ताधार

जहाँ तक मूर्त्ताधार का प्रश्न है, काव्य की अभिव्यक्ति का माध्यम शब्द है और संगीत का नाद (स्वर)। अपने पारिभाषिक अर्थ में नाद वह ध्वनि है जो अर्थ से रहित होकर भी अपनी सहज कोमलता स्निग्धता मधुरता सुकुमारता और ओज से मानव-हृदय के उल्लास-विषाद हर्ष-शोक उत्साह-दैन्य इत्यादि की सक्षम किन्तु सरल और सूक्ष्म अभिव्यक्ति में समर्थ है।[1] स्पष्ट ही संगीत का मूर्त्ताधार सूक्ष्म है निश्चय ही काव्य से अधिक सूक्ष्म। सार्थक शब्दों का निर्माण वर्णों से होता है जिनकी संख्या संगीत के मूर्त्ताधार नाद से कहीं अधिक है। मूर्त्ताधार की इस सूक्ष्मता के कारण संगीतात्मक अनुभूति काव्यानुभूति से सूक्ष्मतर होती है, अतः उसके रसास्वादन के हेतु अधिक सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि की आवश्यकता अनिवार्य है।

क्षेत्र के विचार से काव्य संगीत की अपेक्षा विस्तृत है। काव्य जहाँ सभी भावनाओं की सफल अभिव्यंजना में सक्षम है वहाँ संगीत प्रधानतः वीर करुण शान्त और शृंगारिक भावनाओं की ही सफल अभिव्यक्ति में समर्थ है। किन्तु अपने सीमित क्षेत्र में संगीत अजेय है अपराजित है। व्यापक प्रभावोत्पादकता की दृष्टि से काव्य-कला भी उसकी समता नहीं कर सकती फिर इतर ललित कलाओं की तो बात ही क्या। काव्य-कला का प्रभाव मानव—और वह भी सहृदय मानव तक ही सीमित है किन्तु संगीत की शक्ति [illegible] पत्थर तक पिघल जाने की बात यदि न भी मानी जाय तब भी संगीत का प्रभाव पशु पक्षियों तक

---

1 योऽयं ध्वनिविशेषस्तु स्वरवर्णविभूषितः
रंजको जनचित्तानां स रागः कथितो बुधैः ॥
द्रष्टव्य—आचार्य भातखण्डे कृत 'हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति
क्रमिक पुस्तक मालिका' भाग—२ पृष्ठ—१ तृतीय संस्करण

पर बराबर देखा जा सकता है।[2] इस विवेचन से स्पष्ट है कि यदि कुछ गुणों में काव्य संगीत से श्रेष्ठ है, तो कुछ में संगीत भी काव्य की अपेक्षा उच्च स्थान ग्रहण किये हुए है। जो विशेषताएं संगीत में हैं वे काव्य में नहीं और जो काव्य में हैं वे संगीत में नहीं। इसीलिए काव्य और संगीत एक दूसरे की पूरक कलाएं हैं। संगीत के बिना काव्य अधूरा है और काव्य के अभाव में संगीत।

संगीत एवं काव्य का समन्वय

संगीत और काव्य की गंगा-यमुना का संगम बहुत बाद में हुआ। पिछड़ी हुई असभ्य जातियों के संगीत और कविता के अध्ययन से इन दोनों के प्राचीन युगीन स्वरूप की कुछ कल्पना अवश्य की जा सकती है किन्तु बात इतनी पुरानी है कि इसके प्रारम्भिक स्वरूप के सम्बन्ध में निश्चयपूर्वक आज कुछ भी नहीं कहा जा सकता। तब से अब तक इन जातियों के संगीत और काव्य में पर्याप्त परिवर्तन हो जाना स्वाभाविक है अतः बिखरे हुए सूत्रों के आधार पर कतिपय मान्यताएँ स्थापित करने के अतिरिक्त काल के बीच अन्तराल का व्यवधान हमारे लिए अन्य कोई मार्ग छोड़ता ही नहीं। यह वह युग था जब मानव सामाजिकता के क्षेत्र में चलना सीख रहा था अतः सामाजिक एवं वैयक्तिक अनुभूतियों के बीच पार्थक्य की रेखाएँ स्पष्ट नहीं हुई थीं अभिव्यक्ति मचल रही थी आनन्द की भी और विषाद की भी। ऐसी परिस्थितियों में यदि कविता अनजाने ही आँखों से उमड़कर बह उठी हो तो इसमें कोई अचरज की बात नहीं।

आँखों से उमड़कर चुपचाप बह चलने वाली इस कविता का आह से उद्भूत गान के साथ गीत की वेदी के सम्मुख गठबन्धन हो गया। संगीत के स्वरों को संकोच और विस्तार के लिए आधार प्राप्त हुआ और कविता के शब्द संगीत के नादात्मक सौन्दर्य से अपना शृंगार करके झूम उठे।

---

२ "संगीत की विशेषता इस बात में है कि उसका प्रभाव बड़ा व्यापक है और वह अनादि काल से मनुष्य मात्र पर पड़ता चला आ रहा है। बालकों से लेकर सभ्यातिसभ्य मनुष्य तक उसके प्रभाव से वशीभूत हो सकते हैं। मनुष्यों की बात छोड़िये पशु-पक्षी तक उसका अनुभावन मानते हैं।

डा० श्यामसुन्दरदास कृत हिन्दी भाषा और साहित्य
पृष्ठ २११, प्रथम संस्करण

अभिव्यक्ति का संगीतात्मक रूप स्वाभाविक भी है और अतीव सरस भी। स्वरों का उन्नयन पशु-पक्षियों की दुःखसुखात्मक अभिव्यक्ति में भी विद्यमान रहता है। कोयल के पंचमस्वर में कूकने का जो कारण कहा जाता है, उसका आधार यही तथ्य है। अतः कोई कारण नहीं कि आदिम युग के मानव की रागात्मक अनुभूति भी स्वरों के उन्नयन द्वारा अभिव्यक्त न हुई हो। उस आदिम अवस्था में भाषा में भावाभिव्यक्ति की समुचित शक्ति की कल्पना नहीं की जा सकती। स्वरों के उन्नयन-युक्त ध्वनि से संगीत विकसित हुआ। वाणी में जैसे जैसे शक्ति आती गयी वैसे वैसे भाषा भी संगीत की ध्वनि के साथ जुड़ने लगी। प्रसन्न और बिछुड़ी हुई कामिनियों का रोना भी गाना है और उल्लास भी। क्रमशः भाषा पुष्ट और विकसित हुई, इधर नादात्मक अभिव्यक्ति का भी और विकास हुआ। इस प्रकार संगीत और कविता के अंकुर फूटने लगे। धीरे-धीरे लोक गीतों के सृजन के अनुकूल परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गयी। यहां तक साथ-साथ उस स्थिति की सृष्टि हो गयी जिसमें शास्त्रीय संगीत और कविता को स्वतन्त्र-निरपेक्ष विकास का अवसर प्राप्त हुआ। विकास के चरण ज्यों-ज्यों बढ़ते गये संगीत और कविता का स्वतन्त्र रूप भी अधिकाधिक स्थिर और स्पष्ट होता गया और एक दिन वह भी आया जब संगीत और कविता ने अपनी मूल सम प्रकृति को अविकल किन्तु प्रच्छन्न रखते हुए अपने-अपने स्वतन्त्र व्यक्तित्व की महत्ता भी घोषित कर दी।

प्रकृति में समानता

काव्य और संगीत की यह स्वभावगत एकरूपता आज भी ज्यों-की-त्यों है। यह बात दूसरी है कि कहीं कविता के प्राधान्य से संगीत तत्त्व तो कहीं संगीत के आग्रह से कविता के वैयक्तिक तत्त्वों में तिरोभाव दृष्टिगोचर होने लगता है किन्तु काव्य और संगीत का सम्बन्ध अन्योन्याश्रित अवश्य है। पाश्चात्य और भारतीय विद्वानों ने कविता की परिभाषा या व्याख्या उपस्थित करते समय इसी लिए किसी न किसी रूप में उसका संगीत से सम्बन्ध स्वीकार किया है[१]। 'जब

१ (अ) देखिए प्रस्तुत प्रबन्ध के पृष्ठ १७ २८ और १९

(आ) पश्चिमीय समीक्षकों ने पद्य (संगीत) को अभिन्न रूप से कविता का अंग माना है। यह उनकी व्याख्याओं से प्रकट होता है। जानसन का मत है—'कविता पद्यमय निबन्ध है। कारलाइल का कहना है— कविता संगीतमय विचार है। मारलाय कहता है—

वीचि' अथवा 'पार्वती—परमेश्वर' के समान कहने के लिए भिन्न किन्तु वस्तुतः अभिन्न 'गिरा—अर्थ' से समवेत काव्य यदि रमणीयार्थ का प्रतिपादक है तो उसके शब्दों की नादात्मक रमणीयता अथवा आन्तरिक संगीत के सम्बन्ध में भला क्या सन्देह हो सकता है!

काव्य के विभिन्न रूपों में से एक विशिष्ट स्वरूप 'गीतिकाव्य' भी है। वैयक्तिक दुःख-सुख की अनुभूति के क्षणों की तीव्र आवेग-क्रान्ति से युक्त ऐसा काव्य जो भावों के तारल्य भाषा के लालित्य कल्पना के सौकुमार्य एवं संगीत के माधुर्य से ओतप्रोत होता है गीतिकाव्य कहलाता है। इसमें पद्य रचना का संगीतमय होना आवश्यक है। संगीत इसकी अनिवार्य आवश्यकता है किन्तु संगीत का आतिशय्य मात्र गायन (Song) मात्र रह जाता है। उसे गीतिकाव्य नहीं कहा जा सकता। गीतिकाव्य वैयक्तिक विषयि प्रधान अथवा (Subjective) स्वानुभूति निरूपिणी कविता है अतः साहस के साथ इसी को वास्तविक कविता की विशेषता मान लेना अनुचित नहीं है।

अध्ययन की सुविधा पर आधृत काव्य के विषय प्रधान भेद के अन्तर्गत नाटक उपन्यास महाकाव्य खण्डकाव्य इत्यादि का समावेश होता है। इस प्रकार की कविता में अन्तर्जगत की अपेक्षा किसी बाह्य विषय की अभिव्यक्ति प्रमुख होती है। इसी कारण इसे बाह्यार्थ निरूपिणी (Objective) कविता कहा जाता है। एकान्त वैयक्तिक रागात्मक अनुभूति की अभिव्यंजना का अभाव यद्यपि इस प्रकार की कविता को गीतिकाव्य से पृथक कर देता है किन्तु ऐसी कविता में भी भावों का माधुर्य प्रवाहिष्णुता और मार्दव संगीतमयता को लिये रहता है।

सम्पूर्ण संसार में जितना भी काव्य-साहित्य उपलब्ध है उसका अधिकांश छन्दों में ही लिखा गया है। छन्दों का संगीतशास्त्र से अटूट सम्बन्ध है। संगीत लय मात्रा और ताल का विधान छन्दों में सम्पूर्ण रूप से व्याप्त रहता है।

कविता मनोवेगमय और संगीतमय भाषा में मानव अंतःकरण की मूर्त और कलात्मक व्यंजना करती है। ये सब लक्षण प्रकट करते हैं कि कविता और पद्य (संगीत) का विशेष घनिष्ठ सम्बन्ध माना गया है।"

डा० श्यामसुन्दरदास कृत 'साहित्यालोचन' पृष्ठ-११ संस्करण —१९११ (८वीं आवृत्ति)

मात्राओं की गणना से। संगीत में जिस प्रकार विभिन्न तालों का निर्माण और प्रत्येक ताल के अवयवों का विभाजन होता है बहुत कुछ उसी प्रकार कविता में छन्दों का विधान होता है। संगीत में जो लय (गति) है उसकी गणना मात्राओं से होती है। इसी प्रकार छन्द में भी मात्राओं द्वारा उसकी गति का बोध होता है। जो छन्द मात्रिक नहीं वर्णिक होते हैं उनमें भी गुरु लघु और वर्णों का क्रम एक निश्चित लय के अनुसार होता है। कविता और संगीत का यह घनिष्ठ सम्बन्ध सर्वथा स्पष्ट है। विभिन्न छन्दों में लय के विधान के कारण अभिव्यक्ति की विशिष्ट क्षमता आ जाती है।[1] पञ्चचामर छन्द ओजस्वी काव्य और भावों की अभिव्यक्ति में अधिक सहायक होता है। शिखरिणी कोमल काव्य करुण भावों के अधिक अनुकूल है। 'ओज' और [illegible] के इसीलिए भिन्न भिन्न शिल्प-विधान हैं और उर्दू में भी इसी कारण गजल मर्सिया इत्यादि में भावाभिव्यक्ति का रूप बदल जाता है।

सिद्धान्ततः कविता के लिए छन्द का बन्धन अनिवार्य नहीं है किन्तु इतना अवश्य मानना पड़ेगा कि छन्दहीन कविता अपने आकर्षण को बहुत कुछ खो देती है। छन्द का बन्धन एक ओर यदि भावाभिव्यक्ति में थोड़ी सी कठिनाई उपस्थित करता है तो दूसरी ओर कविता में संगीत का सुन्दर गुण उत्पन्न कर उसे अधिक प्रभावशालिनी भी बना देता है। कवियों को इसीलिए रसानुकूल छन्द-योजना की अपेक्षा बनी रहती है और यही संगीतात्मक लयात्मकता श्रोताओं या पाठकों के मन की प्राण-शक्ति तक पहुँचाने में सहायक होती है। छन्दों के मधुर बन्धन के अभाव में प्रायः प्रभाव की तीव्रता छिन्न-भिन्न हो जाती है। जैसे

"मैं नीर भरी दुख की बदली
उमड़ी कल थी मिट आज चली"।२ (महादेवी)

जैसी पंक्तियों में लयात्मक आकर्षण की जो क्षमता विद्यमान है वह

"जूही की कली
विजन-वन-वल्लरी पर"।३ (निराला)

---

१ राजशेखर कृत 'काव्य मीमांसा' के पंचम अध्याय में व्याकरण कोश और अलंकार के अतिरिक्त काव्योपयोगी मुख्य विद्याओं में छन्द भी परिगणित है।

२ 'सान्ध्य गीत' पृष्ठ—४८ चतुर्थ संस्करण

३ 'परिमल' पृष्ठ—१६१ चतुर्थावृत्ति

वैसी छन्द-बन्धन से मुक्त कविता की पंक्तियों में नहीं है। तुक और चरण-सन्तुलन के अभाव में वहाँ आन्तरिक संगीत बहुत कुछ निकल गया है।

छन्दहीन कविताओं पर भी यदि विचार करें तो उनमें भी एक प्रवाह, एक गति होती है और यह गति संगीत की लय के सिवा और कुछ नहीं है। छन्दहीन कविता में चाहे इस लय की माप का निश्चित विधान न हो किन्तु संगीतात्मक प्रवाह अवश्य रहता है। कविता की तो बात ही क्या है कुशल और प्रौढ़ गद्य-लेखकों के गद्य में भी संगीतात्मक प्रवाह बना रहता है, क्षेमेन्द्र ने भी इसीलिए कवि के लिए छन्द-योजना को रस और वर्णनीय विषय के अनुकूल रखना उचित ठहराया है।१ करुणा और वेदना की अभिव्यक्ति वियोगिनी छन्द में कैसी सुस्पष्ट होती है यह काव्य-मर्मज्ञों से छिपा नहीं है। इसी कारण छन्द भी काव्य का एक संगीतपरक अंग है। वस्तुतः काव्य का सम्बन्ध चित्रकला और संगीत दोनों से ही है। नाना प्रकार के दृश्य उपस्थित करके यदि कविता शब्द-चित्र उपस्थित करती हुई सहृदय व्यक्ति को चित्र-जगत में खींच ले जाती है, तो छन्द अपने प्रवाह के द्वारा संगीतात्मक अनुभूति को उद्दीप्त करके मनोरम ध्वनिलोक की सृष्टि कर देता है।

मात्रिक छन्दों के आग्रह से हिन्दी-कविता में अन्त्यानुप्रास अथवा तुक का प्रयोग भी होता आया है। पन्त के शब्दों में "तुक राग का हृदय है, जहाँ उसके प्राणों का स्पन्दन विशेष रूप से सुनायी पड़ता है राग की समस्त छोटी बड़ी नाड़ियाँ मानो अन्त्यानुप्रास के नाड़ी-चक्र में केन्द्रित रहती हैं जहाँ से नवीन बल तथा शुद्ध रक्त ग्रहण कर वे छन्द के शरीर में स्फूर्ति संचार करती रहती हैं। जो स्थान ताल में सम का है वही स्थान छन्द में तुक का। यहाँ पर राग अपनी की सरल तरल ऋजु, कुंचित 'चरणों' में घूम फिर कर विराम ग्रहण करता है। उसका सिर जैसे अपनी ही स्पष्टता में हिल उठता है। जिस प्रकार अपने आरोह अवरोह में राग वादी स्वर पर बार-बार ठहरकर अपना रूप विशेष व्यक्त करता है उसी प्रकार वाणी का राग भी तुक की पुनरावृत्ति से स्पष्ट तथा

---

१ "काव्ये रसानुसारेण वर्णनानुगुणेन च।
कुर्वीत सर्ववृत्तानां विनियोगं विभागवित्॥"
काव्य में रस के अनुसार और वर्णनीय विषय के अनुसार सब छन्दों की रचना करनी चाहिए।'
'काव्यमाला' सिरीज़ भाग—२ पण्डित दुर्गाप्रसाद द्वारा सम्पादित क्षेमेन्द्र का 'सुवृत्ततिलकम्' पृष्ठ—४६ श्लोक संख्या—१

परिपुष्ट होकर ससमृद्ध हो जाता है।"[१]

छन्दों के विधान से कविता में लय का एक बँधा हुआ ढाँचा तैयार हो जाता है। वर्णिक छन्दों में वर्णों की योजना से और मात्रिक छन्दों में मात्राओं की समता से उसका आकार निश्चित होता है। छन्द के इस विधान के पश्चात् उसके प्रत्येक चरण में लय और स्वर के आरोहावरोह के साथ शब्दों के छोटे-छोटे साँचे व्यवस्थित रूप में आकर जिस प्रवाह का सृजन करते हैं वह निश्चयात्मक रूप से कविता का आन्तरिक संगीतात्मक प्रवाह ही है। अतः छन्द के विधान का बहिष्कार वस्तुतः नाद-सौन्दर्य की प्रेषणीयता का परित्याग है। स्वरों को अपने प्रवाह के लिए लय की अनिवार्य आवश्यकता होती है। संगीत की लय, ताल और काव्य के छन्द में कोई तात्त्विक अन्तर नहीं है। अर्थव्यंजन करने वाले शब्दों की रमणीयता का रहस्य भी उनमें निहित आन्तरिक सौन्दर्य पर ही आधृत रहता है।[२] प्रतिभाशाली कवि की रचना में वृत्ति, छन्द और रसों की अनुकूलता के साथ शब्दों के माधुर्य, ओज और प्रसाद का समन्वय काव्य की भाषा का शृंगार करता है। कवि के लिए केवल शब्दों के अनौचित्य से बचा रहना ही आवश्यक नहीं है; कवि द्वारा प्रयुक्त शब्द जब तक स्वतः आन्तरिक संगीत से मंडित नहीं हो जाते तब तक वे अपनी रमणीयता में अपना अर्थ अपने आप प्रकट करने में समर्थ नहीं हो पाते।

शब्द संगीत

वस्तुतः काव्य मात्र (कविता) वाणी का गेय विषय है। कविता के पढ़ने का ढंग भी अपना एक स्वतन्त्र स्थान रखता है। राजशेखर ने 'काव्य-मीमांसा

---

१ 'पल्लव' की भूमिका, श्री सुमित्रानन्दन पन्त, पृष्ठ—२० प्रथम संस्करण।

२ 'Tis not enouge no harshness gives offence;
The Sound must seem an Echo to the sense."

—A. Pope

Essay on Criticism Pitt Press Series Edited by Alfred S West, M A., Page 72

"इतना ही पर्याप्त नहीं कि कर्कशता से विराग की उत्पत्ति नहीं होती। ध्वनि ऐसी होनी चाहिए जो आन्तरिक भावना की प्रतिध्वनि जान पड़े।"

के सन्दर्भ में अध्याय में वर्णों के समुचित रूप से उच्चारण, अर्थ के अनुरोध से विराम अथवा यति, गम्भीरता, सस्वरता, ऊँचे-नीचे स्वर का भली-भाँति निर्वाह और संयुक्ताक्षरों के पढ़ने में लाघव को कविता-पाठ के आवश्यक गुणों के रूप में स्वीकार किया है। कविता का तो निर्माण ही गुनगुना कर होता है और जब तक कवि अपनी कविता के रसानुकूल भावों में तल्लीन होकर उसे सस्वर नहीं पढ़ता तब तक वह श्रोताओं के हृदय में तात्कालिक भावों की स्फूर्ति और उमंग का उद्रेक नहीं कर पाता। साहित्याचार्यों ने काव्य के श्रव्य और दृश्य दो भेद माने हैं किन्तु जब से मुद्रण-कला का प्रचार और प्रसार हुआ तभी से कविता भी एक पाठ्य विषय ही बन गयी है, गेय और श्रव्य उतनी नहीं रही। अब तो श्रव्य भी पाठ्य है और दृश्य भी पाठ्य किन्तु सस्वर कविता-पाठ का महत्त्व आज भी अक्षुण्ण है।

कविता में शब्दों का संगीत भी भावोत्कर्ष में अतीव सहायक सिद्ध होता है। भाषा के बाह्य स्वरूप का अलंकरण शब्दों और शब्दालंकारों से हुआ करता है। शब्दार्थ समझने से पहले उनका उच्चारण ही सुनायी देता है। कवि जिस प्रकार अपने अनुपम शब्द-चित्रों द्वारा मानस नेत्रों के सम्मुख कोई दृश्य उपस्थित करने में सहायक होता है उसी प्रकार अवसर के अनुरूप शब्द-योजना द्वारा कानों में ध्वनि की गूँज भी उत्पन्न कर देता है। आन्तरिक संगीत से ओत-प्रोत ऐसे शब्दों का उच्चारण ही अभिव्यक्ति की मार्मिकता को स्पष्ट कर देता है। शब्दों की यह नादात्मक विशेषता संगीत—जिसका मूलाधार नाद है—से अभिन्न है। दो चार उदाहरण इस कथन की पुष्टि के लिए पर्याप्त होंगे।

तुलसी ने विशाल शिव धनुष भंग होने का वर्णन इन शब्दों में किया है

"डिगति उर्वि अति गुर्वि सर्व पब्बै समुद्र सर।
ब्याल बधिर तेहि काल, बिकल दिगपाल चराचर॥
दिग्गयंद लरखरत, परत दसकंठ मुक्ख भर।
सुर बिमान हिमभानु भानु संघटित परस्पर॥
चौंके बिरंचि संकर सहित कोल कमठ अहि कलमल्यो।
ब्रह्मंड खंड कियो चंड धुनि जबहिं राम सिवधनु दल्यो॥ १

समुचित शब्द-योजना द्वारा यहाँ ध्वनि की कठोरता मूर्तिमती हो उठी है।

---

१ संक्षिप्त कवितावली रामायण पृष्ठ—१२ पद—११ प्रथमावृत्ति सम्पादक—श्री रामनिवास अग्रवाल

प्रसन्न वातावरण की गम्भीरता जैसे वाणी में गूँज उठती है। ब्रह्माण्ड खण्ड खण्ड इत्यादि शब्दों तक पहुँचते-पहुँचते तो ऐसा प्रतीत होता है मानो वह विशाल शिव-धनुष पास ही कहीं कड़कड़ा कर टूट गया हो।

किंकिणी और नूपुरों की मादक रुनझुन तुलसी की ही इस शब्द-योजना में मुखर है

"कंकन किंकिनि-नूपुर-धुनि सुनि कहत लखन सन राम हृदय गुनि"।१

सूर के शब्द-संगीत के इन्द्रजाल से व्रजभूमि पर होने वाली प्रलयकारिणी जलवृष्टि भी साकार हो उठती है। मेघों का गर्जन बिजली की कड़क वायु का वेग सभी कुछ स्पष्ट सुना जा सकता है

'बरसत मेघवर्त धरनी पर।
मुसलधार सलिल बरष्यौ है, बूँद न आवत भू पर॥
बरसत गरजि-गरजि घन चौंकति, करत शब्द आघात।
संघातु न ... मन करत विरत उत्पात॥२

और भयंकर दावानल के कारण वन में बाँस कैसे चटचटा कर टूट रहे हैं। भीषण अग्नि ज्वालाओं के कारण कुश काँस का जलना और अनेक प्रकार के वृक्षों का टूट-टूट कर गिरना जैसे कान फोड़ डाल रहा है

महरात झहरात दावा (अनल) आयौ।

घेरि चहूँ ओर करि सोर अंदोर बन धरनि आकास चहुँ पास छायौ।
बरत बन-बाँस थरहरत कुस काँस जरि, उड़त है भाँस अति प्रबल धायौ।
झपटि झपटत लपट, फूल-फल चट-चटकि फटत लटलटकि द्रुम द्रुम नवायौ।३

नादात्मक मूर्तिमत्ता एवं प्रयोगवैचित्र्य के अनुपम कलाकार घनानन्द की नाद-व्यंजना भी बड़ी अनूठी है। इनके विरह की यह गंभीर व्यंजना सहृदय संवेद्य है

---

१ 'रामचरित मानस' बाल काण्ड, दोहा—२११ चौपाई—१

२ 'सूरसागर' पृष्ठ—२६४ २६५, दशम स्कंध पद संख्या।२०७।१४६३। नागरी प्रचारिणी सभा

३ 'सूरसागर', पृष्ठ—२०९, दशम स्कंध पद संख्या।१६६।१२१४। नागरी प्रचारिणी सभा

"ए रे बीर पौन तेरो सबै ओर गौन बारी
　　तो सो और कौन मन ढरकौंही बानि दै।
जगत के प्रान ओछे बड़े सो समान घन
　　आनंद निधान सुखदान दुखियानि दै।
जान उजियारे गुन-भारे अंत मोही प्यारे
　　अब ह्वै अमोही बैठे पीठि पहिचानि दै।
बिरह-बिथाहि मूरि आँखिन मैं राखौं पूरि,
　　धूरि तिनि पायनि की हा हा नैकु आनि दै" ।१

रेखांकित पंक्ति और शब्दों का मुखर जैसा गम्भीर बोध घनानन्द के उस गम्भीर विरह का परिचायक है जिसने ब्रजनाथ के मुँह से कभी यह कहलवा दिया था कि

'समुझै कविता घनआनन्द की
हिय नैनन नेह की पीर तकी" ।२

शब्दों के समुचित उच्चारण का ज्ञान जैसा संगीतज्ञ को होता है वैसा प्रायः इतर कलाकारों को नहीं हुआ करता। संगीतज्ञ का काम ही यह है कि वह नाद के माध्यम से भावों की समुचित अभिव्यक्ति करे, किन्तु जो व्यक्ति संगीत का अध्ययन करके भी इस विशेषता पर अधिकार प्राप्त नहीं कर पाता वह संगीत सीखकर भी सच्चा संगीतज्ञ नहीं और जो व्यक्ति संगीत नहीं जानता किन्तु शब्दों की भावात्मकता को पहचानता है एवं तदनुकूल उनका उच्चारण कर सकता है उसने संगीत न सीखने पर भी उसकी आत्मा के दर्शन कर लिये हैं। उपर्युक्त उद्धृत कविताओं को पूर्णतः संगीतबद्ध करके गाया जा सकता है किन्तु यदि इस बात को बिलकुल छोड़कर केवल शब्दों की भावात्मक प्रकृति को समझकर कविता पढ़ते समय उनका समुचित उच्चारण मात्र किया जाय तब भी कविता का एक-एक शब्द जैसे अपनी सम्पूर्ण आत्मा के साथ बोल उठेगा। इस प्रकार के भावात्मक उच्चारण से रहित होने पर इन कविताओं का कितना अधिक आकर्षण लुप्त हो जायगा यह एक अनुभूत वास्तविकता है।

---

१ 'घनआनंद' पृष्ठ-८४ सम्पादक पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र संस्करण २००९

२ घनानन्द की कविता के स्तुतिकार ब्रजनाथ—
घनानन्द की प्रशस्ति पद-१ घनआनंद (पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र)

यहाँ वाणी का अलंकरण ही भावोद्दीपन का रहस्य है। भावोद्दीप्ति के कारण वाणी का स्वयमेव उद्दीप्त हो जाना सहज स्वाभाविक है। संगीत और कविता में यह तथ्य समान रूप से चरितार्थ होता है। भाषा के सौष्ठव एवं शब्दालंकारों के सौन्दर्य का बहुत कुछ रहस्य इसी तथ्य में निहित है। संगीत और काव्य के इस अन्योन्याश्रित सम्बन्ध के कारण ज्ञान-सम्पन्न कवि संगीत के प्रति आकृष्ट हुआ करता है। गायक को अपेक्षा होती है एक सिद्ध कवीश्वर की जिसकी रचना का आश्रय लेकर वह अपने स्वरों का सर्वांग विस्तार, आरोहण अवरोहण कर सके अपनी तान मींड़ और मुर्कियों को अनिर्वचनीयता प्रदान कर सके तथा अपने स्वाभाविक तान संगीत को कुछ घनीभूत कर सके और कवि को अपेक्षा होती है एक ऐसे सफल गायक की जो उसके एक-एक शब्द की आत्मा को मोहित करके सहृदय-संवेद्य बना सके।

अस्तु कविता और संगीत का पारस्परिक आदान प्रदान बहुत अधिक है। संगीत और लय की रमणीयता के अभाव में कविता अपने वास्तविक गौरव से वंचित रहती है।[1] फिर भी अपने स्वतन्त्र रूप में संगीत और वस्तु है और कविता और। शब्दविहीन होकर भी संगीत भावाभिव्यक्ति में सफल होता है। गायकों में प्रचलित तराना-शैली इसका स्पष्ट प्रमाण है। अर्थ-शून्य 'तोम् तननन्,

---

१ (क) "Music resembles Poetry in each
Are nameless graces which no methods teach
and which a master-hand alone can reach
—A Pope 'Essay on Criticism Pitt Press Series
Edited by Alfred S West, M. A. page 65

"संगीत काव्य सदृश है। दोनों नामहीन कमनीयताओं से ओत-प्रोत हैं जिन्हें उत्पन्न करने की शिक्षा कोई भी प्रणाली नहीं देती, उनका विधान तो चतुर शिल्पी ही कर सकता है।"

(ख) काव्य-कला संगीत सरिस जानो मन माहीं,
दोऊ में सौंदर्य छिपे जे बरनत नाहीं
जिन्हें सिखावनजोग सूत्र कोऊ कहुं नाहीं
केवल परम प्रवीनन के आवत कर माहीं ।।"

बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर' कृत समालोचनादर्श पृष्ठ १०, ११ (संवत् १९९० में काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित 'रत्नाकर' नामक ग्रन्थ में संकलित)

'देरेना' जैसे निरर्थक शब्दों से भी संगीत-द्वारा श्रोताओं में भावोद्दीपन हो सकता है किन्तु संगीत का यह अमूर्त रूप है। भावपूर्ण शब्द-योजना के अभाव में यह संगीत उसी प्रकार अपनी प्रभावोत्पादकता में अधूरा रह जाता है जिस प्रकार संगीत के अभाव में काव्य। काव्य के अन्तःकरण में जब संगीत स्पन्दन करने लगता है तब काव्य में जीवनी-शक्ति आ जाती है। भावपूर्ण शब्द-योजना मानो इस निराकार संगीत को एक मूर्त स्वरूप प्रदान करके अपनी सम्पूर्ण विशेषताओं के साथ उसे साकार कर देती है। संगीत और काव्य का यह पारस्परिक आदान प्रदान अनिवार्य भव्य है। इसीलिए काव्य और संगीत एक दूसरे के अनुपूरक हैं अतः जहाँ एक की प्रतिष्ठा होती है वहाँ दूसरा प्रायः अपने आप आ उपस्थित होता है।

औचित्य का आग्रह

काव्य और संगीत के इस समन्वय में औचित्य का ध्यान अत्यावश्यक है। काव्य में अर्थ की प्रधानता होती है अतः कवि का कौशल इस बात पर निर्भर रहता है कि संगीत का समावेश वहीं तक करे जहाँ तक काव्य के अर्थ-ग्रहण में श्रोताओं के लिए बाधा उपस्थित न हो। काव्य के क्षेत्र में संगीत केवल एक सहायक का ही पद प्राप्त कर सकता है इससे अधिक नहीं। वह काव्य के शिल्प विधान को रमणीय बना सकता है किन्तु काव्य के गौरव-पूर्ण पद को स्वयं ग्रहण नहीं कर सकता। काव्य में औचित्य से अधिक संगीत का समावेश श्लाघ्य नहीं है। जब कोई भावपूर्ण पद संगीत में कला-पक्ष को ही सब कुछ समझने वाले किसी संगीतज्ञ के हाथों पड़ जाता है तब गायक की तानों बोलतानों और आड़ कुआड़ की लय में उस सुन्दर पद की अच्छी-खासी मिट्टी पलीद हो जाती है। तात्पर्य यह कि काव्य और संगीत का पारस्परिक योग जब उचित मात्रा में होता है तभी वह सहृदयों के लिए आनन्ददायक बनता है।

परिच्छेद-२

भारतीय संगीत

भारतीय संगीत

परिच्छेद २

(क)

संगीत-शास्त्र की दृष्टि से गीत, वाद्य एवं नृत्य तीनों का समावेश संगीत शब्द के अन्तर्गत हो जाता है। व्यावहारिक दृष्टि से यद्यपि ये तीनों कलाएँ स्वतन्त्र हैं परन्तु कण्ठ-संगीत का प्राधान्य और उसका नृत्य तथा वाद्य-संगीत पर प्रभाव असन्दिग्ध है। वाद्ययन्त्र या तो गीत के साथ बजाये जाते हैं अथवा स्वतन्त्र रूप से किसी राग को प्रस्तुत करते हैं। इधर गीत-वाद्य-युक्त नृत्य में पद-संचरण की मोहकता प्रायः प्रमुख लयात्मकता पर आश्रित रहती है, अतः संगीत-शास्त्रियों ने संगीत शब्द के व्यापक अर्थ में वाद्य और नृत्य को भी अन्तर्भुक्त कर लिया है।१

प्रस्तुत प्रबन्ध में संगीत शब्द को कुछ संकुचित अर्थ में ग्रहण किया गया है। हिन्दी-काव्य पर प्रधानतः कण्ठ-संगीत का ही प्रभाव पड़ा है और उसी का परिशीलन इस प्रबन्ध का उद्देश्य भी है अतः इस प्रबन्ध में संगीत शब्द मुख्यतः कण्ठ संगीत के अर्थ में व्यवहृत हुआ है।

भारतीय संगीत की दो प्रणालियाँ

भारतीय संगीत की दो प्रणालियाँ हैं। इनमें से एक का नाम उत्तर भार

---

१ (क) "गीतं वाद्यं तथा नृत्यं त्रयं संगीतमुच्यते।"
श्री शार्ङ्गदेव कृत 'संगीत रत्नाकर' पृष्ठ-१
आनन्दाश्रमसंस्कृतग्रन्थावली ग्रन्थांक ३५
खिस्ताब्द १९४२

(ख) "गीतं वाद्यं नर्तनं च त्रयं संगीतमुच्यते।"
दामोदर पण्डित कृत 'संगीत दर्पण' पृष्ठ-१
प्रथम संस्करण
(हिन्दी अनुवाद—डा० विश्वम्भरनाथ भट्ट)

नीय हिन्दुस्तानी संगीत-पद्धति है और दूसरी का कर्नाटकी संगीत-पद्धति । कर्नाटकी संगीत-पद्धति का प्रचार मैसूर कर्नाटक और मद्रास प्रान्तों में है शेष सम्पूर्ण भारत में उत्तरी हिन्दुस्तानी संगीत-पद्धति का ही बोलबाला है ।[१] सामान्यतः यह समझा जाता है कि दाक्षिणात्य संगीत पद्धति का शास्त्रीय आधार उत्तरी हिन्दुस्तानी संगीत-पद्धति की अपेक्षा अधिक सबल है । भारत में घटित होने वाली राजनीतिक परिस्थितियों ने उत्तर भारत को जितना आक्रान्त किया उतना दक्षिण को नहीं । मुसलमानों के आगमन के फलस्वरूप हिन्दू और मुसल मानी संस्कृति का सम्मिश्रण भी उत्तर भारत में ही अधिक हुआ फलतः उत्तर भारतीय संगीत में जैसा परिवर्तन और विकास हुआ वैसा दक्षिण भारत में न हो सका । इस सम्मिश्रण के परिणामस्वरूप उत्तर भारत के संगीत में मुसल मानी संगीत-शैली का पर्याप्त सम्मिश्रण हो गया अतः उत्तर भारत का संगीत अपने मूल रूप में स्थिर न रह सका ।

भारतीय संगीत की परिवर्तनशीलता

अध्ययन की दृष्टि से भारतीय संगीत को निम्नांकित तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है

१ प्राचीन संगीत
२ आधुनिक (प्रचलित) संगीत
३ भावी संगीत

भारतीय संगीत सदा से परिवर्तनशील रहा है । प्राचीन युग में संगीत की जो रूपरेखा थी वह आज बदल चुकी है और आधुनिक युग में जो संगीत प्रच लित है वह भी भविष्य में स्थिर न रह सकेगा । जिस प्रकार भाषा स्वभाव से

---

१ "प्राधान्यौ तु प्रसिद्ध द्वे संगीतस्य विधौ मते ।
आद्या कर्णाटकी ख्याता हिन्दुस्थानी तथा परा ॥
कर्णाटिका प्रणाली या सा मद्रास निवासिनी ।
अन्यत्र सर्वतो हिन्दुस्थानीया प्रचुरा मता ॥"

आचार्य भातखण्डे 'श्री मल्लक्ष्यसंगीतम्' पृष्ठ २

(विद्वानों के मत से संगीत की दो शैलियां हैं । एक का नाम कर्नाटकी और दूसरी का हिन्दुस्थानी है । कर्नाटकी प्रणाली मद्रास में प्रचलित है अन्यत्र हिन्दुस्थानी पद्धति ही बहुतायत है ।)

ही परिवर्तनशील है उसी प्रकार संगीत भी परिवर्तनशील है। प्राचीन संगीत से तात्पर्य उस संगीत से है जिसका उल्लेख संगीत सम्बन्धी संस्कृत की प्राचीन पुस्तकों में हुआ है। भरत दत्तिल मतंग नारद इत्यादि के ग्रन्थ इसी वर्ग में आयेंगे। आज का संगीत ग्रन्थोक्त प्राचीन संगीत से बहुत बदल गया है। अब तो सभी गायक-वादक राग ही गाते बजाते हैं किन्तु भरत के युग में राग-गायन का प्रचार न था। मतंग के समय से राग शब्द अधिक प्रचलित होने लगता है। क्रमशः प्रमुख रागों की रागिनियों और उनके परिवार की परिकल्पना विकसित हुई परन्तु बाहरवीं शताब्दी के उत्तरार्ध से छः राग तथा (तीस अथवा) छत्तीस रागिनियों वाली पद्धति भी परिवर्तित होने लगी अतः इस बीसवीं शताब्दी में राग रागिनी पुत्र पुत्रवधू इत्यादि की कहानी यदि कोरी कहानी ही रह जाय तो क्या आश्चर्य।

युग विशेष में भिन्न-भिन्न राग गायक-वादकों द्वारा जिस प्रकार व्यवहृत होते हैं तदनुरूप ही संगीत-शास्त्र का निर्माण भी होता रहता है। इस प्रकार शास्त्र और क्रियात्मक संगीत में एकरूपता स्थापित हो जाती है। यह एकरूपता अनेक वर्षों तक स्थिर रहती है परन्तु परिस्थितिवश जनरुचि बदलते रहने से क्रियात्मक संगीत शनै-शनै परिवर्तित हो जाता है। सौ-दो-सौ वर्षों में वैषम्य इतना अधिक बढ़ जाता है कि कोई राग प्रत्यक्ष व्यवहार में जिस प्रकार गाया बजाया जाता है उससे भिन्न मत शास्त्र में दिखायी देने लगता है। रागों के इस बदले हुए स्वरूप के आधार पर पुनः नवीन शास्त्र का सृजन होता है, पुस्तकें लिखी जाती हैं तथा उनमें रागों का वैसा ही वर्णन किया जाता है जैसा वे प्रत्यक्ष व्यवहार में गायक-वादकों द्वारा व्यवहृत होते हैं। इस प्रकार क्रियात्मक संगीत और उसके शास्त्र में पुनः एकरूपता आ जाती है किन्तु जन-रुचि और परिस्थितियों के निरन्तर बदलते रहने के कारण परिवर्तन का यह चक्र भी अव्याहत रूप से घूमता रहता है।

आजकल गायक वादक जो राग गाते-बजाते हैं उनमें से बहुत से ऐसे भी हैं जिनके नाम तो वे ही हैं जो प्राचीन ग्रन्थों में दिये हुए हैं परन्तु उनका आज स्वरूप पुरानी पुस्तकों में वर्णित राग-स्वरूप से इतना अधिक बदल गया है कि उन पर पुरानी विचारधारा का शास्त्र लागू नहीं किया जा सकता। उदाहरण के लिए प्रचलित मालकौंस को ही लीजिए। आजकल यह राग जिस प्रकार गाया-बजाया जाता है उस प्रकार प्राचीन पुस्तकों में वर्णित नहीं है। अर्थात् प्रचलित मालकौंस की प्रामाणिकता प्राचीन ग्रन्थाधार से सिद्ध नहीं हो सकती। राग रागिनी वाली पद्धति के प्रायः सभी ग्रन्थकारों ने इस राग का वर्णन किया

भारतीय संगीत का संक्षिप्त इतिहास

(रीतिकाल से पूर्व तक)

(ख)

संगीत जब अभिव्यक्ति का रूप ग्रहण करता है तब उसकी शुद्ध भावात्मक प्रकृति कला की सीमा-रेखाओं से भी परिवृत्त होने लगती है। मस्तिष्क के विकास के साथ वैयक्तिक विशेषताएं और विशिष्टताएं भी सम्पुष्ट होती हैं अतः कला में वैयक्तिकता अपरिहार्य है। अस्तु, अपने कला-रूप में संगीत भी कलाकार के मस्तिष्क की सघन गम्भीर मनोरम और सुविचारित सृष्टि है। भावनाओं के सहज उच्छलन की दृष्टि से आदिम मानव संगीत अवश्य ही विशिष्ट रहा होगा किन्तु कालान्तर में क्रमागत बौद्धिकता के समावेश से उसमें कलाकार के व्यक्तित्व की व्याप्ति स्वाभाविक है। यही संगीत के कलात्मक स्वरूप के विकास का क्रम है और इस विकास का वैज्ञानिक विवेचन उसके शास्त्र का निर्माता। इसी लिए किसी युग-विशेष की कला के क्रमिक विकास का लेखा-जोखा उसके तत्कालीन शास्त्र में सुरक्षित रहता है अतः भारतीय संगीत के समुचित मूल्यांकन एवं उसकी परम्परा के अनुशीलन के लिए उसका ऐतिहासिक अध्ययन अनिवार्य है।

वैदिक युग

भारतीय संगीत के क्रमिक विकास का अध्ययन वैदिक काल से आरम्भ होता है। वैदिक काल का संगीत ही आगे चलकर भरत-युग के संगीत में परिवर्तित हुआ। इस युग के संगीत का अनुशीलन करने के लिए 'सामवेद संहिता' 'ऋक् प्रातिशाख्य' 'तैत्तिरीय 'प्रातिशाख्य' 'अथर्ववेद 'प्रातिशाख्य' 'पाणिनि अष्टाध्यायी' 'पाणिनि शिक्षा' 'नारदीय शिक्षा' इत्यादि ग्रन्थ अतीव सहायक सिद्ध होते हैं।

वैदिक कालीन संगीत में सामवेद का विशेष महत्व है। सामवेद में स्वरों

नित है अतः आज के संगीतज्ञ के लिए रीतिकालीन संगीत के मूल्यांकन में कोई उल्लेखनीय व्यवधान उपस्थित नहीं होता ।

आगामी सौ-दो-सौ वर्षों में भारतीय संगीत की क्या रूपरेखा होगी यह तो आने वाली पीढ़ियां ही जान सकेंगी अतः उसके सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन है। हां इतना अवश्य है कि जिस प्रकार आज का संगीत प्राचीन संगीत से भिन्न है उसी प्रकार भावी संगीत भी वर्तमान संगीत से भिन्न होगा।

है और इसे प्रमुख छः रागों में से एक माना है परन्तु वह मालकौंस आज अपने मूल रूप में प्रचलित नहीं है । प्राचीन ग्रन्थों ने मालकौंस को मालवकौशिक मल्लकौशिक मालकोश इत्यादि नामों से पुकारा है । संगीत दर्पणकार ने षड्ज ग्रह अंश तथा न्यास स्वर से मालवकौशिक को पूर्ण माना है एवं काकली स्वर से युक्त प्रथमा मूर्छना मानकर *उदाहरण में सा रि ग म प ध नि सां लिखा है।* स्पष्ट ही यह नादस्वरूप मालकौंस के वर्तमान प्रचलित नाद-स्वरूप सा ग म ध नि सां । सां नि ध म ग सा से भिन्न है । इसी प्रकार भैरव हिन्डोल आदि इत्यादि रागों का नाद-स्वरूप भी अब पर्याप्त परिवर्तित हो गया है अतः किसी राग के प्रचलित स्वरूप पर उस प्राचीन शास्त्र को लागू करना जो बहुत पीछे छूट गया है कदापि युक्तियुक्त नहीं कहा जा सकता । यही नहीं अब तो युग इतना बदल चुका है कि यदि कोई प्राचीनता-प्रेमी संगीतज्ञ आज किसी राग के विस्मृत प्राचीन शास्त्रोक्त नाद-स्वरूप की पुनर्स्थापना का प्रयास भी करे तो उसके अध्ययन का मूल्य ऐतिहासिक रूप से ही हो सके व्यावहारिक दृष्टि से वह उपयोगी न होगा क्योंकि रागों का वह विस्मृत प्राचीन नादस्वरूप आज के संगीतज्ञों को ग्राह्य नहीं हो सकता ।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि भारतीय संगीत सदैव से परिवर्तनशील रहा है । अधिकांश रागों के नाम चाहे पुराने ही क्यों न हों किन्तु उनका वर्तमान नादस्वरूप और उसी के साथ उन रागों का वर्तमान शास्त्र भी प्राचीन नादस्वरूप एवं शास्त्र से भिन्न है । ऐसी परिस्थिति में केवल रागों के नाम-साम्य के आधार पर मध्यकालीन पद-साहित्य में वर्णित राग-रागिनियों को सर्वतोभावेन वैसा ही नहीं माना जा सकता जिस रूप में वे आज व्यवहृत हैं । सूर-तुलसी और मीरा के युग से ही नहीं हिन्दी के आदिकाल से लेकर भक्तिकाल के अंत तक जिन कवियों ने अपनी रचनाओं में राग-रागिनियों का समावेश किया है उनके सम्बन्ध में उन्हीं के युग के शास्त्र को आधार मानकर उनके द्वारा प्रयुक्त राग-रागिनियों के नादस्वरूप का मूल्यांकन करना समीचीन होगा और इसी आधार पर यह खोज करनी पड़ेगी कि किसी कविता को किसी खास राग के अन्तर्गत रखने में किसी युग विशेष के कवि की भावात्मक परिकल्पना क्या थी ।

सौभाग्य से आधुनिक संगीत के शास्त्र और उसके क्रियात्मक स्वरूप में रीतिकालीन सांगीतिक मान्यताओं से कोई तात्विक अन्तर उपस्थित नहीं हुआ है । आधुनिक संगीत की रीतिकालीन संगीत से प्रायः अविच्छिन्न परम्परा रहा

गत है, पर आज के संगीतज्ञ के लिए रीतिकालीन संगीत के मूल्यांकन में कोई उल्लेखनीय व्यवधान उपस्थित नहीं होता ।

आगामी सौ-दो-सौ वर्षों में भारतीय संगीत की क्या रूपरेखा होगी, यह तो आने वाली पीढ़ियाँ ही जान सकेंगी, अतः उसके सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन है । हाँ, इतना अवश्य है कि जिस प्रकार आज का संगीत प्राचीन संगीत से भिन्न है, उसी प्रकार भावी संगीत भी वर्तमान संगीत से भिन्न होगा ।

भारतीय संगीत का संक्षिप्त इतिहास

(रीतिकाल से पूर्व तक)

(क)

संगीत जब अभिव्यक्ति का रूप ग्रहण करता है तब उसकी शुद्ध भावात्मक प्रकृति कला की सीमा-रेखाओं से भी परिवृत होने लगती है। मस्तिष्क के विकास के साथ वैयक्तिक विशेषताएं और विभिन्नताएं भी सम्पृक्त होती हैं, अतः कला में वैयक्तिकता अपरिहार्य है। अस्तु अपने कला-रूप में संगीत भी कलाकार के मस्तिष्क की सशक्त गम्भीर मनोरम और सुविचारित सृष्टि है। भावनाओं के सहज उच्छलन की दृष्टि से आदिम मानव-संगीत अवश्य ही विशिष्ट रहा होगा किन्तु कालान्तर में कलागत बौद्धिकता के समावेश से उसमें कलाकार के व्यक्तित्व की आसक्ति स्वाभाविक है। यही संगीत के कलात्मक स्वरूप के विकास का क्रम है और इस विकास का सैद्धान्तिक विवेचन उसके शास्त्र का विधायक। इसी लिए किसी युग-विशेष की कला के क्रमिक विकास का लेखा-जोखा उसके तत्कालीन शास्त्र में सुरक्षित रहता है, अतः भारतीय संगीत के समुचित मूल्यांकन एवं उसकी परम्परा के अनुशीलन के लिए उसका ऐतिहासिक अध्ययन अनिवार्य है।

वैदिक युग

भारतीय संगीत के क्रमिक विकास का अध्ययन वैदिक काल से प्रारम्भ होता है। वैदिक काल का संगीत ही आगे चलकर भरत-युग के संगीत में परिवर्तित हुआ। इस युग के संगीत का अनुशीलन करने के लिए 'सामवेद संहिता' 'ऋक् प्रातिशाख्य' 'तैत्तिरीय 'प्रातिशाख्य' 'अथर्ववेद 'प्रातिशाख्य' 'पाणिनि अष्टाध्यायी' 'पाणिनि शिक्षा 'नारदीय शिक्षा' इत्यादि ग्रन्थ अतीव सहायक सिद्ध होते हैं।

वैदिक कालीन संगीत में सामवेद का विशेष महत्व है। सामवेद में स्वरों

के लयात्मक प्रवाह का सुनिश्चित विधान उपलब्ध होता है। उच्चारण की शुद्धता विभिन्न अवसरों पर जोर देने के निश्चित नियम यथास्थान विश्रान्ति इत्यादि आवश्यकताओं के कारण सामगायक के लिए अपने कण्ठ-स्वर का समुचित नियन्त्रण और परिष्कार आवश्यक हुआ। इस प्रकार अनजाने ही राग और लय के अंकुर फूटकर अपनी जीवनीशक्ति की अधिकारपूर्ण सत्ता प्रतिपादित कर उठे और आगे चलकर ये ही भारतीय संगीत के दो प्रमुख तत्त्वों के रूप में फलित हुए।

इसमें सन्देह नहीं कि वैदिकयुग में संगीत का पर्याप्त विकास हो चला था परन्तु उस युग के गीत की नादपरक यथार्थता का आज सप्रमाण स्पष्टीकरण सम्भाव्य नहीं है। वैदिक काल के संगीत पर अभी तक जो कुछ विचार सामग्री उपलब्ध हुई है उसके आधार पर असंदिग्ध रूप से केवल इतना कहा जा सकता है कि उस युग का संगीत भक्ति और धर्म के साथ संयुक्त था। ब्राह्मण वर्ग संगीत के अध्ययन-अध्यापन के कार्य भार को संभाले हुए था। वैदिक युग में एक विशेष महोत्सव का भी उल्लेख मिलता है जिसमें कुमारियाँ स्वतन्त्रतापूर्वक अपने-अपने प्रेमियों के साथ सांगीतिक कौशल को व्यक्त करतीं और अपने भावी पति का चयन करती थीं। इस सांगीतिक मेले ने उस युग के संगीत को विकसित करने में बड़ी सहायता पहुंचायी।

यज्ञादि के अवसर पर मन्त्रों को सांगीतिक पुट के साथ गाया जाता था। ऋग्वेद के पश्चात् वैदिकयुगीन संगीत को समझने का प्रमुख साधन सामवेद है। ह्रस्व दीर्घ अक्षरों के आधार पर उस युग का संगीत लयसंयुक्त हो गया था। सामगायन के प्रमुख भाग हिंकार प्रस्ताव उद्गीथ प्रतिहार और निधन थे। सामगायकों द्वारा सप्त स्वरों का व्यवहार होने लगा था। उस काल में स्वर की संज्ञा 'यम' थी। स्वरों के कोमल तीव्र भेद भी थे परन्तु आज की तरह एक ही स्वर को प्रारम्भिक स्वर मानकर गायन वादन नहीं होता था। तत्कालीन संगीतज्ञ आवश्यकतानुसार भिन्न भिन्न स्वरों को 'स्वरित' कल्पित करके अपनी कला का कौशल दिखाते थे। उस युग के सप्त स्वर क्रुष्ट प्रथम द्वितीय तृतीय चतुर्थ मन्द्र और अतिस्वार्य इन नामों से पहचाने जाते थे। स्वरों का क्रम नि ध प म ग रे सा इस प्रकार अवरोहपरक था। 'पाणिनिशिक्षा' और 'नारदीय शिक्षा' के आधार पर यह भी संकेत मिलता है कि नि ग को उदात्त रे ध को अनुदात्त और सा म प को स्वरित कहा जाता था।

इन बातों के आधार पर यह तो प्रकट होता है कि वैदिकयुग में

संगीत का विकास हो गया था परन्तु उस युग के सप्त स्वरों के स्वरान्तर क्या थे ? गायन शैली क्या थी ? तत्कालीन गायन क्रिया का प्रत्यक्ष स्वरूप क्या था ? इत्यादि प्रश्नों का सप्रमाण और सर्वग्राह्य उत्तर नहीं मिलता। उस युग के संगीत की आज यदि खोज भी की जाय तब भी वह केवल ऐतिहासिक महत्व की पुरातत्व सम्बन्धी उपलब्धि होगी। क्योंकि आज का संगीत प्राचीन संगीत से इतना बदल गया है साथ ही अपने विकसित रूप में इतना समृद्ध भी हो गया है कि आधुनिक गायक-वादक इसे छोड़कर वैदिक संगीत की ओर लौटने के लिए प्रस्तुत न होंगे।

वैदिक काल के पश्चात् पौराणिक एवं बौद्ध काल आता है। इस युग के संगीत से सम्बद्ध कोई महत्वपूर्ण ग्रन्थ प्राप्त उपलब्ध नहीं है। हाँ 'छांदोग्य' एवं 'बृहदारण्यक' उपनिषदों में साम-गान का उल्लेख अवश्य है तथा महाभारत और रामायण में भी गीत, वाद्य और नृत्य की चर्चा हुई है। पौराणिक युग में वैदिकयुगीन संगीत का—पवित्रता की दृष्टि से—ह्रास परिलक्षित होता है। 'सामन' ने 'समज्या' या 'समाज' का रूप ग्रहण कर लिया था तथा 'समज्या' की संगीत गोष्ठियों में स्वच्छन्दता अधिक बढ़ गयी थी। संगीत के अतिरिक्त इन गोष्ठियों में मेषयुद्ध, मल्लयुद्ध इत्यादि अन्य अनेक प्रकार के खेल-तमाशे भी होते थे। गृहस्थ जीवन में संगीत ने महत्वपूर्ण स्थान बना लिया था। स्त्री और पुरुष दोनों ही संगीत की साधना करते थे और यह संगीत ही दोनों को प्रेम के सुदृढ़ बन्धन में बाँध देता था।

विष्णु पुराण, मार्कण्डेय पुराण, वायु पुराण, हरिवंश पुराण, वृहद्धर्म पुराण इत्यादि में भी संगीत की चर्चा मिल जाती है, किन्तु नृत्य, गीत और वाद्य की वर्णना मात्र अथवा षड्जादि सात स्वरों ग्राम-रागों मूर्च्छनाओं की चर्चा या फिर उर्वशी मेनका रम्भा तिलोत्तमा आदि नर्तकियों के नामोल्लेख मात्र से पौराणिक युग के संगीत का भी मापात्मक मूल्यांकन उसी प्रकार सम्भाव्य नहीं है जिस प्रकार वैदिकयुगीन संगीत का। वस्तुतः प्राचीन संगीत के सैद्धान्तिक पक्ष का वास्तविक किन्तु संक्षिप्त व्याख्यापन सर्वप्रथम भरत के नाट्यशास्त्र में ही उपलब्ध होता है।

भरत युग

भरत जिस प्रकार नाट्यकला के आदि आचार्य माने जाते हैं उसी प्रकार वे भारतीय संगीत कला के भी आदि गुरु हैं। भरत के 'नाट्यशास्त्र' में गीत,

नाट्य एवं नृत्य पर सूत्रबद्ध ऐसी सामग्री भी उपलब्ध है जिसका किसी सीमा तक वर्तमान संगीत से परम्परागत सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है। 'प्रणव भारती' (प्रथम प्रकाशन सन् १९५६) में भरत संगीत व वर्तमान संगीत के तारतम्य स्थापन का ऐसा प्रयत्न हुआ भी है, किन्तु इस पुस्तक की उपस्थापनाएं अभी विद्वानों द्वारा मान्य नहीं हो सकी हैं। ग्वालियर (मध्य प्रदेश) से प्रकाशित होने वाली संगीत की त्रैमासिक पत्रिका 'नादरूपिणी' के अंक २ जिल्द ४ से लेकर बाद के कई अंकों तक 'प्रणव भारती' का जो प्रबल खण्डन हुआ है वह इस कथन के प्रमाण स्वरूप उपस्थित किया जा सकता है।

भरत का 'नाट्य-शास्त्र' प्रधान रूप से नाटक सम्बन्धी ग्रन्थ है, किन्तु नाटकों में संगीत का समावेश होने के कारण इस ग्रन्थ के अट्ठाईसवें, उनतीसवें और तीसवें अध्यायों में संगीत-शास्त्र की भी संक्षिप्त चर्चा हो गयी है। भरत ने श्रुति, स्वर, ग्राम, मूर्छना एवं जातियों का वर्णन किया है, साथ ही 'जाति' के निम्नलिखित दस लक्षण भी लिखे हैं, ग्रह, अंश, तार, मन्द्र, न्यास, अपन्यास, अल्पत्व, बहुत्व, षाडवत्व तथा औडुवत्व।[1] इन दस लक्षणों में से ग्रह, न्यास और अपन्यास का आज के संगीत में विशेष महत्व नहीं है, किन्तु शेष सातों नियमों से आज का संगीतज्ञ भी भली-भाँति परिचित है। अतः भरत ने चाहे राग रागिनियों का नाम न लिया हो अथवा ग्राम रागों की चर्चा न की हो, किन्तु इतना अवश्य है कि भरत के युग का संगीत ही कालान्तर में विकसित होता हुआ अपनी वर्तमान दशा को प्राप्त हुआ।

भरत ने दो ग्रामों का उल्लेख किया है। एक षड्ज ग्राम और दूसरा मध्यम ग्राम। षड्ज ग्राम की सात और मध्यम ग्राम की ग्यारह, इस प्रकार कुल अठारह जातियों का भरत ने उल्लेख किया है।[2] इन अठारह जातियों के फिर शुद्ध और विकृत दो भेद किये गये हैं, तथापि भरत ने न तो ग्राम शब्द की और न 'जाति' की व्युत्पत्तिमूलक व्याख्या की है।

भरत ने षड्ज, ऋषभ, गान्धार आदि सात स्वर माने हैं और इनमें बाईस श्रुतियों का समावेश किया है। षड्ज, मध्यम और पंचम में चार-चार, निषाद और गान्धार में दो-दो तथा ऋषभ और धैवत में तीन-तीन श्रुतियाँ मानी हैं।

---

१ द्रष्टव्य—श्री भरतमुनिप्रणीतं नाट्यशास्त्रम्, पृष्ठ १२४ संस्करण १९२९ (ई०) चौखम्बा सिरीज, बनारस

२. द्रष्टव्य—वही, पृष्ठ-११८

इन सबके अतिरिक्त भरत ने वादी संवादी अनुवादी और विवादी इन चार प्रकार के स्वरों को मानकर इनमें पारस्परिक सम्बन्ध भी स्वीकार किया है ।१ उदाहरणार्थ षड्ज-मध्यम-भाव और षड्ज-पंचम-भाव को स्वीकार करते हुए वादी तथा संवादी स्वरों के बीच में नौ अथवा तेरह श्रुतियों का अन्तर स्वीकार किया है ।२ भरत का अंश स्वर आज मात्र वादी स्वर बन कर रह गया है किन्तु षड्ज-पंचम-भाव अथवा षड्ज-मध्यम-भाव आज के युग में भी अपना महत्त्व बनाये हुए हैं ।

भरत ने जाति गायन के सम्बन्ध में जो कुछ कहा है उससे यही कल्पना पुष्ट होती है कि आज के युग में जो स्थान राग गायन को प्राप्त है वही स्थान भरत-युग में जाति गायन को प्राप्त था । जिस प्रकार थाट से राग उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार उस काल में मूर्छना से जाति की सृष्टि होती थी । सम्भवतः उस युग की मूर्छना ठाठ अथवा स्वर समूह की संज्ञा थी जो रसपरक जाति गायन का मूल आधार थी । भरतोक्त श्रुति स्वर ग्राम और मूर्छना के वर्णन को समझने के बाद अध्येता इसी निष्कर्ष पर पहुँचता है कि जाति-गायन ने उस समय अपने युग के समस्त संगीत को आत्मसात् कर लिया था यहाँ तक कि देशी राग भी इसी के अन्तर्गत समा गये थे । मतंग ने 'बृहद्देशी' में 'जाति' पर प्रकाश डालते हुए यह तो बताया है कि इसका जन्म श्रुति और ग्रहादि से होता है, यह सब रागों के जन्म का हेतु है तथा इसी के द्वारा रस प्रतीति का आरम्भ होता है परन्तु जाति गायन का तत्कालीन प्रयुक्त गेय स्वरूप अभी तक सर्वथा स्पष्ट नहीं हो सका है । हाँ इस सम्बन्ध में अधिकांश विद्वान् अवश्य एक मत हैं कि भरत का संगीत लौकिक संगीत ही था विभिन्न ग्रन्थों की तरह वैदिक संगीत नहीं ।

---

१ 'षड्जश्च ऋषभश्चैव गान्धारो मध्यमस्तथा ।
पञ्चमो धैवतश्चैव निषादः सप्त च स्वराः ॥
चतुर्विधत्वमेतेषां विज्ञेयं श्रुतियोगतः ।
वादी चैवाथ संवादी अनुवादी विवादिनः ॥

वही—पृष्ठ ११७

(षड्ज ऋषभ गान्धार मध्यम पंचम धैवत और निषाद ये सात स्वर हैं । ये श्रुतियों के योग से चार प्रकार के हैं वादी संवादी, अनुवादी और विवादी ।)

२ द्रष्टव्य—वही पृष्ठ ११७ ११८

वर्तमान संगीत भरत युग के संगीत का विकसित रूप अवश्य है, परन्तु तत्कालीन संगीत से आज के संगीत का अविच्छिन्न सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता। वर्तमान संगीत का तत्कालीन संगीत से बलात् सम्बन्ध स्थापित करने से आज के सभी संगीतज्ञ व्यर्थ में ही बेसुरे और अप्रमाणी सिद्ध होने लगेंगे। आज का संगीत भरतयुगीन संगीत से पर्याप्त परिवर्तित हो चुका है। इसका कारण भारतीय संगीत पर फारसी संगीत का प्रभाव है। इस प्रभाव के कारण भारतीय संगीत ने जो अभिनव रूप ग्रहण कर लिया है उसकी भी एक स्वतन्त्र विशिष्ट सत्ता है। इसे त्याग कर भरतयुगीन संगीत को पुनः अपना लेना सर्व ग्राह्य नहीं हो सकता। भरत और शार्ङ्गदेव की श्रुतियों का शोधन करके जब राग-शोधन-क्रिया आरम्भ होगी तब आज का संगीतज्ञ असमञ्जस में पड़े बिना न रह सकेगा। परन्तु भरत का नाट्य-शास्त्र भारतीय संगीत के ऐतिहासिक अध्ययन के लिए तो अवश्य उपयोगी है परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से वह आधुनिक संगीत का नियामक और मान्य नहीं है।

दत्तिल

'नाट्य शास्त्र' के पश्चात् 'दत्तिलम्' नामक ग्रन्थ का नाम लिया जा सकता है। कहा जाता है कि 'दत्तिलम्' की रचना भरत के पुत्र दत्तिल ने की थी। विद्वानों में मतभेद होने के कारण भरत के आविर्भाव का समय सुनिश्चित नहीं है अतः 'दत्तिलम्' की रचना का समय भी असन्दिग्ध रूप से निर्धारित नहीं हो सकता।

"नाट्य-शास्त्र' और 'दत्तिलम्' के संगीत सम्बन्धी सिद्धान्तों में कहीं तात्त्विक अन्तर दृष्टिगोचर नहीं होता। भरत की अठारह जातियाँ स्वर-श्रुति की व्यवस्था वादी-संवादी स्वरों की पारस्परिक दूरी इत्यादि सभी बातों को दत्तिल ने ज्यों-का-त्यों ले लिया है। जिस प्रकार भरत ने ग्राम शब्द का प्रयोग करते हुए भी उसकी कहीं व्याख्या नहीं की है उसी प्रकार दत्तिल भी इस सम्बन्ध में मौन है।

मतंग

इन दोनों ग्रन्थों के पश्चात् मतंग कृत 'बृहद्देशी' एक उल्लेखनीय ग्रन्थ है। भरत की तरह मतंग के आविर्भाव-काल के सम्बन्ध में भी विद्वानों में मतभेद है। इस मतभेद के कारण मतंग का समय तीसरी शताब्दी से छठी शताब्दी के बीच माना जाता है।

मतंग ने अपने ग्रन्थ का आरम्भ 'ध्वनि' की व्यापक परिभाषा से किया है। उनके मतानुसार 'ध्वनि' से ही स्वर व्यंजन क्रिया कारक इत्यादि बनते हैं यही इनका कारण है। यह 'ध्वनि' व्यक्त और अव्यक्त दो प्रकार की है। इनमें से व्यक्त 'ध्वनि' से वर्णोपलम्भ भाव की सृष्टि होती है। यह भाव ही देशी संगीत का कारण है। स्त्री पुरुष बालक वृद्ध सभी लोग अपने-अपने देश में सानुराग जो कुछ गाते हैं वह सब कुछ देशी संगीत है। मतंग के इस उल्लेख का प्रभाव आगे चलकर शार्ङ्गदेव पर भी दृष्टिगत होता है। यह ध्यान देने की बात है कि भरत अपने संगीत को गान्धर्व नाम से पुकारते हैं और मतंग देशी संगीत के नाम से। शार्ङ्गदेव ने भी मार्ग और देशी नाम से संगीत के दो भेदों का उल्लेख किया है। उनके मतानुसार जिस संगीत का निरूपण ब्रह्मा इत्यादि देवताओं ने किया और जिसका प्रयोग भरत ने किया वह मार्ग संगीत है तथा देश-देश में लोगों की रुचि के अनुसार आनन्द देने वाला संगीत देशी संगीत है। यहाँ देशी संगीत की परिभाषा तो बहुत कुछ वही है जो मतंग ने दी है परन्तु भरत के संगीत को मार्ग संगीत कहना स्वतः भरत के ही कथन के विरुद्ध हो जाता है। हाँ यह अवश्य है कि आगे चलकर शार्ङ्गदेव ने मार्ग और देशी संगीत को क्रमशः गान्धर्व संगीत और गानसंगीत भी कह दिया है।

मतंग ने भरत और दत्तिल का अनुसरण करते हुए स्वर-श्रुति-व्यवस्था वादी-संवादी स्वरों में नौ या तेरह श्रुतियों का अन्तर इत्यादि प्रमुख सिद्धान्तों को स्वीकार किया है तथा 'ग्राम' और 'मूर्छना' जैसे पारिभाषिक शब्दों की भी विस्तृत व्याख्या की है।

मतंग के ग्रन्थ की एक महत्त्वपूर्ण बात 'राग' शब्द का प्रयोग है। यह 'राग' ही वर्तमान संगीत का प्राण है। मतंग के इस उल्लेख से वर्तमान संगीत की परम्परा प्राचीन काल से स्थापित होती दिखायी देती है। 'राग' शब्द का प्रयोग मतंग ने ग्राम रागों का उल्लेख करते हुए किया है। 'बृहद्देशी' के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि उस समय सात जाति प्रकार प्रचलित थे जिनमें से एक का नाम 'राग जाति' भी था। जातियों के जो लक्षण मतंग ने दिये हैं वे भी भरत के समान हैं किन्तु 'राग-जाति' के सम्बन्ध में मतंग ने स्वतः यह कहा है कि भरत इत्यादि पूर्ववर्ती आचार्यों ने राग की व्याख्या या चर्चा नहीं की है तथा अपने युग के प्रचलित संगीत के आधार पर वे स्वयं ही इसका उल्लेख कर रहे

है।[1] इस कथन से स्पष्ट है कि 'जाति-गायन' शनैः-शनैः ही परिवर्तित होता हुआ मतंग के युग में 'ग्राम-राग' या 'राग जाति' की रूपरेखा ग्रहण कर चुका था।

इस परिच्छेद के प्रारम्भ में ही भारतीय संगीत की परिवर्तनशीलता पर थोड़ा बहुत प्रकाश डाला जा चुका है। भारतीय संगीत के ऐतिहासिक अध्ययन से यह परिवर्तनशीलता सतत दृष्टिगोचर होती है। निश्चय ही मतंग के युग के 'ग्राम राग' या 'राग जाति' आज के प्रचलित रागों से भिन्न थे। फिर भी इतना अवश्य कहा जा सकता है कि मतंग के युग में राग की कल्पना पर्याप्त स्पष्ट हो चुकी थी तथा पुरानी गायन-शैली ने एक नवीन स्वरूप भी ग्रहण कर लिया था। हिन्दी-रीति-काव्य में प्रारम्भ से ही संगीत की जिस रूपरेखा के दर्शन होते हैं उसका स्वरूप-निर्धारण मतंग के पश्चात् ही हो सका था। हाँ किसी न किसी रूप में—चाहे वह अपनी वर्तमान रूपरेखा से भिन्न ही क्यों न हो—राग का अस्तित्व पर्याप्त प्राचीन काल में भी विद्यमान था। कालिदास के 'अभिज्ञान-शाकुन्तलम्' के प्रारम्भ में ही नटी द्वारा एक गीत गाया गया है[2] जो सम्भवतः

---

१ रागमार्गस्य यद्रूपं यन्नोक्तं भरतादिभिः।
निरूप्यते तदस्माभिर्लक्ष्य (लै) लक्षण संयुतम् ॥२८१॥
मतंग मुनि कृत बृहद्देशी रागलक्षण,
पृष्ठ-८१ त्रिवेन्द्रम संस्करण

(राग मार्ग का जो रूप है और जिसका भरत आदि ने वर्णन नहीं किया उसका लक्ष्य और लक्षण युक्त वर्णन हम करेंगे)

२ ईसीसि चुम्बिआइ भमरेहि सुउमारवर केसर सिहाइ ।
ओदंसअन्ति दअमाणाओ पमदाओ सिरीस कुसुमाइ ॥
"(जिन शिरीष-सुमनों के कोमल केसर-दल की मधुर छितराए ।
चूम चूमकर भ्रमरों और फिर-फिर बैठ-बैठ उड़ जाए ॥
दयाभाव से उनको चुनकर स्नेहमयता से लेकर सत्वर ।
कर्णफूल रचकर कानों में पहन रहीं उनको प्रमदाएं ॥)
श्री सीताराम चतुर्वेदी द्वारा सम्पादित 'कालिदास ग्रन्थावली' (द्वितीय संस्करण) के अभिज्ञान शाकुन्तलम् का पृष्ठ २

सारंग राग में है ।१ अतः राग शब्द की प्राचीनता निर्विवाद रूप से सिद्ध हो जाती है । मतंग के परवर्ती संगीत-शास्त्रियों ने तो निश्चित रूप से 'राग' शब्द का प्रयोग किया है ।

नारद

नारद कृत 'नारदीय शिक्षा' का प्रणयन काल पाँचवीं शताब्दी से आठवीं शताब्दी के बीच माना जाता है । 'नारदीय शिक्षा' के अतिरिक्त 'संगीत मकरन्द' 'राग निरूपण' 'नारदीय संहिता' 'स्वर मंजरी' 'सार संहिता' इत्यादि कुछ अन्य ग्रन्थ भी नारद के नाम से उपलब्ध होते हैं । सम्भवतः नारद नाम के कई व्यक्ति समय-समय पर हुए और उन्होंने भिन्न-भिन्न कालों में अपने-अपने ग्रन्थों की रचना की । 'नारदीय शिक्षा' और 'संगीत मकरन्द' के रचयिताओं में तो निश्चित रूप से भिन्नता प्रतीत होती है । 'नारदीय शिक्षा' में साम-गायन की जो ध्वनि सुनाई देती है वह 'संगीत मकरन्द' में नहीं है तथा 'संगीत मकरन्द' में राग के जिस विकसित रूप के दर्शन होते हैं वह 'नारदीय शिक्षा' के 'ग्राम रागों' में नहीं होते । 'नारदीय शिक्षा' में प्राचीन सात जातियों अथवा 'ग्राम रागों' का उल्लेख मिलता है । इसमें परम्परागत सात स्वरों बाईस श्रुतियों एवं 'अन्तर' तथा 'काकली' स्वर-नामों का भी उल्लेख है ।

संगीत मकरन्द

नारद कृत 'संगीत मकरन्द' की महत्ता रागों के उस वर्गीकरण पर आधृत है जो पुरुषराग स्त्री राग और नपुंसक रागों के नाम से किया गया है । नारद के इसी वर्गीकरण का विकास आगे चलकर राग-रागिनी-पद्धति में परिलक्षित होता है । 'संगीत मकरन्द' में स्वर-संख्या की दृष्टि से रागों का ओडव षाडव तथा सम्पूर्ण जातियों में वर्गीकरण एवं समय की दृष्टि से प्रातर्गेय मध्याह्न

---

१ तवास्मि गीतरागेण हारिणा प्रसभं हृतः ।
एष राजेव दुष्यन्तः सारंगेणातिरंहसा ॥"
वही पृष्ठ—४ और ५

(मैं तुम्हारे मनोहर गाये हुए सारंग राग से बलात् आकृष्ट हुआ हूँ । जिस प्रकार यह राजा दुष्यन्त बड़े वेग से दौड़ते हुए इस सारंग (हिरण) से हृत हुआ है ।)

कालिक एवं रात्रिगेय वर्गों में विभाजन भी मिलता है। किसी सीमा तक 'संगीत मकरंद' के ये सिद्धान्त अपने विकसित रूप में वर्तमान संगीत का भी नियमन करते हैं। मतभेद के कारण 'संगीत मकरन्द' का रचनाकाल आठवीं शताब्दी से दसवीं शताब्दी के बीच माना जाता है।

उत्तर भारतीय संगीत के आदिकाल का संक्षिप्त इतिहास यही है जो वैदिकयुग से लेकर ईसा की दसवीं शताब्दी के अन्त तक माना जा सकता है, किन्तु भरत के 'नाट्यशास्त्र' के अतिरिक्त इस सुदीर्घ काल में कोई भी ऐसी प्रामाणिक पुस्तक अभी तक उपलब्ध नहीं हुई है जो वर्तमान और प्राचीन संगीत के तारतम्य-स्थापन में यथोचित एवं दृढ़ सहायता प्रदान कर सके। संगीत का आधार नाद अथवा गायनोपयोगी वह ध्वनि है जो मानव कण्ठ अथवा किसी वाद्य यन्त्र से उत्पन्न होती है। इसी नाद के नियमन द्वारा संगीत का विकास हुआ है। नाद के नियमन में तथा तत्सम्बन्धी सिद्धान्तों के स्थिरीकरण में हिन्दू-समाज को अनन्त समय लगाना पड़ा है। संगीत के आदि काल की कहानी इसी परिश्रम, धैर्य एवं स्वर लय के सामंजस्य की लम्बी गाथा है। ऐतिहासिक दृष्टि से इसे हिन्दूकाल कहा जा सकता है।

हिन्दी-साहित्य के आदिकाल के आस पास संगीत की अत्यधिक उन्नति हो चुकी थी। उस समय तक राज-दरबारों में भी संगीत का प्रवेश हो चुका था। नान्यदेव, भोज, परमर्दि, सोमेश जैसे राजागण संगीत-कला के स्वयं प्रकांड पण्डित थे।१ यदि यह कहा जाय कि उस युग में लोग आवश्यकता से अधिक

---

१ "The most flourishing age of Indian music was during the period of the native princes a little before the Mohammadan conquest. With the advent of the Mohammadans its decline commenced. Indeed, it is wonderful that it survived at all.

'MUSIC OF SOUTHERN INDIA'
by CAPT DAY
Page 31

(भारतीय संगीत की चरम समृद्धि का काल भारत पर यवनों की विजय से कुछ पूर्व भारतीय नरेशों का युग था। भारत पर यवनों का आधिपत्य होने पर भारतीय संगीत का ह्रास आरम्भ हुआ। वास्तव में यह बड़े आश्चर्य की बात है कि यह जीवित किस प्रकार रहा।)

संगीत में अनुरक्त थे तो कोई अतिशयोक्ति न होगी। राजपूतों की तत्कालीन अव नति का एक कारण सम्भवतः उनका अतिशय संगीत-प्रेम भी था।

मुसलमानी शासन काल

ईसा की ग्यारहवीं शताब्दी से भारत में मुसलमानी शासनकाल प्रारम्भ होता है। ऐतिहासिक अध्ययन के लिए दसवीं शताब्दी तक के संगीत को हिन्दू-शासनकालीन संगीत और उसके बाद अट्ठारहवीं शताब्दी के अन्त तथा उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक के संगीत को मुसलमानी शासनकालीन संगीत मानकर उसका अध्ययन करना सुविधाजनक हो जाता है।

मुसलमानों के आक्रमण तथा भारत पर उनके आधिपत्य के साथ मूल उत्तर भारतीय संगीत में परिवर्तन प्रारम्भ हुआ। इस युग की राजनीतिक हल चलें प्रधानतः उत्तर भारत तक ही सीमित रहीं। दक्षिण भारत में अपेक्षाकृत उथल-पुथल कम हुई। हिन्दू राजाओं का आधिपत्य भी दक्षिण में अपेक्षाकृत अधिक समय तक रहा। फलतः उत्तर भारत के संगीत का ह्रास हो चुकने पर भी दक्षिण भारत में मूल भारतीय संगीत अधिक समय तक अक्षुण्ण बना रहा किन्तु उत्तर भारत के संगीत में फारस के संगीत का मिश्रण हुआ और यह मिश्रित संगीत अकबर के युग में अपने चरमोत्कर्ष को प्राप्त हुआ।

जयदेव

बारहवीं शताब्दी में जयदेव कृत 'गीत गोविन्द' उल्लेखनीय रचना है। 'प्रबन्ध' नाम से 'गीतगोविन्द' में अनेक गीत और अष्टपदियाँ दी हुई हैं। इन प्रबन्धों को उचित राग और ताल में गाये जाने का निर्देश भी उपलब्ध है। उदाहरणार्थ 'गीतगोविन्द' के प्रथम प्रबन्ध के प्रारम्भ में ही 'अथ प्रथमप्रबन्धो *मालवरागेण रूपक ताले गीयते*' लिखा हुआ है। कहीं गुर्जरी राग का निर्देश है तो कहीं वसन्त राग का। अतः 'गीतगोविन्द' के आधार पर यह कहा जा सकता है कि बारहवीं शताब्दी में राग-गायन प्रचलित हो चुका था। 'गीत गोविन्द' में आये हुए भैरव, वसन्त इत्यादि रागों के नाम आज भी प्रचलित हैं, किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि जयदेव के युग के भैरव, वसन्त, बिभास इत्यादि राग अपने मूल नाद-स्वरूप में आज भी ज्यों-के-त्यों गाये जाते हैं। जैसा कि आरम्भ में ही बताया जा चुका है, बहुत से प्राचीन रागों के नाम आज भी वे ही पुराने हैं परन्तु उनका नाद-स्वरूप अब पर्याप्त परिवर्तित हो गया है। अब

देव के प्रबन्धों की इस युग में स्वरलिपियाँ नहीं बनी थीं अतः जयदेव-युग के संगीत का वास्तविक स्वरूप आज निश्चित नहीं किया जा सकता। संगीत के विद्यार्थी के लिए 'गीतगोविन्द' इसी कारण केवल ऐतिहासिक महत्व की रचना है। हाँ हिन्दी-गीतिकाव्य की परम्परा के अध्ययन में यह पुस्तक अवश्य सहायक होती है।

शार्ङ्गदेव

तेरहवीं शताब्दी में शार्ङ्गदेव द्वारा भारतीय संगीत का प्रसिद्ध ग्रन्थ 'संगीत रत्नाकर' लिखा गया। यद्यपि 'संगीत रत्नाकर' को लिखे हुए लगभग १२० वर्ष व्यतीत हो चुके हैं परन्तु संगीतज्ञों पर अभी तक इस ग्रन्थ का आतंक है और इसे लोग बड़ी श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं। भरत की संगीत-पद्धति जितनी अज्ञात् है, उतनी ही शार्ङ्गदेव की दुर्बोध। किन्तु संगीत का जैसा विस्तृत एवं सर्वांगीण वर्णन 'संगीत रत्नाकर' में मिलता है वैसा अन्य किसी ग्रन्थ में नहीं, अतः शार्ङ्गदेव के पाण्डित्य के सम्बन्ध में लेश मात्र भी सन्देह नहीं किया जा सकता। दुर्बोध होने पर भी 'संगीत-रत्नाकर' क्या उत्तर भारतीय संगीतज्ञ और क्या दाक्षिणात्य गायक सभी के लिए संगीत-कला का मेरु बना हुआ है।

'संगीत रत्नाकर' की दुरूहता का कारण शार्ङ्गदेव का भरत-पद्धति से मोह है। यदि उन्होंने अपने युग के प्रचलित संगीत को ही लेकर अपने ग्रन्थ का प्रणयन किया होता, तो 'संगीत रत्नाकर' में इतनी दुरूहता न आती।

अपने ग्रन्थ के आरम्भ में शार्ङ्गदेव ने 'संगीत' के पारिभाषिक अर्थ में गीत वाद्य और नृत्य तीनों कलाओं का समावेश करते हुए उसे 'मार्गी और देशी' इन दो वर्गों में विभाजित किया है। 'मार्गी' संगीत से शार्ङ्गदेव का तात्पर्य उस संगीत से है, जिसका आविष्कार ब्रह्मा इत्यादि देवताओं द्वारा और प्रतिपादन भरत द्वारा किया गया था तथा 'देशी' संगीत से उनका अभिप्राय अपने युग के उस प्रचलित संगीत से था जो भिन्न-भिन्न प्रदेशों में जनरुचि के अनुसार प्रचलित था।१ शार्ङ्गदेव ने इसी पूर्ववर्ती और अपने युग के प्रचलित संगीत में समन्वय स्थापित करने का असफल प्रयास किया क्योंकि तेरहवीं शताब्दी के संगीत का भरत-युग के अति प्राचीन—अथवा उस काल में विस्मृत—संगीत से बलात् सम-

---

१ गीतं वाद्यं तथा नृत्यं त्रयं संगीतमुच्यते।
मार्गी देशीति तद्द्वेधा तत्र मार्गः स उच्यते॥

इन्हीं संगीतज्ञों में से एक का नाम गोपालनायक था जो अपने युग का प्रसिद्ध कलाकार माना जाता है । कहा जाता है जब गोपालनायक अलाउद्दीन के दरबार में पहुंचा तब उसके संगीत से अलाउद्दीन और उसके दरबार के विद्वान् आश्चर्य चकित रह गये यहां तक कि अमीर खुसरो भी प्रतियोगिता में उसके सामने आने का साहस न कर सका किन्तु अमीर खुसरो ने विजय प्राप्त करने के लिए एक चाल सोची । अलाउद्दीन के सिंहासन के नीचे छिपकर उसने गोपालनायक का गाना सुना और फिर अपनी विलक्षण प्रतिभा से उसे स्मरण रखते हुए उसी शैली के अनुकरण से गोपालनायक को पराजित किया ।१

(उस काल के मुसलमान इतिहासकारों का कहना है जब सन् १२९४ में अलाउद्दीन ने दक्षिण (दक्खन) पर आक्रमण किया तो सन् १३१० में उसके मुख्य सेनापति मलिक काफूर ने दक्षिण भारत पर विजय प्राप्त कर ली उस समय संगीत इतना समृद्ध था कि सभी संगीतज्ञ और उनके हिन्दू गुरु शाही सेना के साथ ले जाये गये और उत्तर भारत में बसा लिये गये ।)

१ It is related that when Gopal visited the Court of Delhi he sang that species of composition called Gita the beauty of which style enunciated by the powerful and harmonious voice of so able a performer could not meet with compitition At this the Monarch caused Umir Khusrow to remain hid under his throne where he could hear the musician unknown to him. The latter endeavoured to remember the style and on a subsequent day sang Qoal and Tarana in imitation of it which surprised Gopal and fraudalently deprived him of a portion of his due honour

—TREATISE ON THE MUSIC OF HINDUSTAN by Capt. WILLARD Page–107

(कहा जाता है कि जब गोपाल दिल्ली के दरबार में आया तो उसने अपनी संगीत शैली के उस प्रकार को गाया जिसे गीत कहा जाता है । इस कुशल गायक ने ओज और माधुर्य भरे स्वर में जिस ढंग से गाया उस तरह कोई नहीं गा सकता था । इस पर बादशाह ने अमीर खुसरो को अपने सिंहासन के नीचे छिप कर बैठ जाने का आदेश दिया जहां से वह उस अनजाने संगीतज्ञ का गायन सुन सके । अमीर खुसरो ने गोपाल की गायन-शैली को स्मरण रखने का प्रयास किया और अगले दिन उसी शैली का अनुकरण करते हुए 'कौल' और 'तराना' गाया जिससे गोपाल चकित रह गया । अमीर खुसरो की इस धोखेबाजी से गोपाल यथोचित सम्मान प्राप्त करने से वंचित रह गया ।)

खुसरो की यह विजय यद्यपि न्यायसंगत नहीं कही जा सकती किन्तु यह घटना खुसरो की विलक्षण प्रतिभा का प्रमाण अवश्य है ।

उत्तर भारतीय संगीत के साथ फारस के संगीत के समन्वय का कार्य अमीर खुसरो द्वारा ही सम्पादित हुआ । अपनी विलक्षणता और सूझबूझ से खुसरो ने साजगीरी 'सरपरदा' 'जीलफ' जैसे नवीन रागों का निर्माण किया। आड़ाचौताल सूलफाक और झूमरा तालों का विधान भी खुसरो की ही देन मानी जाती है । कुछ लेखकों का मत है कि सितार और तबला जैसे वाद्यों का आविष्कार भी खुसरो ने ही किया था ।

खुसरो के प्रयत्न से यद्यपि उत्तर भारतीय संगीत की रूपरेखा में तात्विक अन्तर उपस्थित हुआ, किन्तु उसकी आत्मा फिर भी भारतीय ही रही । खुसरो ही नहीं, परवर्ती मुसलमान संगीतज्ञों ने भी यद्यपि इस परम्परा में योगदान दिया परन्तु भारतीय संगीत की आन्तरिक व्यवस्था में उनसे लेशमात्र भी अन्तर नहीं आया । वह सर्वथा भारतीय ही बनी रही । खुसरो ने स्वतः यह घोषणा की थी कि वे तुर्क होते हुए भी भारतीय ही हैं तथा उनकी कला भी भारतीय है, मिस्र या अरब से उन्हें कोई प्रेरणा नहीं मिली ।[१]

लोचन

संगीत शास्त्र के आधार पर लोचन कृत 'रागतरंगिणी' पन्द्रहवीं शताब्दी की रचना मानी जाती है । लोचन ने अपनी पुस्तक में वैदिक कोमिल विधा

---

१ "Curiously enough Amir Khushru is the inventor of a lyre the famous Sitar of today
—"Hindostani Music by G H RANADE Page—9

१ "I am an Indian, if a Turk.
I do not derive my inspiration from Egypt.
I do not therefore Speak of Arabia
My lyre responds to the Indian Theme"
Life and Works of Amir Khushru
by Dr Mohamed Vahid Mirza
(The University of the Punjab, 1935)

(तुर्क होते हुए भी मैं भारतीय हूँ । मुझे मिस्र से प्रेरणा प्राप्त नहीं होती । इसलिए मैं अरब की चर्चा नहीं करता । मेरे बाजे पर तो भारतीय संगीत ही ध्वनित होता है ।)

पति के अंश उद्धृत किये हैं तथा यमन जैसे मुसलमानी रागों का भी उल्लेख किया है अतः लोचन को पन्द्रहवीं शताब्दी का विद्वान् मानने की धारणा बल पकड़ती होती है। तरंगिणी में गीतों के निबद्ध तथा अनिबद्ध भेदों का वर्णन करने के पश्चात् लेखक ने श्रुतियों पर भी विचार किया है और बाईस श्रुतियों के मानों षड्ज मध्यम और पंचम में चार चार गान्धार निषाद में दो-दो तथा रिषभ और धैवत में तीन-तीन श्रुतियों की व्यवस्था को अपने पूर्ववर्ती आचार्यों (भरत शार्ङ्गदेव इत्यादि) के अनुसार ही स्वीकार किया है।

वर्तमान संगीत पद्धति का आधारभूत शुद्ध ठाठ बिलावल है। संगीत के प्रारम्भिक विद्यार्थी को आजकल पहले इसी की साधना करनी पड़ती है। किन्तु लोचन का शुद्ध थाट वर्तमान बिलावल से भिन्न है क्योंकि 'तरंगिणी' के शुद्ध थाट में जो गान्धार निषाद प्रयुक्त हुए हैं वे वर्तमान काफी ठाठ के अनुरूप हैं, अतः लोचन का शुद्ध ठाठ वर्तमान काफी है।

लोचन की संगीत-पद्धति में रागों की वर्गात्मक व्यवस्था महत्त्वपूर्ण है। जिस प्रकार आज प्रमुख दस या बारह ठाठों से सभी रागों की उत्पत्ति होती है उसी प्रकार लोचन ने बारह जनक राग तथा पचहत्तर जन्य राग माने हैं। लोचन के सभी जन्यरागों के नाम आज भी प्रचलित हैं। उनमें से अनेक ऐसे हैं जिनके नाम तो वे ही पुराने हैं परंतु उनकी आधारभूत रूपरेखा बदल गयी है और कुछ ऐसे भी हैं जो पुराने नामों और नादस्वरूप के साथ आज भी प्रचलित हैं। उदाहरणार्थ तरंगिणी में वर्णित यमन राग आज भी उसी नाम और उन्हीं स्वर-समुदायों के साथ गाया जाता है। इस राग के नाम और नाद-स्वरूप में कोई अन्तर नहीं है, परन्तु लोचन के युग की भैरवी आज की काफी है तथा गौरी, केदार और धनाश्री क्रमशः आज के भैरव बिलावल और पूरियाधनाश्री रागों के अनुरूप हैं।

लोचन ने अपने विभिन्न रागों के गाये जाने के समय का जो उल्लेख किया है वह भी आज के संगीतज्ञ का ध्यान अनायास ही आकृष्ट कर लेता है। बहुत से रागों के गाये जाने का समय वही है जो आज भी स्वीकृत है। उदाहरणार्थ भैरव और रामकली का समय सूर्योदय के निकट बिलावल का प्रातःकाल का प्रथम प्रहर, कल्याण का रात्रि का प्रथम प्रहर सारंग का मध्याह्नकाल कानड़ा का मध्यरात्रि अड़ाना का रात्रि का तृतीय प्रहर तथा मेघ का समय वर्षा-काल आज भी सर्वसम्मत है।

मध्यकालीन धार्मिक उत्थान और संगीत

हिन्दी-साहित्य के इतिहास की दृष्टि से देखा जाय तो इस समय तक वीरगाथा काल समाप्त हो चुका था तथा महान् वैष्णव-आन्दोलन से भारत का कोना-कोना प्रभावित हो रहा था। तत्कालीन भारतीय संगीत पर भी इस आन्दोलन का प्रभाव पड़ा फलतः उस युग का संगीत दो भिन्न धाराओं में प्रवाहित होने लगा। भक्ति-काव्य में निर्गुण ज्ञानाश्रयी शाखा के सन्तों और सूर मीरा तुलसी जैसे सगुण भक्तों ने भी संगीत को अपनाते हुए उसे आत्म-कल्याण का साधन बनाया, अतः इस युग के संगीत तथा सन्त और भक्त कवियों के संगीत सम्बन्धी दृष्टिकोण पर भी विचार कर लेना समीचीन प्रतीत होता है। संगीत में तल्लीनता प्रदान करने की जो अपरिमेय शक्ति है उसी के कारण सन्त और भक्त कवियों ने इसे इतने आग्रह के साथ अपनाया था।

संगीत की तन्मयकारिणी शक्ति के सम्बन्ध में दो मत नहीं हो सकते किन्तु सदुपयोग अथवा दुरुपयोग तल्लीनता का भी हो सकता है। संगीत से उत्पन्न तल्लीनता भयपरक भी हो सकती है और श्रेयपरक भी अतः यह तथ्य उस दृष्टिकोण पर अवलम्बित है जिससे हम मानव-जीवन को ग्रहण करते हैं। हिन्दू-धर्म में जीवन का दृष्टिकोण प्रधानतः आध्यात्मिक रहा है। ब्रह्मचर्य वाण प्रस्थ तथा सन्यास—जीवन का लगभग तीन चौथाई भाग—निवृत्ति-मार्ग का ही अनुसरण करता है, प्रवृत्ति मार्ग का नहीं। साथ ही हिन्दू-धर्म की मान्यताएं कर्मानुसार पुनर्जन्म और मोक्ष को भी स्वीकार करती हैं फलतः भारतीय चिन्तन धारा आध्यात्मिक दृष्टिकोण पर अधिक आधृत है। इसी कारण संगीत भी हिन्दू धर्म में ईशोपासना का प्रमुख साधन बन जाता है।

यहाँ भक्त की मनोवृत्ति पर भी विचार कर लेना चाहिए। भक्त की भक्ति स्वतः एक पथ है, अतः उस पर अन्य राग का प्रभाव नहीं पड़ता।[1]

---

१ ग्यान बिराग जोग बिग्याना। ये सब पुरुष सुनहु हरिजाना।
माया भगति सुनो तुम्ह दोऊ। नारिवर्ग जाने सब कोऊ।
मोह न नारि नारि के रूपा। पन्नगारि यह रीति अनूपा।
तुलसीकृत 'रामचरित मानस' उत्तर काण्ड पृष्ठ—९८१ (गीता प्रेस, गोरखपुर)

भक्त का मन अपने भगवान् में इतना तल्लीन हो जाता है कि उसे अपने भगवान् के अतिरिक्त और कुछ सूझता ही नहीं । इसी तल्लीनता के साथ संगीत की तल्लीनता भी आ मिलती है फलतः भक्त की तल्लीनता अपने भगवान् के प्रति द्विगुणित हो जाती है। तात्पर्य यह कि यदि लौकिक वासनाओं में तल्लीन व्यक्ति संगीत को अपनाता है तो संगीत उसकी लौकिक रुचि को बढ़ा देता है और यदि आध्यात्मिक मनोवृत्ति का व्यक्ति संगीत का सहारा लेता है तो संगीत उसकी आध्यात्मिक मनोवृत्ति को दूना कर देता है। सूर तुलसी और मीरा का युग हिन्दी-साहित्य का स्वर्ण-युग है किन्तु यही युग संगीत का भी स्वर्ण-युग माना जाता है। तानसेन जैसा अप्रतिम गायक इसी युग का वरदान था। तथापि ध्यान रखना चाहिए कि इस युग में एक ओर तो अकबर जैसे कला प्रेमी सम्राट् के दरबार में संगीत कला का उत्कर्ष और उसके द्वारा मनोरंजन का मनोरम सागर उमड़ रहा था और दूसरी ओर सीकरी से कुछ काम न रखनेवाले सन्त लौकिक सुखोपभोग को तुच्छ समझते हुए संगीत के माध्यम से अपने-अपने इष्टदेव के ध्यान में मग्न थे। यह ठीक है कि उस युग के राज दरबारों में संगीत-कला का जो उत्कर्ष और निखार हो रहा था उसका प्रभाव भक्तों के संगीत पर भी अवश्य पड़ा। भारतीय संगीत सदैव से परिवर्तनशील अवश्य रहा है परन्तु कतिपय अपवादों को छोड़कर एक ही युग में दो राग भिन्न-भिन्न प्रकार से नहीं गाये जा सकते अतः जो राग उस युग के कला-प्रेमी दरबार-गायक प्रयुक्त कर रहे थे उन्हीं को भक्त लोग भी उपयोग में ला रहे थे फिर भी दोनों के प्रयोग में भिन्नता थी। दरबारी गायक कला की बारीकियों में उलझे हुए मनोरंजन का एक अनुपम साधन उपस्थित कर रहे थे किन्तु भक्तों को न इस प्रकार की बारीकियों से कोई मतलब था और न मनोरंजन उनका उद्देश्य। उन्होंने तो अपने युग के संगीत के सामान्य स्वरूप को यथाशक्ति अपना लिया था और संगीत की मधुर स्वर-लहरी उनकी तल्लीनता को जहाँ तक बढ़ा सकती थी बस वहीं तक संगीत उन्हें ग्राह्य था। इस प्रकार उस युग में संगीत की द्विविध धाराएं प्रवाहित हो रही थीं जिनमें से एक का उद्देश्य शुद्ध कलात्मक अभिव्यक्ति और मनोरंजन था तो दूसरे का भक्ति-भावनाओं का मनोरम शृंगार।

अकबर

१५५६ ई० से १६०५ ई० तक अकबर का समय माना जाता है। दूसरे के युग में भारतीय और फारसी संगीत के समन्वय से जिस परिणाम

संगीत-शैली का प्रादुर्भाव हुआ वह इस समय अपने चरमोत्कर्ष को पहुँच चुकी थी। इसी दृष्टि से यह युग संगीत का स्वर्ण-युग माना जाता है। अमर गायक तानसेन का प्रादुर्भाव भी इसी युग में हुआ तथा कृष्ण और राम भक्ति-धारा के प्रसिद्ध कवि और गायक सूर, मीरा एवं तुलसी भी इसी युग की विभूतियाँ हैं।

अकबर केवल संगीत-प्रेमी ही नहीं उत्तम संगीतज्ञ भी था। तत्कालीन समाज में वह संगीत कुशल था। अकबरी युग के नाम से अभी तक अकबर की बनाई हुई कुछ गतें प्रचलित हैं।

तानसेन और ध्रुपद-शैली

अकबर के प्रोत्साहन से उस युग में तत्कालीन संगीत की सर्वांगीण उन्नति हुई। प्रसिद्ध गायक तानसेन अकबरी दरबार का ही एक रत्न था। तानसेन मूलतः ब्राह्मण तथा वृन्दावन के प्रख्यात सन्त संगीताचार्य स्वामी हरिदास का शिष्य था। तानसेन के अतिरिक्त अकबर के दरबार में विलासखाँ, समोखनसिंह, मियाँचन्द इत्यादि प्रसिद्ध गायक थे।

इस समय ध्रुपद-वाणी का प्रचार था। उपर्युक्त चारों कलाकार ध्रुपद के सर्वश्रेष्ठ विद्वान थे। इन चारों की विभिन्न शैलियों का 'वाणी' नाम से अभी तक ध्रुपद शैली के गायक अनुसरण करते हैं। तानसेन की 'वाणी' गौरहरी या गोबरहारी कहलाती है तथा शेष की क्रमशः डागुर, खण्डार और नौहार।[1] ध्रुपद-शैली का चरमोत्कर्ष इन्हीं कलाकारों के प्रयत्न से हुआ। इस युग के वाद्यों और नृत्यों पर भी तत्कालीन संगीत का प्रभाव पड़ा परन्तु स्वरों के चमत्कार प्रदर्शन की अपेक्षा उनका ध्यान हृदय की आन्तरिक पुकार की सरल अभिव्यक्ति की ओर अधिक रहा। 'गीतगोविन्द' की रचना करके जयदेव बारहवीं शताब्दी में ही इस दिशा में मार्ग प्रशस्त कर चुके थे। उसके अनन्तर विद्यापति, हितहरिवंश, स्वामी हरिदास प्रभृति ने उस मार्ग को और प्रशस्त किया तथा सूर, तुलसी और मीरा ने अपने गायन से इस शैली को युग-युग के लिए अमर बना दिया। इनके गीत हिन्दी-साहित्य में उसी प्रकार 'पद' संज्ञा

---

१ द्रष्टव्य—आचार्य भातखण्डे कृत 'हिन्दुस्तानी संगीत-पद्धति' भाग ४ पृष्ठ—२११

से अभिहित किये जाते हैं जिस प्रकार निर्गुण ज्ञानमयी धारा के सन्तों के गान 'बानी' कहलाते हैं। सूर तुलसी और मीरा के पदों में तो सचमुच साहित्य और संगीत का अद्वितीय संयोग हुआ है।

राजा मान

अकबर के सिंहासनारूढ़ होने से कुछ पहले ही ग्वालियर-संगीत-घराना स्थापित हो चुका था। ग्वालियर के राजा मानसिंह इसके संस्थापक थे। वर्तमान ध्रुपद-शैली के जन्मदाता राजा मानसिंह ही माने जाते हैं। उनके युग में 'मान-कुतूहल' नामक ग्रन्थ की रचना हुई जिसे उनकी प्रेरणा से तत्कालीन कई विद्वानों ने मिलकर सम्पादित किया था।

पुण्डरीक विट्ठल

अकबर के युग में खानदेश पर फारुकी वंशज बुरहानखाँ का आधिपत्य था। बुरहान खाँ के दरबार में पुण्डरीक विट्ठल नामक एक प्रसिद्ध संगीतज्ञ हुए जिन्होंने (१) 'सद्राग चन्द्रोदय' (२) 'राग माला' (३) राग मंजरी' और (४) 'नर्तन निर्णय' नामक चार ग्रन्थ लिखे। कहा जाता है कि खानदेश पर अकबर का आधिपत्य स्थापित हो जाने के बाद पुण्डरीक भी अकबर के दरबार में चले गये थे।

पुण्डरीक कृत 'सद्राग चन्द्रोदय' का शुद्ध थाट 'मुखारी' है जो दक्षिण भारत में प्रचलित वर्तमान 'कनकांगी' मेल के अनुरूप है। पुण्डरीक ने अपने रागों को चौदह स्वरों पर आधृत किया है। उपर्युक्त चारों ग्रन्थों के अध्ययन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि उस युग में संगीत केवल एक राग में ही सीमित हो गया था। 'राग माला' में पुण्डरीक ने राग-रागिनी पुत्र इत्यादि की पद्धति से अपने रागों का वर्गीकरण किया है।

जहांगीर-युग क संगीतज्ञ

अकबर की मृत्यु (१६०५ ई) के पश्चात् जहांगीर दिल्ली के सिंहासन पर आरूढ़ हुआ। यह निश्चयात्मक रूप से नहीं कहा जा सकता कि अकबर के दरबार के कितने श्रेष्ठ गायक जहांगीर के दरबार में विद्यमान थे। 'तुजक और इकबालनामा' के आधार पर यह कहा जाता है कि जहांगीरदाद चतर्खां परवेज़दाद खुर्रमदाद मक्खू तथा हमज़ान इत्यादि उस युग के प्रसिद्ध कलाकार थे।[1]

---

१ देखिए:— A Short Historical Survey of the Music of Upper India by Pandit V.N Bhatkhande Page 25

जहाँगीर के युग में संगीत सम्बन्धी जो पुस्तकें लिखी गयीं उनमें 'राग विबोध' और 'संगीत दर्पण' विशेष उल्लेखनीय हैं । 'राग विबोध' दक्षिण भारत के विद्वान् पण्डित सोमनाथ द्वारा लिखी हुई पुस्तक है और 'संगीत दर्पण' पं० दामोदर मिश्र प्रणीत । जिस प्रकार शार्ङ्गदेव के 'संगीत-रत्नाकर' में दुर्बोधता विद्यमान है उसी प्रकार 'संगीत दर्पण' में भी एक प्रकार की अस्पष्टता व्याप्त है । दामोदर पण्डित ने शार्ङ्गदेव के स्वराध्याय को ज्यों-का-त्यों ग्रहण कर लिया है, परन्तु उनके रागाध्याय पर किसी अन्य ग्रन्थ का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है । सम्भवतः प्राचीन और अर्वाचीन संगीत के समन्वय की आकांक्षा ने ही दामोदर पण्डित के 'संगीत दर्पण' को भी उसी प्रकार अस्पष्ट बना दिया है जिस प्रकार शार्ङ्गदेव ने 'संगीत रत्नाकर' को दुर्बोध बना डाला था । फिर भी 'संगीत दर्पण' के आकर्षण में सन्देह नहीं है । यह पुस्तक १६२५ ई० के आसपास लिखी गयी थी तथा अठारहवीं शताब्दी में इसका फारसी में अनुवाद भी हुआ था ।१

यहाँ यह प्रश्न सर्वथा स्वाभाविक है कि जब 'संगीत दर्पण' की उपादेयता विशेष नहीं है तब उसके इतने लोकप्रिय होने का क्या कारण है ? उस युग में फारसी भाषा में भी 'संगीत दर्पण' का अनुवाद होना ग्रन्थ की सर्वप्रियता का ज्वलन्त प्रमाण है ।

सच पूछिये तो 'संगीत दर्पण' अपने स्वराध्याय के कारण नहीं, अपितु रागाध्याय के कारण ही इतना लोकप्रिय हो सका है । रागाध्याय में लेखक

---

१ "That Sangit Darpan was Translated into Persian language before the later half of the 18th century A. D appears from a reference to the book in the essay 'The Musical Modes of the Hindus' written by the great orientalist Sir William Jones

A Short Historical Survey of the Music of Upper India by Pandit V N Bhatkhande

Page 52

(प्राच्यविद्या विशारद सर विलियम जोन्स लिखित निबन्ध 'दि म्यूज़िकल मोड्स ऑफ दि हिन्दूज़' में 'संगीत दर्पण' का उल्लेख है जिससे पता चलता है कि इस ग्रन्थ का फारसी अनुवाद अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से पूर्व ही हुआ था ।)

में राग और रागिनियों के ('ध्यान' शीर्षक के अन्तर्गत) जो देव-स्वरूप उपस्थित किये हैं वे इतने मनोरंजक हैं कि हृदय बरबस उनकी ओर आकृष्ट हो जाता है । आजकल भी अनेक ऐसे बूढ़े गायक दिखायी देंगे जिन्हें 'ध्यान' सम्बन्धी श्लोक कण्ठाग्र हैं । लेखक ने 'दर्पण' के रागाध्याय में रागों और उनकी भार्याओं के जिस प्रतिबिम्ब के दर्शन कराये हैं उससे लेखक की पुस्तक का नाम 'राग दर्पण' सार्थक हो जाता है ।

'राग-दर्पण' हिन्दी के रीतिकालीन युग के कुछ ही पूर्व लिखा गया था अतः रीतिकालीन मनोवृत्ति के यहाँ स्पष्ट दर्शन होते हैं । राग-दर्पण में राग रागिनियों का वर्णन हिन्दी की रीतिकालीन कविता के नायिका-भेद के समकक्ष है तथा नैतिकता की दुहाई देते रहने पर भी जिस प्रकार नायिका-भेद रसिक जनों के मनोरंजन का अभी तक साधन बना हुआ है उसी प्रकार उपर्युक्त वर्णन के कारण 'दर्पण' भी लोकप्रिय बन गया है । इस विवेचन से यह आभास मिलता है कि उस युग में किस राग का (नव-रसों में से) किस रस के साथ सम्बन्ध था । कालान्तर में चित्रकारों द्वारा इन राग-रागिनियों के देव-स्वरूप के अनेक भव्य चित्र बने । ऐसे चित्र आजकल भी विभिन्न प्रदर्शनियों की शोभा बढ़ाते रहते हैं ।

आज का बुद्धिवादी युग प्रत्येक बात को तर्क की कसौटी पर कसकर उसके यथार्थ मूल्यांकन का प्रयास करता है । दर्पणकार की 'तुङ्गस्तनी' चन्द्रमुखी 'मनोज्ञा' गौरद्युतिवाली' भूपाली का चित्र[1] चाहे उसके हृदय का

१—'गौरद्युतिः कुङ्कुमलिप्तदेहा ।
तुङ्गस्तनी चन्द्रमुखी मनोज्ञा ॥
कान्तं स्मरन्ती विरहेण दूना ।
भूपालिकेयं रसशान्तियुक्ता ॥"

डा० विश्वम्भरनाथ भट्ट द्वारा अनूदित (दामोदर पण्डित कृत) 'संगीत दर्पण' पृष्ठ—११२ प्रथम संस्करण

(जो गौर वर्ण की कान्ति वाली है । जिसके शरीर पर केसर का लेप है । जिसके स्तन ऊँचे हैं । जो चन्द्रमुखी और मनोज्ञा है । विरह से त्रस्त होकर जो कान्त का स्मरण करती है ऐसी भूपाली रागिनी है जो शान्तरस युक्त है ।)

मनोरंजन भले ही कर सके परन्तु उसका तार्किक मस्तिष्क यह जाने बिना कभी सन्तुष्ट नहीं हो सकता कि भूपाली का आरोहावरोह, उसके वादी संवादी इत्यादि स्वर तथा उसके स्वर-विन्यास का स्वरूप क्या और कैसा है? राग के देव-स्वरूप की अपेक्षा आज उसका नाद-स्वरूप अधिक महत्त्वपूर्ण बन गया है। दर्पणकार के कथन "नीलकमल के समान कान्तिवाले मेघराग"[1] से आज हमारी तब तक संतुष्टि नहीं हो सकती जब तक दर्पणकार हमें भली भाँति यह न समझा दे कि उसके युग के मेघराग को हम ठीक-ठीक किस प्रकार गा सकते हैं। परन्तु यह पहले ही कहा जा चुका है कि दर्पणकार के स्वराध्याय और रागाध्याय में वैषम्य है अतः दर्पणकार के ग्रह, अंश, न्यास स्वर अथवा मूर्छनाएँ राग-स्पष्टीकरण में हमारी विशेष सहायता न कर सकेंगी।

'संगीत दर्पण' के अध्ययन से इस बात के भी प्रमाण मिलते हैं कि उस समय एक ओर तो लोचन के युग से चली आती हुई जन्य जनक पद्धति प्रचलित थी तथा दूसरी ओर राग-रागिनी-पद्धति भी अनेक लोगों को मान्य थी। वस्तुतः इस युग तक राग रागिनी-पद्धति में शिवमत, कृष्णमत, भरतमत, हनुमान मत, कल्लिनाथ मत, सोमेश्वर मत इत्यादि अनेक प्रणालियाँ प्रचलित हो गयी थीं। दर्पणकार ने 'रागाध्याय' के बारहवें श्लोक में इसी बात का संकेत करते हुए पार्वती द्वारा राग रागिनी, समय, ऋतु इत्यादि के सम्बन्ध में प्रश्न करा कर शिव के मुख से 'शिवमत' का उल्लेख करवाया है। 'संगीत दर्पण' के बाद हनुमान मत का ही प्रचार अधिक रहा। आजकल भी जो लोग प्राचीन राग रागिनी-पद्धति को मानते हैं उनमें से अधिकांश की श्रद्धा हनुमान मत पर ही है।

१—"नीलोत्पलाभवपुरिन्दुसमानवक्त्रः ।
पीताम्बरस्तृषितचातकयाच्यमानः ।
पीयूषमंदहसितो घनमध्यवर्ती ।
वीरेषु राजति युवा किल मेघरागः ॥"

वही पृष्ठ—१०६

(नीलकमल के समान जिसका अंग है, चन्द्रमा के समान जिसका मुख है, पीले रंग के वस्त्र हैं, तृषा से व्याकुल बन का चातक पक्षी जिसकी याचना करता है। अमृत के समान मधुर जिसका मन्द हास्य है। जिसका निवास मेघ में है। वीरों में सुशोभित होने वाला तथा तरुण ऐसा मेघराग शोभित होता है।)

अस्तु मुसलमानी शासन काल के पूर्वार्ध के संगीत का संक्षिप्त इतिहास नहीं है। संगीत के शास्त्रीयपक्ष और कलापक्ष का पारस्परिक सम्बन्ध यथोचित रूप में न रहने के कारण मात्र पुस्तकों की सहायता से उस युग के संगीत को समझना कठिन है। हाँ अध्ययन के परिणामस्वरूप इतना अवश्य पता चल जाता है कि इस काल में मध्यम ग्राम का लोप हो गया था और मात्र षड्ज ग्राम पर ही तत्कालीन संगीत आधृत था। उत्तर भारत में राग-रागिनी पद्धति का प्रचार था तथापि लोग मेल (ठाठ) पद्धति या जनक-जन्य पद्धति से भी अपरिचित न थे। मूर्च्छनाओं अथवा जातियों से विभिन्न राग निकालने की प्रथा पीछे छूट गयी थी तथा संगीत प्रायः बारह स्वरों पर आधृत हो गया था।

भारतीय संगीत की प्रमुख शैलियों का आलोचनात्मक अध्ययन

(रीतिकाल से पूर्व तक)

(ग)

भरत और शाङ्गदेव के युग का संगीत आज बहुत कुछ अस्पष्ट सा है, तथापि भरत के 'नाट्य शास्त्र' और शाङ्गदेव के 'संगीत रत्नाकर' के आधार पर तत्कालीन क्रियात्मक संगीत की जो कल्पना होती है वह एक गम्भीर और विशद् स्वरूप के संगीत को मानस नेत्रों के सम्मुख उपस्थित करती है।

'रत्नाकर' में 'जाति' के जो लक्षण दिये हुये हैं१ उनसे पता चलता है कि जाति-गायन ग्रह, अंश तार, मन्द्र, न्यास अपन्यास अल्पत्व बहुत्व, षाडवत्व एवं औडवत्व से युक्त था। इस विवरण से उस युग के संगीत का स्वर-प्रधान स्वरूप थोड़ा-बहुत स्पष्ट हो जाता है। इन विशेषताओं का दिग्दर्शन आलाप में विशेष रूप से हो सकता है, अतः प्राचीन संगीत के सम्बन्ध में उसके आलाप प्रधान स्वरूप की धारणा अधिक पुष्ट होती है।

१—"ग्रहांशतारमन्द्राश्च न्यासापन्यासकौ तथा।
अपि संन्यासविन्यासौ बहुत्वं चाल्पता तथा॥
एतान्यन्तरमार्गेण सह लक्ष्माणि जातिषु।
षाडवौडुविते स्यातामितित्रयोदश॥"

श्री शार्ङ्गदेव कृत 'संगीत रत्नाकर' पृष्ठ—७९ और ८० आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली, ग्रन्थांक ३५, विभाग १८९७

(ग्रह अंश तार, मन्द्र, न्यास अपन्यास संन्यास विन्यास बहुत्व अल्पत्व से अन्तर्मार्ग सहित ग्यारह लक्षण 'जाति' के हैं। यहीं षाडव और औडव भी माने जाते हैं, इस प्रकार तेरह हैं।)

काव्य में जो स्थान भावपक्ष और कलापक्ष का है, किसी सीमा तक संगीत में वही स्थान क्रमशः आलाप एवं तान इत्यादि आलंकारिक प्रयोगों का है। संगीत में जो रसात्मकता है वह उसके शान्त आलाप में ही निहित है। उसकी ध्रुव भावात्मक आत्मा यही है। सुन्दर शब्दावली से युक्त गीत की बन्दिश उसकी तान मुरकी खटके तथा लय की आड़, कुआड़, बिआड़ इत्यादि ऐसी सामग्री और अलंकार हैं जिससे उसके मनोरम शरीर का निर्माण एवं शृंगार होता है। आलाप की गति गम्भीर, धीमी है, अतः इसमें गायक को भावाभिव्यक्ति की पूरी सुविधा प्राप्त हो जाती है किन्तु तान खटके और मुरकियाँ चपलता की द्योतक हैं लयकारी के साथ इनका प्रयोग अधिकांश में कलात्मक चमत्कार का ही सृजन करता है।

'रत्नाकर' व 'स्वस्थान' नियमों का जो उल्लेख हुआ है वह भी प्राचीन संगीत की प्रौढ़ आलाप-शैली को इंगित करता है।१ इसमें कोई संदेह नहीं कि बहुत ही उच्च कोटि के स्वर-ज्ञान एवं राग-ज्ञान के बाद ही इन नियमों को यथोचित रूप से क्रियात्मक संगीत में निभाना सम्भव होता होगा। यही नहीं

१—"यत्रोपवेश्यते रागः स्वरे स्थायी स कथ्यते।
ततश्चतुर्थो द्व्यर्धः स्यात्स्वरो तस्मात्परस्थितैः॥
आलप्तं मुखचालः स्यात्स्वस्थानं प्रथमं च तत्।
द्व्यर्धस्वरे चालयित्वा न्यसनं स्वद्वितीयकम्॥
स्थायिस्वरादष्टमस्तु द्विगुणः परिकीर्तितः।
द्व्यर्धद्विगुणयोर्मध्ये स्थिता अर्धस्थिताः स्वराः॥"

श्री शार्ङ्गदेव कृत 'संगीत रत्नाकर' पृष्ठ—२११ आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली ग्रन्थांक ३५, ईसवसन १८९६

(अंश स्वर पर सारा राग निर्भर रहता है। उसी को स्थायी स्वर कहते हैं। स्थायी स्वर से चौथा स्वर द्व्यर्ध समझना चाहिए। स्थायी से आठवाँ द्विगुण स्वर है। द्व्यर्ध और द्विगुण इन दो स्वरों के बीच के स्वर अर्धस्थित मानने चाहिए। (हर एक आलाप-गायक को उपर्युक्त श्लोकों में दिये हुए स्वस्थान क्रम से गाना पड़ता है। मनमाने स्थान से आरम्भ करके चाहे जहाँ वह न्यास नहीं कर सकता था। प्रथम स्वस्थान में गायक को हमेशा अपना आलाप द्व्यर्ध स्वर के नीचे रखना पड़ता था। अन्तस्थान में वह मनमाना विस्तार कर सकता था।)

ये नियम उस युग में अनिवार्य थे भी। इनका दृढ़ता से पालन किया जाता था सर्वथा शास्त्रोक्त एवं सुनियमित रूप से कलाकार द्वारा राग-निर्वाह किस कठिन साधना की अपेक्षा रखता है यह आज भी किसी सच्चे संगीत-प्रेमी से छिपा नहीं है।

शार्ङ्गदेव के युग में ध्रुपद का गायन भी अभी प्रचलित न थी। उस युग में 'प्रबन्ध', 'वस्तु' 'रूपक' इत्यादि के गान की प्रथा थी। इनका भी साधारणतः स्वरूप आज अज्ञात है। प्रबन्ध के भिन्न-भिन्न भाग या अवयव होते थे जिन्हें 'धातु' कहा जाता था। उद्ग्राह, मेलापक, ध्रुव, आभोग इत्यादि भिन्न भिन्न 'धातुओं' के ही नाम हैं। आज जिस प्रकार ख्याल में 'स्थायी' और 'अन्तरा' होता है अथवा ध्रुपद में जिस प्रकार 'स्थायी' 'अन्तरा' 'संचारी' और 'आभोग' नियम-युक्त पृथक-पृथक अवयव होते हैं उसी प्रकार उद्ग्राह, मेलापक इत्यादि तत्कालीन 'प्रबन्धों' के नियम-संयुक्त विभिन्न भाग थे। 'प्रबन्धों' को शार्ङ्गदेव ने निबद्ध गान के अन्तर्गत रखा है तथा 'अनिबद्ध' गान के शीर्षक में 'आलप्तिगान' को स्थान दिया है। सम्भवतः उस युग में दो प्रकार का संगीत था। जिस प्रकार में 'गीतों के बोल' (शब्द-योजना) विद्यमान थे उसे निबद्ध गान कहा जाता था इसके विपरीत अनिबद्ध गान शब्द-योजनारहित था। वह केवल आलाप-युक्त स्वरूप था। आगे चलकर जब राग-गायन का प्रचार हुआ तब जाति-गायन के लक्षण राग-गायन में समाहित हो गए।

ध्रुपद

ध्रुपद प्राचीन भारत का मरदाना गाना है। ठुमरी ख्याल इत्यादि गीत शैलियों की तुलना करने से यह स्पष्ट हो जायगा कि भारतीय संगीत की सहज गम्भीरता दीर्घकाल में किस प्रकार शृंगारपरक एवं आलंकारिक हो गयी थी।

ध्रुपद-शैली में अलंकरण को ख्याल या ठुमरी जैसी सुविधा नहीं है। यदि ख्याल या ठुमरी की तरह इसमें तानों या मुरकियों अथवा खटकों का प्रयोग कर दिया जाय तो यह दोष माना जायगा। ध्रुपद की वीर गम्भीर प्रकृति ऐसे प्रयोगों से सर्वथा भ्रष्ट हो जाती है।[1] विलम्बित लय स्वरों के

१ "This may properly be considered as the heroic song of Hindustan. The Subject is frequently the recital of some of the memorable actions of their heroes or other didactic theme. It also engrosses love matters as well as trifling and frivolous subjects. The style is very masculine and almost entirely devoid of studied ornamental florishes. Manly negli-

स्थिर रूप तथा चपलता के अभाव में यह सर्वथा पुरुषोचित शैली बन जाती है। ध्रुपद के गीतों की शब्द-योजना प्रायः ईशोपासना सम्बन्धी अथवा वीरता के भावों को लिये हुए होती है। कभी-कभी शब्द-योजना शृंगारिक या इतिवृत्तात्मक भी होती है।

ध्रुपद-गायकों को प्रायः कलावन्त कहा जाता है। तानसेन ध्रुपद गायक थे। तानसेन के वंशज अथवा उनकी शिष्य-परम्परा के गायक तानसेन के बनाये हुये ध्रुपद आज भी गाते हैं, परन्तु इनका लिखित रूप न होने के कारण उनकी स्वर-योजना एवं शब्द-योजना दोनों में ही अब पर्याप्त अन्तर आ गया है।

ध्रुपद के चारों भाग स्थायी, अन्तरा, संचारी और आभोग भी नियम बद्ध हैं। इन चारों भागों के कारण ध्रुपद गाते समय उसकी गम्भीरता उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। प्राचीन ध्रुपद संस्कृत और हिन्दी दोनों में ही होते थे तथा उनके गीतों में पंक्तियाँ भी अधिक होती थीं किंतु कालान्तर में वे संक्षिप्त होते गयीं। ऐसा मालूम होता है कि चार पदों के युग के निबद्ध गान ने ही परिवर्तित होकर कालान्तर में ध्रुपद का स्वरूप ग्रहण कर लिया था।

प्रायः चौताल, सूलफाक, झम्पा, तीव्रा, आदिताल इत्यादि में ध्रुपद गाये जाते हैं। इनमें सबसे अधिक प्रयुक्त होने वाली ताल चौताल है। मृदंग और तबला ध्रुपद की संगत के प्रमुख वाद्य हैं। इन दोनों वाद्यों की ध्वनि से

---

gence and ease seem to pervade the whole and the few turns that are allowed are always short and peculiar

'Treatise on the Music of Hindustan by Capt Willard
Page-83

(इसे उचित रूप में हिन्दुस्तान का वीररस युक्त गीत माना जा सकता है। इसका विषय प्रायः वीरों के कुछ स्मरणीय कार्यों का वर्णन होता है या कोई उपदेशपरक कथा। इसमें प्रेम-सम्बन्धी विषयों तथा आचारगत और इसके विषयों का भी समावेश होता है। शैली बहुत पुरुषोचित रहती है और उसमें कम आलंकारिक तानों का प्रभाव होता है जो जानबूझकर ली जाती है। सम्पूर्ण भाग में पुरुषोचित उपेक्षाभाव और स्वाभाविकता व्याप्त रहती है और जो थोड़ी सी मुरकियाँ (Turns) ली जाती हैं उनमें लघुता और वैचित्र्य का गुण होता है।)

यह कल्पना सहज में की जा सकती है कि ध्रुपद की गम्भीरता कैसी होती है ? ध्रुपद के साथ मृदंग-वादन उसे और भी विराट् रूप प्रदान कर देता है ।

धमार

ध्रुपद-गायक धमार-गायन में भी प्रवीण होते हैं । धमार-शैली बहुत कुछ ध्रुपद के ही अनुरूप होती है । धमार के गीत प्रायः शृंगारिक होते हैं जिनमें राधा-कृष्ण के परस्पर होली खेलने का आकर्षक वर्णन होता है । आलाप का प्राधान्य इसमें भी है अतः ध्रुपद के समान इसमें भी संगीत का गम्भीर स्वरूप अक्षुण्ण बना रहता है । इस शैली के गीतों के लिये चौदह मात्राओं की धमार ताल कल्पित हो गयी है । इस ताल पर अधिकार प्राप्त करने के लिये पर्याप्त अभ्यास की आवश्यकता है अतः गायक जब इसमें ध्रुपद-शैली के अनुरूप आड़ दुगाड़ इत्यादि का काम दिखाने लगते हैं तब एक ओर तो इसकी सरस शब्द रचना और आकर्षक भावनाओं से हृदय को तोष प्राप्त होता है तथा दूसरी ओर लय के चमत्कार से बुद्धि भी चमत्कृत होती है ।

भजन-कीर्तन

भजन-कीर्तन की प्रथा भक्ति-काल में अपने पूर्ण उत्कर्ष को प्राप्त हुई । सूर तुलसी मीरा हरिदास आदि भक्त-कवि पद लिखकर तथा संगीत के स्वारस्य से उनका अभिसिंचन करके अपने अपने इष्टदेव को रिझाते थे । सूर तो साक्षात् श्रीनाथ जी के मन्दिर में भजन-कीर्तन किया करते थे । मीरा भी करताल बजा कर अपने प्रियतम के रंग में रंग उठती थी, अतः सिद्ध है कि भक्ति-काल में भजन-शैली अपने उत्कर्ष के चरम बिन्दु पर पहुंच गयी थी ।

परिच्छेद-२

गीतिकाव्य

गीतिकाव्य

परिच्छेद-३

(क)

काव्य मानव-जीवन के स्पन्दन से अनुप्राणित और प्रेम के सौरभ से सुरभित है। इसी लिए भावुक कवियों का प्राण इसमें घुला और मार्मिक भावोद्गारों की प्रतिभा की यह कसौटी भी बना। फिर भी परिभाषा की सीमाओं में इसे आबद्ध न कर सकी, कर भी नहीं सकती। सम्भवतः जिस दिन मानव प्रेम और जीवन की सही परिभाषाएँ बना सका उसी दिन काव्य की भी सर्वसम्मत सही परिभाषा बन जायगी।

यों तो काव्य के सभी रूप सङ्गीत-तत्वों से न्यूनाधिक संयुक्त हैं किन्तु काव्य और संगीत का सहज समन्वय गीतिकाव्य में ही विशेष दृष्टिगोचर होता है अतः प्रतिपाद्य विषय के सम्यक् परिज्ञान के हेतु गीतिकाव्य का स्वरूप और उसके विकास का अध्ययन यहाँ आवश्यक हो जाता है।

संस्कृत-साहित्य में महाकाव्य, खण्डकाव्य, मुक्तक, नाटक, चम्पू इत्यादि की सुन्दर व्याख्याएँ मिल जाती हैं किन्तु गीतिकाव्य की स्पष्ट परिभाषा नहीं मिलती। फिर भी जब गीतिकाव्य की परम्परा पर विचार होता है तब ऋग्वेद की ऋचाओं, कालिदास के नाटकों, गीत-गोविन्द के पद्यों इत्यादि का उल्लेख होता ही है। व्याख्या की खोज में अनुसन्धाता प्राकृत और अपभ्रंश की ओर मुड़ता है। वहाँ भी गीत ही मिलते हैं, गीतिकाव्य का शास्त्रीय निरूपण नहीं। हिन्दी में विद्यापति के पद हैं, सूर, तुलसी और मीरा के पद हैं किन्तु विवेचन मध्य-काल में भी उपलब्ध नहीं होता। हाँ, आधुनिक काल में गीत खूब लिखे गये और व्याख्या तथा परिभाषाएँ भी प्रस्तुत हुईं किन्तु आधुनिक गीतों की मान्यता चाहे भारतीय हो तथापि हैं वे पश्चिमी 'लिरिकल पोइट्री' से प्रभावित, अतः

हिन्दी में जब गीतिकाव्य की परिभाषा बनी तब 'लिरिकल पोइट्री' की व्याख्या उपेक्षित न हो सकी । प्रथम मूल अर्थ में 'लिरिकल पोइट्री' ऐसी कविता की जिसकी रचना 'लायर' नामक वाद्य-यन्त्र के साथ गाये जाने के लिए की जाती थी । कालान्तर में तीव्र वैयक्तिक रागात्मक अनुभूति से अनुप्राणित कोई भी ऐसी कविता जो आकार में छोटी तथा भाषा के सारल्य के साथ संगीतात्मकता से युक्त हो 'लिरिकल पोइट्री' कही जाने लगी । अस्तु, हिन्दी में भी परम्परागत पद-साहित्य से भिन्न ऐसे गीत लिखे जाने लगे जो राग-रागिनियों के बन्धन से मुक्त होकर भी वैयक्तिक तत्त्व और आंतरिक संगीत-योजना के कारण प्रगीत मुक्तक कहे जाने लगे ।

परिभाषा

आधुनिक हिन्दी गीतिकाव्य में 'लिरिकल पोइट्री' की यह विशेषता प्रायः सर्वमान्य है । उदाहरणार्थ डा० श्यामसुन्दर दास के शब्दों में 'आत्माभिव्यंजन सम्बन्धी कविता गीतकाव्य में ही अधिक लिखी गयी है । छोटे छोटे गेय पदों में मधुर भावनापन्न आत्म-निवेदन स्वाभाविक भी जान पड़ता है । ऐसे पदों में शब्द की साधना के साथ स्वर (संगीत) की साधना का उत्कृष्ट हो सकती है ।'१ पण्डित रामदहिन मिश्र ने उपर्युक्त विशेषताओं में कल्पना की रमणीयता एवं अभिव्यक्ति का कलापूर्ण होना आवश्यक मानकर कुछ हेर फेर के साथ प्रायः उसी को दुहरा दिया है ।२ यद्यपि इस शब्द-योजना में गीतिकाव्य की नई भाषा अपेक्षाकृत अधिक सजीव हो गई है । बाबू गुलाबराय ने काव्य के रूपों का विवेचन करते हुए गीतिकाव्य के जिन तत्त्वों का उल्लेख किया है उनमें संगीतात्मकता कोमलकान्त पदावली निजी रागात्मकता संक्षिप्तता

१—बाबू श्यामसुन्दरदास कृत 'साहित्यालोचन' पृष्ठ १११ छठी आवृत्ति

२—"जिस गीति कविता में शब्दों की सुन्दर ध्वनि सुकुमार संदर्भ सरस सुन्दर तथा मधुर शब्द कोमल कल्पना संगीतात्मक एवं अनुभूति की विवृति भावानुकूल भाषा और कलापूर्ण अभिव्यक्ति हो वह गीति कविता प्रशंसनीय है" - 'काव्य दर्पण' पृष्ठ—१९६, तृतीय संस्करण

और भाव की एकता को आवश्यक माना है ।[1] इसमें कोई सन्देह नहीं कि गीतिकाव्य के ये अनिवार्य तत्त्व हैं किन्तु परिभाषा की दृष्टि से सुश्री महादेवी वर्मा के निम्नस्थ शब्द इस सम्बन्ध में अधिक महत्त्वपूर्ण जान पड़ते हैं

'साधारणतः गीत व्यक्तिगत सीमा में तीव्र सुख-दुःखात्मक अनुभूति का वह शब्द-रूप है जो अपनी ध्वन्यात्मकता में गेय हो सके ।'[2]

महादेवीजी ने अपनी परिभाषा में न्यूनतम शब्दों में अधिकतम अर्थ भर दिया है। प्रस्तुत शब्द गीतिकाव्य के स्वरूप को स्पष्ट करता हुआ काव्य के अन्य रूपों से उसका भेद भी स्पष्ट कर देता है अतः इस परिभाषा की व्याख्या यहाँ आवश्यक जान पड़ती है ।

व्यक्तिगत सीमा

गीतिकाव्य की व्यक्तिगत सीमा के सम्बन्ध में यह स्पष्ट हो जाता है कि काव्य के दो प्रमुख भेदों—विषयिप्रधान (Subjective) और विषय प्रधान (Objective)—में से यह विषयिप्रधान काव्य के अन्तर्गत आता है। विषयप्रधान काव्य में कवि अपने चारों ओर फैले हुए समाज की बात कहता है। वहाँ उसका सम्बन्ध मात्र बहिर्जगत से रहता है। कवि के व्यक्तिगत विचारों अथवा मनोभावों से उसका सीधा सम्बन्ध नहीं होता। नाना रूपात्मक जगत का जो प्रतिबिम्ब उसके हृदय पर पड़ता है अपनी आत्मा को प्रच्छन्न रखते हुए—उसी की अभिव्यक्ति वहाँ उसे अभीप्सित होती है किन्तु विषयि प्रधान कविता में कवि अपने ही अन्तर्जगत की अभिव्यक्ति करता है। वहाँ वह प्रच्छन्न नहीं रहता प्रत्यक्ष हो जाता है। कवि को उसमें अपनी ही बात कहनी होती है अतः बाह्य जगत से प्रेरित कवि की अनुभूति भी उसके हृदय के रंग में रंग उठती है। यही कारण है कि गीतिकाव्य को वैयक्तिक आत्माभिव्यंजक निजी भावात्मकता से युक्त अन्तर्जगत का परिचायक भावानुभूति

१—बाबू गुलाबराय कृत काव्य के रूप पृष्ठ—१२२ द्वितीय संस्करण

२—दृष्टव्य – महादेवी का विवेचनात्मक गद्य (संग्रहकर्त्ता श्री गंगाप्रसाद पाण्डेय) पृष्ठ—१४८

अन्तर परस्पर में सूक्ष्म अवश्य है । एक की सीमाएँ दूसरे की सीमाओं को इतनी दूर तक छूती हैं कि दोनों में स्पष्ट भेद करना कठिन है और कभी कभी तो भेद किया भी नहीं जा सकता ।

इस कठिनाई के निराकरण के हेतु एक अन्य तर्क उपस्थित किया जाता है कि गीत में टेक होती है मुक्तक रचना में इसकी आवश्यकता नहीं होती । परीक्षा की कसौटी पर यह तर्क भी खरा नहीं उतरता । गीत में टेक है तो ठीक है नहीं तो गीत या किसी भी मुक्तक रचना की पहली पंक्ति टेक बन सकती है अतः भेदीकरण के हेतु टेक पर टिकने से भी समस्या की कुंजी हाथ नहीं लगती । वस्तुतः ये सब बातें गीतिकाव्य की गेयात्मकता से सम्बन्धित हैं इसी कारण महादेवीजी ने गीतिकाव्य को अपनी ध्वन्यात्मकता में गेय कहा है ।

ध्वन्यात्मकता में गेय

वैयक्तिक रागात्मक अनुभूति की अपेक्षाकृत अधिक तीव्रता के कारण गीति काव्य मुक्तक काव्य से पृथक् है । जिसकी भावात्मकता गीतिकाव्य में अधिक तीव्र होती है साथ ही गीतिकाव्य ध्वन्यात्मकता से गेय भी होता है । तात्पर्य यह कि गीतिकाव्य में ध्वन्यात्मकता का जो आग्रह है वह आन्तरिक संगीत का भी है । जहाँ आन्तरिक संगीत विद्यमान होता है वहाँ उसे बाह्य संगीत से संयुक्त कर देना कठिन नहीं है । कुशल कवि की कृति में सदैव वातावरण के अनुकूल शब्द-योजना रहती है । कवि वर्ण्य-विषय का शब्द-चित्र ही उपस्थित नहीं करता शब्दों की ध्वन्यात्मकता से उसके भाव-स्वरूप को भी अभिव्यक्ति प्रदान करता है और यदि वैयक्तिक रागात्मक आवेग उपर्युक्त विशेषताओं से संयुक्त हो तब तो सोने में सुगन्ध आ जाती है । प्रस्तुत प्रबन्ध के प्रथम परिच्छेद में संगीत और कविता के अन्योन्याश्रित सम्बन्ध को स्पष्ट करते समय अनुकूल शब्द-योजना द्वारा समुचित भावात्मक सौन्दर्य की सर्जना पर विचार किया जा चुका है अतः यहाँ उसकी पुनरुक्ति अनावश्यक प्रतीत होती है ।

गीतिकाव्य भावनाओं का शब्द रूप है । भावना के आवेश में शब्दावली जहाँ सरल होती है वहाँ तरल भी होती है । उस समय विचारशीलता प्रबल न होने के कारण किसी प्रकार की बनावट या पाण्डित्य-प्रदर्शन की इच्छा बलवती नहीं रहती । कल्पना जटिलता या दुरूहता को बहुत पीछे छोड़ती हुई भावानुभूति सीधे-सादे शब्दों में निःसृत हो जाती है । ऐसे स्थल भावना-सिक्त होने

के कारण सरल होते हैं। भावावेग में प्रायः कण्ठ गद्गद् हो जाता है। क्रोध के आवेग में वाणी लड़खड़ा जाती है। प्रेम-प्रीति का तो कहना ही क्या है। भावोद्रेक में वाणी की विवशता किसी से छिपी नहीं रहती। पशु पक्षी तक भी इसे व्यक्त कर सकते हैं। तीव्र सुख दुःखात्मक अनुभूति का स्वर गेय नहीं है।

निष्कर्ष

उपर्युक्त अध्ययन के निष्कर्ष-स्वरूप गीतिकाव्य के आवश्यक तत्त्व निम्नलिखित हैं

१ गीतिकाव्य अन्तर्जगत् की निर्मल तथा भावातिरेकपूर्ण अभिव्यक्ति है।

२ इसका आकार छोटा होता है।

३ इसमें किसी एक ही भाव की अभिव्यक्ति होती है तथा उसका प्रभाव समीकृत होता है।

४ इसमें भाव का माधुर्य एवं भावों का सामञ्जस्य आद्यन्त विद्यमान रहता है।

५ गीतिकाव्य संगीतात्मकता से ओतप्रोत होता है।

गीतिकाव्य की ये सभी विशेषताएँ अनिवार्य हैं। इनमें से एक के भी कम होने पर गीतिकाव्य की गुरुता में अन्तर आ जाता है और जहाँ ये सभी विद्यमान हैं वहाँ गीतिकाव्य के विषय में सन्देह नहीं रहता। अतः रीतिकालीन कवियों के अनेक ऐसे कवित्त-सवैये जो यद्यपि शिल्पविधान की दृष्टि से पद शैली के अनुरूप नहीं आते किन्तु गीतिकाव्य की उपर्युक्त सभी विशेषताओं से युक्त हैं अवश्य ही गीतिकाव्य की परिधि में आ जायेंगे तथा सूर और तुलसी के अनेक ऐसे पद जो यद्यपि शिल्प-विधान की दृष्टि से सफल हों पर वहाँ गान के अधिकारी हैं यदि गीतिकाव्य की उपर्युक्त विशेषताओं से रहित हैं तो वे नाम मात्र के पद हैं अन्यथा गीत नहीं। सूर के सागर में ऐसे भी पद हों यह बात नहीं क्योंकि कोरे कीर्तनों की उसमें हैं। फिर भी 'सूरसागर' हिन्दी-पद-साहित्य का मुकुट माना जाता है। इसका कारण यही है कि उसके अधिकांश पद तीव्र वैयक्तिक रागात्मक अनुभूति से अनुप्राणित एवं संगीतात्मकता से ओतप्रोत हैं। आन्तरिक संगीत ही नहीं उनमें बाह्य संगीत का भी प्रायः युक्तियुक्त विधान है। पद शब्द का प्रयोग यहाँ जान बूझ कर किया जा रहा है क्योंकि सूर ने अपने

स्वतः पूर्ण होती है। मुक्तक में प्रसंग के औचित्य अथवा अनौचित्य का निर्णय कठिन होता है तथा श्रावक पाठक या श्रोता से यह आशा की जाती है कि वह अपनी ओर से समुचित कल्पनाओं एवं परिस्थितियों का यथा-स्थान निवेश कर लेगा। सहृदय व्यक्ति में ऐसी क्षमता होती है जिसके द्वारा वह जीवन के आह्लाद और विषाद को बुद्धि द्वारा ग्रहण कर लेता है। हिन्दी का पद-साहित्य मुक्तक ही है। 'सूरसागर' या तुलसी की गीतावली जैसी रचनाओं में तो निश्चित कथा रमणता का आश्रय है ही किन्तु जहाँ नहीं भी है वहाँ रसमय प्रसंग का आकर्षण श्रोता या पाठक की कल्पना को स्वतः ही ऐसा केन्द्रित कर लेता है कि वह इधर उधर भटकने नहीं पाती तथा रस-लोभी सहृदय—थोड़ी देर के लिए ही सही—बुद्धि का सहारा लेकर प्रसंग को औचित्य प्रदान कर देता है और इस प्रकार अपनी रस-लोभी वृत्ति को सन्तुष्ट कर लेता है।

श्रव्य और दृश्य

लोक अथवा साहित्यिक गेय प्रबन्धों के श्रव्य और दृश्य दो भेद और हो सकते हैं तथापि ये भेद साहित्यिक प्रबन्धों की अपेक्षा लोक प्रबन्धों में ही अधिक स्पष्ट हैं। नौटंकी, स्वांग इत्यादि ऐसे ही लोक प्रबन्ध हैं जो गेय तो हैं ही लोक-रंगमंच पर खेले जाने के लिए भी प्रधानतः रचे भी जाते हैं। इनमें पात्रों के क्रिया-कलाप वार्तालाप आदि सभी कुछ गीतात्मक होते हैं। आगरा, मथुरा, हाथरस, भरतपुर, धौलपुर इत्यादि स्थानों में नगाड़े की चोट के साथ चौबोले आज भी सुनायी दे जाते हैं और ऐसे गीतात्मक कथा प्रवाह में मग्न श्रोता खाना-पीना और सभी कुछ भूलकर रात रात भर बैठे रहते हैं।

साहित्यिक गेय प्रबन्धों के दृश्य भेद में प्रसाद की 'करुणालय', श्री मैथिलीशरण गुप्त का 'अनघ' या भगवती चरण वर्मा कृत 'तारा' इत्यादि रचनाओं का नाम लिया जा सकता है। पात्रों का वार्तालाप इनमें भी गीतमय होता है परन्तु इनका अभिनय साधारण नाटकों की अपेक्षा कठिन होता है। हिन्दी में रंगमंच का भी अभाव है और जब साधारण नाटकों के लिए ही रंगमंच की कमी खटकती है तब गीति-नाटकों के लिए उपयुक्त रंगमंच की व्यवस्था का निश्चय ही कठिन काम है। गीति-नाटक टेलीविजन तथा रेडियो के लिए अवश्य उपयोगी सिद्ध हो रहे हैं। यद्यपि रेडियो से प्रसारित होने पर ये सर्वथा श्रव्य बन जाते हैं दृश्य नहीं रहते क्योंकि रेडियो में पात्रों के व्यापार की कमि

व्यक्ति की ध्वनि से ही हो जाती है तथापि गीति-नाटकों में व्यापार गौण एवं अन्तर्द्वन्द्व प्रमुख होने के कारण यह कमी विशेष नहीं खटकती।

गीति-नाटक के ही निकट की वस्तु नाट्य कविता (Dramatic poem) है, किन्तु इसमें गीति-नाट्य की अपेक्षा नाट्य तत्त्व की न्यूनता रहती है। इसमें निहित अभिनेयता का रसास्वादन भी पढ़कर ही प्राप्त हो जाता है। पंचवटी प्रसंग (निराला) नाट्य कविता का सुन्दर उदाहरण है। इस प्रकार की रचनाओं में नाट्य-तत्त्व के अभाव को गीतितत्त्व के सम्मिश्रण से दूर करने का प्रयास सन्निहित रहता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि काव्य के विभिन्न रूपों में गीतितत्त्व किस प्रकार और किस सीमा तक अनुस्यूत है। नाटकों में तो प्रारंभ से ही गीतों का समावेश रहा है। जनता के मनोरंजन एवं तरल भावों के सेचन के हेतु नाटक में गीत अपरिहार्य से ही हैं। गीति-नाट्य में भी जहाँ भावों का आवेग प्रबल हो जाता है वहीं लेखक गीतों का समावेश करने लगता है। इधर आधुनिक काल में जो महाकाव्य लिखे गए उनमें भी गीतों का प्रयोग किया गया है और वह सर्वथा सफल भी हुआ है। साकेत एवं 'कामायनी' के गीत इस कथन की सबल पुष्टि करते हैं। उपन्यास और कहानी में गीतों को सुविधा कम रहती है। गद्य की सहज बौद्धिकता में गीत भली भाँति खप नहीं पाते अत कहानी और उपन्यास में यदा कदा ही कोई गीत मिले तो मिले अन्यथा गीति काव्य के लिये ये अधिक अनुकूल नहीं हैं।

गीतिकाव्य की कसौटी

काव्य के विभिन्न रूपों में जो गीति-तत्त्व उपलब्ध है उनमें कहीं वैयक्तिकता का आग्रह है तो कहीं संगीतात्मकता का। सौ बात की एक बात तो यह है कि वैयक्तिक रागात्मक अनुभूति की संगीतमय अभिव्यक्ति ही गीतिकाव्य की वास्तविकता है अतः यदि यह प्रश्न उपस्थित किया जाय कि क्या मात्र संगीतात्मकता गीतिकाव्य की अन्यतम कसौटी है तो उत्तर अवश्य ही नकारात्मक होगा। इसी प्रकार केवल वैयक्तिकता भी गीतिकाव्य की एक मात्र परख नहीं है। कलाकार का—साहित्यकार का—व्यक्तित्व उसकी कला से सर्वथा पृथक नहीं रह सकता। अभिव्यक्ति में उसकी कला की विशेषताएँ समाहित हो ही जाती हैं। यह बात दूसरी है कि कहीं कलाकार प्रत्यक्ष रहता है तो कहीं प्रच्छन्न अतः काव्य के सभी रूपों में थोड़ी बहुत वैयक्तिकता रहती ही है। इसलिए न तो मात्र वैयक्तिकता

और न केवल संगीतात्मकता गीतिकाव्य की एकमात्र कसौटी है। आवश्यकता है दोनों की और केवल आवश्यकता ही नहीं दोनों का सुन्दर समन्वय भी वांछनीय है। हृदय-घट में न समा सकने पर जब अन्तर का आकुल उच्छ्वास अपनी सम्पूर्ण मादकता तरलता मार्मिकता और स्निग्धता के साथ संगीतात्मक अभिव्यक्ति बनकर फूट पड़ता है तभी वह गीतिकाव्य की कसौटी पर खरा उतरता है।

आत्मनिष्ठा और संगीतात्मकता का सुन्दर समन्वय कोई विरला ही कर पाता है अतः विशिष्ट प्रतिभा-सम्पन्न कवि और वह भी गीतिमय भाव (Lyrical Mood) में विभोर होने पर ही उत्तम गीत लिख सकता है। प्रायः होता यह है कि कहीं संगीत-तत्त्व अधिक हो जाता है तो कहीं आत्मनिष्ठा का पलड़ा भारी दिखायी देने लगता है। अनुपात की इस विषमता के कारण गीत और गीतकारों के यथोल्लिखित चार वर्ग बन सकते हैं।

१ अतीव साधारण कोटि के गान वे हैं जिनमें न तो अनुभूति की विभूति है और न संगीततत्त्व की मनोरमता।
२ दूसरी श्रेणी के गीत वे हैं जिनमें संगीतात्मकता का विधान तो दर्शनीय होता है किन्तु अन्तर्जगत की अभिव्यक्ति मार्मिक नहीं होती। भाव का यहाँ अभाव ही दिखायी देता है।
३ तीसरा वर्ग उन गीतों का है जो निजी रागात्मकता के माधुर्य से तो ओत प्रोत होते हैं किन्तु उनमें संगीत-तत्त्व निर्बल होता है।
४ चौथा और सर्वश्रेष्ठ वर्ग उन गीतों का है जो सहज अन्तःप्रेरणा की आवेग-दीप्ति से अनुप्राणित एवं हृदय-स्पर्शी संगीतात्मकता से परिपूर्ण होकर मनुष्य पर वह छाप की तरह मर्मस्पर्शी बन जाते हैं। यहाँ साधारणीकरण की प्रक्रिया से सार्वजनीन बनी हुई तीव्र रागात्मक अनुभूति संगीतात्मक परिवेश धारण करके अपने बल पर आप ही रीझ उठती है और नाद (स्वर-संगीत) की मादकता के आवेश में छिपा का अवगुण्ठन हटाकर अपनी भाव भंगिमा व्यंजना और संकेतों को निस्संकोच होकर व्यक्त करने लगती है। इसी का नाम शुद्ध गीति-काव्य है।

मानव हृदय कभी सुख के उन्माद से भर उठता है तो कभी दुःख से क्षुब्ध भी हो जाता है। दुःख सुखात्मक यह अनुभूति भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है।

१ द्रष्टव्य—संगीत पत्रिका वर्ष १६, १६ प्रथम अंक रहा

वस्तुतः विषयिप्रधान काव्य के प्रकार भी अनेक हैं। पाश्चात्य काव्य-शास्त्र में भी इसके 'हिम्स' 'पैट्रियाटिक सौन्ग' लव-लिरिक्स 'एलिजी' 'ओड' 'सौनेट' कलेक्टिव लिरिक्स इत्यादि भेद हैं। इस प्रकार के विभिन्न गीतों में परोक्ष सत्ता के प्रति श्रद्धांजलि राष्ट्रीय भावना प्रेम शोक सम्बोधन उत्सव उल्लास इत्यादि की अभिव्यक्ति होती है।

अंगरेजी-साहित्य से प्रभावित होकर हिन्दी में भी इनके अनुकरण पर कुछ गीत लिखे गए हैं। उदाहरणार्थ 'उपाधि' का प्रदीप है[1] 'ओड' की शैली पर लिखा हुआ गीत है। 'सरोज स्मृति'[2] 'एलिजी' के ढंग पर लिखा शोक-गीत है। प्रभाकर माचवे ने 'सौनेट' के अनुकरण पर चतुर्दशपदियाँ लिखी हैं। राष्ट्रीय गीतों की भी हिन्दी में कमी नहीं है और प्रेम तथा सौन्दर्य तो गीति काव्य की प्रमुख अभिव्यक्ति है ही।

अंगरेजी-ढंग के कुछ गीत ऐसे भी हैं जो भारतीय संस्कृति अथवा हिन्दी की निजी प्रकृति में भली भाँति खप नहीं सके। उदाहरणार्थ 'कोर्टिंग लिरिक्स' का हिन्दी में प्रचलन न हो सका। 'सौनेट' भी हिन्दी के अनुकूल नहीं है। उर्दू में मर्सिये पर्याप्त हैं पर हिन्दी में शोकगीत थोड़े ही मिलेंगे। प्रायः प्रेम करुणा दुःख दैन्य वेदना देश भक्ति आत्मनिवेदन दार्शनिक एवं धार्मिक भाव इत्यादि को ही लेकर हिन्दी में गीत लिखे जाते हैं।

---

१ दिनकर।
२ निराला।

हिन्दी गीतिकाव्य का संक्षिप्त इतिहास

(रीतिकाल से पूर्व तक)

(ख)

ऐतिहासिक दृष्टि से हिन्दी गीतिकाव्य की परम्परा वैदिक काल से स्थापित होती है किन्तु गीतिकाव्य के सम्बन्ध में आज जो धारणाएँ एवं उसके मुख्य स्वरूप के सम्बन्ध में जो मान्यताएँ हैं व उस युग में दृष्टिगोचर नहीं होतीं— हो भी नहीं सकतीं क्योंकि गीतिकाव्य ने अब जो स्वरूप प्राप्त कर लिया है वह उसके क्रमिक विकास का ही परिणाम है।

वैदिक युग

वैदिक युग के ऋषियों की जो अनुभूति तत्कालीन साहित्य में अभिव्यक्त हुई है उसमें जिज्ञासा एवं सहज कुतूहल से युक्त दार्शनिक दृष्टिकोण विशेष सबल है। प्रकृति के साहचर्य में उनकी चेतना क्रमशः विकसित होती स्पष्ट दिखायी देती है। प्रकृति का सौम्य और मनोरम रूप जहाँ उन्हें आत्मविभोर करके साक्षात्कार कराता था वहाँ वे उसके रौद्र और भयानक रूपों से भी परिचित थे। उनकी श्रद्धा और विश्वास की भावना ने जागरूक होकर प्रकृति की विभिन्न शक्तियों में देवताओं की स्थापना की और उस युग का मानव अपनी मंगल कामना के लिए इन्द्र१, सूर्य१, अग्नि१ इत्यादि का गुणगान कर उठा।

---

१ यः पृथिवीं व्यथमानामदृंहद्

यः पर्वतान्प्रकुपिताँ अरम्णात्।

यो अन्तरिक्षं विममे वरीयो

यो द्यामस्तभ्नात्स जनास इन्द्रः॥

(हे मनुष्यो जिसने कम्पित पृथ्वी को और पर्वतों को अचल बनाकर स्थिर कर दिया जिसने आकाश को सीमित किया गगन मंडल को अनुपम

तत्कालीन आर्य अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के हेतु इन प्रकृतिनिर्मित देवताओं के वन्दन-स्तवन में लगे हुए थे । उनके सामने भारत की असन्त उर्वरा और विस्तीर्ण भूमि थी जो पयस्विनी सरिताओं से सिंचित होकर प्रचुर मात्रा में खाद्य सामग्री धान्य उत्पन्न कर रही थी अतः वैदिक साहित्य में पृथ्वी पर मातृत्व का भाव भी आरोपित हो गया था । इसी भावना को भावपूर्ण और मर्मस्पर्शी प्रदान करते हुए अथर्ववेद का ऋषि भी गा उठा

'माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः ।'[1]

अम्बर की अमराई के मनोरम कुसुम से शोभायमान अम्बर पति से दिक्प्रान्त का अतिक्रमण करती हुई उषा सुन्दरी को देखकर उपासक ऋषियों के कल्पनाशील कवि-मस्तिष्क में 'सत्य' का भाव भर उठा और उनके हृदय की काव्यपूर्ण आदर्शप्रियता सहज-विनिमुक्त भावाकुलता की अभिव्यक्ति कर उठी । चित्त चकित करने वाले इस बात के सहज आरम्भ से दूर गया गन्ध प्रभव के आवरण से रहित सत्यद्रष्टा ऋषियों की सीधी-सादी यह अभिव्यक्ति सहृदय संवेद्य है

या वा बोधयन्त सूनृता याति प्रभूवती ।
अश्मन्ती अदिते स्तोमैरुत उरस्तात्पर्ति वयितम् ॥
ऋ० १।४८।२

चित दिया, यही इष्ट है ।)

ऋग्वेद ६ । सू० १२ । मं० २

२ पूषन्तव व्रते वयं न रिष्येम कदाचन ।
स्तोतारस्त इह स्मसि ॥

(हे पूषन् ! देखो हम तुम्हारे उपासक हैं ऐसी कृपा करो कि हम तुम्हारे राज्य में निर्भय निवास कर सकें ।)

ऋग्वेद ६ । सू० ५४ । मं० ९

३ ये शुभ्रा घोरवर्पसः सुक्षत्रासो रिशादसः
मरुद्भिरग्न आ गहि ॥

(तेजपूर्ण और भयंकर आकृति वाले शुद्ध बालक, अपने शत्रुओं का भक्षण करने वाले हैं अग्नि मरुद्गण सहित पधारो ।)

ऋग्वेद १ । सू० १९ । मं० ५

१ अथर्ववेद १२ । १ । १२

उषा आ भाहि भानुना चन्द्रेण दुहितर्दिवः ।
आवहन्ती भूर्यस्मभ्यं सौभगं व्युच्छन्ती दिविष्टिषु ॥

ऋ० १।४८।९

विश्वस्य हि प्राणनं जीवनं त्वे वि यदुच्छसि सूनरि ।
सा नो रथेन बृहता विभावरि श्रुधि चित्रामघे हवम् ॥

ऋ० १।४८।१०

विश्वा देवाँ आ वह सोमपीतयेऽन्तरिक्षादुषस्त्वम् ।
सास्मासु धा गोमदश्वावदुक्थ्यमुषो वाजं सुवीर्यम् ॥

ऋ० १।४८।१२

यस्या रुशन्तो अर्चयः प्रति भद्रा अदृक्षत ।
सा नो रयिं विश्ववारं सुपेशसमुषा ददातु सुग्म्यम् ॥[1]

ऋ० १।४८।१३

उषा के आगमन को इन मेधावी ऋषियों ने जिस दृष्टि से देखा है उस में उनके अन्तर की संवेदनात्मक अनुभूति साफ झलक उठी है। उषा का यह संचालन निःशब्द है किन्तु फिर भी उसकी आहट से निद्रामग्न खगकुल जाग कर कलरव कर उठता है। उषा के स्तवन में उन्होंने जिन विशेषणों का प्रयोग एवं स्पन्दनशील शब्द-योजना से जिस संगीतात्मक प्रभाव की सृष्टि की है वह उनकी काव्य कुशलता, संगीतप्रियता और गहरी भावुकता का ठोस प्रमाण है। लय, तुक इत्यादि से उत्पन्न गीतों जैसा सहज प्रवाह यहाँ चाहे दृष्टिगोचर न हो किन्तु अन्तर्वेदना की अभिव्यक्ति और रस प्रतीति असंदिग्ध है। गीतिकाव्य के तत्त्व यहाँ उभरते हुए देखे जा सकते हैं।

उन दिनों यज्ञारम्भ के समय वैदिक ऋचाओं के सस्वर पाठ की प्रथा प्रचलित हो चुकी थी। इन गीत रूप मन्त्रों का ही नाम 'साम' था। धीरे धीरे साम-संख्या में वृद्धि हुई, उसकी गायन पद्धति का स्वरूप निश्चित हुआ और साम गीतों एवं उनके शास्त्रीय व्याख्यान के समुच्चय को 'सामवेद' कहा जाने लगा।[2] इसी सामवेद का उपवेद गन्धर्व वेद है जिसमें संगीत के साथ नाट्य का भी विवे

---

१ देखिए नागरी प्रचारिणी पत्रिका वर्ष ५५ अंक ४ (संवत् २००७) का 'वैदिक साहित्य की काव्योन्मुखता' शीर्षक लेख।

२ छान्दोग्य उपनिषद्, सामसंहिता, ताण्ड्य ब्राह्मण, नारदीयशिक्षा इत्यादि ग्रन्थ इस सम्बन्ध में द्रष्टव्य हैं।

बन हुआ । यजुर्वेद आयुर्वेद इत्यादि ग्रन्थों को देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि उस काल में वेद शब्द किसी भी उच्चकोटि के विषय के पूर्णज्ञान का बोधक बन गया था अतः गन्धर्व वेद उस महत्वपूर्ण संगीत का आधार है जो वेदार्चन से पृथक था और जिसका उद्देश्य प्रधानतः मनोरंजन था । इस प्रकार प्राचीन काल से ही संगीत के दो रूप दृष्टिगोचर होते हैं । एक वह जो आगे चलकर पद भजन इत्यादि के रूप में विकसित हुआ और दूसरा वह जो शुद्ध मनोरंजन के उद्देश्य से जन-मन-रंजन करता रहा ।

महाकाव्य काल

वैदिक साहित्य के पश्चात् महाकाव्य काल (Epio Period) आरम्भ होता है । काम-मोहित क्रौंच के वध और उसकी माता के करुण विलाप से व्यथित महर्षि वाल्मीकि की गीली आँखों से जब एक दिन अनजाने ही चुपचाप कविता बह उठी तब उनका शोक ही श्लोक बन गया । यह था गीत में छन्द ताल और लय का समावेश । आदि कवि के आदि काव्य की रचना जब पूर्ण हो चुकी तब उसमें निहित इस नूतन संगीतात्मक प्रवाह के कारण ही लवकुश ने उसे भगवान् राम के सामने गाया था ।

रामायण की अपेक्षा महाभारत में वर्णन का आग्रह कहीं अधिक है । इसी में मोह-विमूढ़ अर्जुन को भगवान् कृष्ण ने जो उपदेश दिया है वही आज 'गीता' के नाम से सुप्रसिद्ध है । 'गीता' शब्द का अर्थ ही है जो 'गायी गयी' हो किन्तु व्यास ने महाभारत में जिस स्थल पर इसका समावेश किया है उससे सहसा यह विश्वास नहीं होता कि युद्ध का वह समय गाने के लिए विशेष अनुकूल रहा होगा । ऐसा प्रतीत होता है कि उस युग में देवत्व से विभूषित अथवा अवतार रूप समझे जाने वाले व्यक्तियों के उपदेशात्मक वचनों को श्रद्धा एवं आदर से प्रेरित होकर गीता कह दिया जाता था ।[२]

श्री मद्भगवद्गीता में सुन्दर काव्यत्व और संगीतात्मक प्रवाह विद्यमान है । अर्जुन ने यहाँ मोह-ग्रसित होकर अपने खिन्न मन के विषाद और क्षोभ की अभिव्यक्ति की है यहाँ कतिपय स्थलों में गीतिकाव्य की बीजभूमिका भी परि

---

१ विष्णु पुराण में 'यमगीता' मिलती है । राम ने लक्ष्मण को जो उपदेश प्रदान किया है उसे भी 'लक्ष्मण गीता' कहा जाता है ।

मधित होने लगती है फिर भी 'गीता' में दार्शनिक स्वर इतना प्रबल है कि वहाँ उसका वादी स्वर बन बैठा है अतः वर्तमान दृष्टिकोण से गीतिकाव्य में कवि की जिस अन्तर्भावना की अपेक्षा है वह 'गीता' में उपलब्ध नहीं होती।

गीतिकाव्य के ऐतिहासिक अध्ययन में श्री मद्भागवत' भी उपयोगी रचना है। इसमें वेणुगीत १ प्रणयगीत गोपिका-गीत ३ युगलगीत४ इत्यादि कतिपय सुन्दर गीत मिलते हैं। इन गीतों में जिस तीव्र अनुभूति की अभिव्यंजना हुई है वह गीतिकाव्य की दृष्टि से मार्मिक है।

गीतिकाव्य के विकास क्रम में वैदिक साहित्य के पश्चात् बौद्ध साहित्य की थेर गाथाओं (अथवा थेरि गाथाओं) का स्थान आता है। पालि भाषा में लिखे हुये श्लोक गाथा कहलाते हैं। इन गाथाओं की रचना भिक्षुओं द्वारा प्रायः शतक-काव्य-शैली पर हुई है। इनमें बुद्ध-धर्म के मूल सिद्धान्तों एवं वैराग्यमूलक मनोवृत्ति के प्रति आकर्षण भिक्षुओं (अथवा भिक्षुणियों) की तन्मयता की आवेगपूर्ण अभिव्यक्ति दृष्टिगोचर होती है।५

संस्कृत-साहित्य

कालिदास के नाटकों में भी सुन्दर गीतों का समावेश हुआ है। अभिज्ञान शाकुन्तलम् के पंचम् अंक में 'लय ताल के साथ अत्यन्त मीठे स्वरों में

---

१ श्रीमद्भागवत १०-२२ १५
२ वही १०-२९ ३४
३ वही १० ३१ ४
४ युगल गीत १० ३५ ४
५. मंडूपमे विविध रोग निवास भूते
काये सदा रुधिरमुत्तकरीसपुण्णे ।
यो पुरव नगीत नरो सनिमात भवस्स
गाम्हं हि सीवति परत्थ स बालबुद्धि ।

तेलकटाहगाथा ६६

(घोड़े के समान विविध रोगों के निवासस्थान रुधिर मूत्र मल इत्यादि से भरे घृणास्पद द्वारा भरण इस शरीर को देखकर जो व्यक्ति आनन्दित होता है वह अवश्य परलोक में दुःख पाता है।)

*दैन्य से’ जो गीत गाया गया है उसमें सचमुच प्रेम की धारा बह उठी है ।*१ कालिदास के नाटकों में जो गीत आये हैं वे प्रायः प्राकृत में हैं । सम्भवतः इस का कारण यह है कि स्वाभाविकता की दृष्टि से एक ओर तो कालिदास ने स्त्रियों को प्रायः प्राकृत और पुरुष पात्रों को संस्कृत बोलते हुये दिखाया है तथा *दूसरी बात यह भी हो सकती है कि स्त्री-पात्रों का गाना अधिक स्वाभाविक प्रतीत* होता है ।

कालिदास के मेघदूत में हृदय की गहरी अनुभूति मार्मिकता से व्यक्त हुई है किन्तु इसमें वर्णन का आग्रह कुछ अधिक हो जाने से सच्चे अर्थों में मेघदूत को गीतिकाव्य कहने में संकोच हो सकता है, फिर भी मेघदूत में अनेक ऐसे स्थल मिल जाते हैं जहाँ गीतिकाव्य के तत्व मुखर हैं ।२

संस्कृत में गीतिकाव्य का सुन्दर स्वरूप जयदेव कृत 'गीत-गोविन्द' में मिलता है । अपनी इस रचना से जयदेव ने गीतिकाव्य परम्परा में वस्तुतः क्रान्ति उत्पन्न कर दी है । सम्भवतः पद-लालित्य, राग रागिनियों से युक्त संगीत की मधुरता, भावावेग आदि गुण जैसा 'गीतगोविन्द' में परिलक्षित होता है वैसा पूर्ववर्ती गीति-साहित्य में दृष्टिगोचर नहीं होता । अनेक स्थलों पर छन्द से सर्वथा स्वतन्त्र 'प्रबन्ध' लिखकर जयदेव ने गीतिकाव्य को जो स्वरूप प्रदान किया

---

१ द्रष्टव्य—श्री सीताराम चतुर्वेदी द्वारा सम्पादित कालिदास ग्रन्थावली के अभिज्ञान शाकुन्तलम् का पृष्ठ–७६, द्वितीय संस्करण

२ कालिदास ग्रन्थावली

त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैः शिलायाम्
आत्मानं ते चरण पतितं यावदिच्छामि कर्तु म् ॥
अस्रैस्तावन्मुहुरुपचितैर्दृष्टिरालुप्यते मे
क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते संगमं नौ कृतान्तः ॥

शिखरिणी

शिला पै धातू सौं कुपित ललना तोहि लिखि कै ।
पर्यो चाहौं ज्यौं हूँ तब चरण तेरे शरण में ॥
चलें आँसू तौलौं दृगनमग रोकें उमगि कै ।
नहीं भाता क्यों ही बहुरि, हम काहू विधि मिलें ॥

कालिदास कृत 'मेघदूत' का हिन्दी अनुवाद (अनुवादक राजा लक्ष्मण सिंह) पृष्ठ–११४ संस्करण १९८१ विक्रमी

इसमें मानव मात्र के हृदय की तरल अनुभूति वेगवती सरिता के समान प्रवाहित हो उठी है। धर्म सम्प्रदाय भक्ति इत्यादि को बहुत दूर रखकर शुद्ध काव्य की दृष्टि से भी 'गीत गोविन्द' का रसास्वादन किया जा सकता है और जो वैष्णव जन हैं उनके लिए तो जयदेव का गान पावन ही नहीं पतित-पावन भी है।[1] फिर भी 'गीत गोविन्द' आद्यन्त गीतिकाव्य की मनोरमता से समवेत नहीं।[2] वर्णन का विशेष आग्रह और संवाद 'गीत गोविन्द' के गीतों को कभी कभी गीतिकाव्य और गीतिनाट्य के बीच की वस्तु बना देते हैं। अर्थात् यहाँ कवि की पूर्ण अविकरण निष्ठा सर्वत्र दृष्टिगोचर नहीं होती तथा अनेक गीत नाटकीय प्रणाली की ओर उन्मुख से प्रतीत होते हैं।

संस्कृत साहित्य के उत्तर काल में अधिकतर मुक्तक पद लिखे गये जिनमें प्रधानतः शृंगार की ही अभिव्यक्ति हुई। यह सम्भवतः आर्य जाति का आभीर जाति के सम्पर्क में आने का परिणाम था। आभीर जाति जीवन का उद्देश्य 'खाओ पियो और मौज उड़ाओ' मानती थी फलतः उसके सम्पर्क में आकर आत्म-चिन्तन में लीन रहने वाली आर्य-जाति भी शृंगारिक गीत गा उठी तथा मनोरंजन की दृष्टि से भी संगीत का महत्त्व बढ़ा। शनैः-शनैः यह प्रवृत्ति संस्कृत से स्वतन्त्र होती हुई अपभ्रंश भाषा में आ गयी।

अपभ्रंश साहित्य

लगभग विक्रम की सातवीं शताब्दी से अपभ्रंश की रचनाएँ उपलब्ध होने लगती हैं। बौद्धों के वज्रयान शाखा के सिद्धों की रचनाएँ अपभ्रंश में ही लिखी गयीं। वज्रयान सम्प्रदाय के बौद्ध तांत्रिकों के गीतों में डोमिनी रजकी

---

१ अथ तृतीय प्रबन्धो वसन्तरागेण रूपकतालेन गीयते ॥

अष्टपदी

ललित लवङ्गलता परिशीलन कोमल मलय समीरे।
मधुकर निकरकरम्बितकोकिल कूजित कुञ्ज कुटीरे॥
विहरति हरिरिह सरसवसन्ते।
नृत्यति युवति जनेन समं सखि विरहिजनस्य दुरन्ते॥

इत्यादि

जयदेव कृत 'गीत गोविन्द' पृष्ठ १८

२. द्रष्टव्य—वही पृष्ठ- ३ ४ ५ और ६

चमारी इत्यादि जाति की किसी सुन्दरी के साथ विहार और मद-सेवन की चर्चा खुलकर हुई है ।१

गोरखनाथ के नाथपन्थ का मूल भी बौद्ध वज्रयान शाखा ही है तथापि नाथपन्थ में वज्रयानी सिद्धों जैसी बीभत्सता नहीं आ सकी । इस पन्थ में ईश्वरवाद को स्वीकार करके हठयोग-साधना अग्रसर हुई थी । नाथपन्थियों की भाषा सधुक्कड़ी है तथा इसका ढाँचा खड़ी बोली मिश्रित राजस्थानी है । इनके पदों में प्राण आत्मा मन पवन नाद, सुरति निरति तथा पिंगला सुषुम्ना गुरु-महिमा माया 'बिन्दु' मूर्तिपूजा के निषेध इत्यादि साधना-मूलक बातों का वर्णन मिलता है ।२

नाथपन्थी योगियों और सहजयानियों में उलटबाँसियों का खूब प्रचलन थी । हिन्दी की ज्ञानाश्रयी शाखा के सन्तों पर नाथपन्थियों और सिद्धों का पूर्ण प्रभाव परिलक्षित होता है,३ अतः हिन्दी गीतिकाव्य का उद्गम अपभ्रंश-साहित्य

---

१ आलो डोंबि ! तोए सम करिब म साँग ।
निघिण कण्ह कपाली जोइ लाग ॥
एक सो पदमा चोषट्ठि पाखुडी ।
तहिं चढि नाचअ डोंबी बापुडी ॥
हालो डोंबी ! तो पुछमि सदभावे ।
आइससि जासि डोंबी काहरि नावें ॥
(कण्हपा)

द्रष्टव्य आचार्य शुक्ल कृत 'हिन्दी साहित्य का इतिहास,
पृष्ठ १२, संस्करण संवत् १९९९

२ कैसे बोलौं पंडिता देव कौने ठाईं
निज तत निहारतां अम्हें तुम्हें नाहीं ॥ टेक ॥
पषाणची देवली पषाणचा देव
पषाण पूजिला कैसे फीटीला सनेह ॥ टेक ॥

डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल द्वारा सम्पादित 'गोरखबानी' पृष्ठ-१११

३ 'यदि कबीर आदि निर्गुणमतवादी सन्तों की वाणियों की बाहरी रूप रेखा पर विचार किया जाय तो मालूम होगा कि यह सम्पूर्णतः भारतीय है और बौद्धधर्म के अन्तिम सिद्धों और नाथपन्थी योगियों के पदादि से उसका

का गीतिकाव्य ही है।

आगे हमें यहाँ जैन अपभ्रंश काव्य पर भी विचार कर लेना समीचीन जान पड़ता है। ये जैन रचनाएँ उस युग की भाषागत प्रवृत्तियों के अध्ययन में तो सहायक हैं ही साथ ही तत्कालीन लोकभाषा के काव्य-रूपों को भी मनि कोष में स्पष्ट कर देती हैं।

जैन गीतिकाव्य का एक उत्तम संग्रह 'ऐतिहासिक जैन-काव्य संग्रह' शीर्षक से वि० सं० १९९४ में प्रकाशित हुआ था।[1] इसमें बारहवीं शताब्दी से लेकर बीसवीं शताब्दी तक की रचनाएँ संगृहीत हैं। इनमें से बहुत से गीत भिन्न-भिन्न राग-रागिनियों में भी हैं। राहुल जी ने 'काव्यधारा' में और भी बहुत सी जैन रचनाओं का उल्लेख किया है। इन गीतों का विषय साम्प्रदायिक भक्ति अथवा महापुरुष-कीर्ति-स्मरण है।

वीरगाथा काल

हिन्दी-गीतिकाव्य की पूर्व पीठिका के रूप में अपभ्रंश काल की ये रचनाएँ उपयोगी हैं। सं० १ ५० से १४० तक का समय हिन्दी-साहित्य में वीरगाथा काल कहलाता है। यद्यपि राजनीतिक परिस्थितियों के कारण यह युग गीतिकाव्य के विशेष अनुकूल नहीं है तथापि पहले से जो परम्परा चली आ रही थी उसका सम्बन्ध—मुख्यतः अपभ्रंश की भाषागत प्रवृत्तियों का सम्बन्ध—यहाँ जुड़ा हुआ दिखायी देता है। राजस्थान उन दिनों राजनीति और यु द्धों का केन्द्र बना हुआ था अतः कविगण अपने आश्रयदाताओं के युद्धों, आखेटों विवाहों इत्यादि के वर्णन में ही तल्लीन थे।

इस युग में गीतिकाव्य का कोई निश्चित तथा परिमार्जित रूप उपलब्ध

सीधा सम्बन्ध है। वे ही पद, वे ही राग रागिनियाँ वे ही दोहे वे ही चौपाइयाँ कबीर आदि ने व्यवहार की हैं जो उक्त मत के मानने वाले उनके पूर्ववर्ती संतों ने की थीं। क्या भाव क्या भाषा क्या अलंकार क्या छंद क्या पारिभाषिक शब्द सर्वत्र वे ही कबीरदास के मार्गदर्शक हैं।

डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी कृत हिन्दी साहित्य की भूमिका,
पृष्ठ ११ प्रथम संस्करण

१ सम्पादक—अगरचन्द नाहटा भंवरलाल नाहटा
(कलकत्ता से प्रकाशित)

नहीं । एक तो वीरगाथा काल से सम्बद्ध ग्रन्थ ही थोड़े मिलते हैं दूसरे जो हैं भी उनकी प्रामाणिकता में बड़ा सन्देह है । अमीर खुसरो और विद्यापति की रचनाओं को छोड़कर इस काल में किसी ऐसे कवि की रचनाएँ नहीं मिलतीं जिनका अध्ययन करने के लिए ग्रहण किया जा सके अथवा जिन्हें गीतिकाव्य की दृष्टि से कोई विशिष्ट पद प्राप्त हो सका हो । चन्द कृत 'पृथ्वीराज रासो' की प्रामाणिकता संदिग्ध है । 'बीसलदेव रासो' भी अब अप्रामाणिक माना जाने लगा है । जगनिक के 'आल्ह खण्ड' में वीर भावों की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है, किन्तु सैकड़ों वर्षों से उसका मौखिक रूप ही प्रचलित है, अतः अपने मूल रूप में वह भी सुरक्षित नहीं है।

अमीर खुसरो

अमीर खुसरो (सं० १३१० से १३८२ तक) ने साहित्य को मनोविनोद की दृष्टि से अपनाया । खुसरो जिस प्रकार उच्चकोटि के कवि थे उसी प्रकार अपने युग के श्रेष्ठ संगीतज्ञ भी थे अतः उन्होंने काव्य-रचना के साथ संगीत को भी नूतन प्रवृत्ति की ओर उन्मुख किया । उनके दोहों में संगीत और काव्य का सुन्दर समन्वय हुआ है ।१

विद्यापति

विद्यापति के मनोरम पदों में हमें शुद्ध रागात्मक भावों की संगीतात्मक अभिव्यक्ति प्राप्त होती है । गीतिकाव्य की दृष्टि से विद्यापति पर जयदेव का प्रभाव माना जाता है, किन्तु यह कथन पूर्णतः युक्तियुक्त नहीं है । विद्यापति संस्कृत के विद्वान थे अतः उन्होंने अपने पूर्ववर्ती कवि जयदेव की अमर रचना 'गीत गोविन्द' को अवश्य पढ़ा होगा । विद्यापति ने संस्कृत में नहीं देसिल

---

१ भैरव-त्रिताला कव्वाल

हजरत महबूब इलाही निजाम दीन औलिया
घर मेरी शरम ।
इमाम अलाउद्दीन शाह फरीद शकरगंज अमीर
खुसरो [illegible] ।

श्री कृष्णानन्द व्यास कृत 'राग कल्पद्रुम' (रागाध्याय)
पृष्ठ-७४ जिल्द १

देसिल बयना सब जन मिट्ठा' में अपने गीत लिखे अतः जन साधारण से उनका सम्बन्ध अक्षुण्ण बना रहा। संगीत की दृष्टि से उन्होंने राग रागिनियों और विभिन्न तालों का प्रयोग न करके लोकगीतों को ही अपनाया था। यही कारण है कि उनके गीत आज भी मिथिला में खूब प्रचलित हैं। तात्पर्य यह है कि विद्यापति के गीतों में चाहे 'गीतगोविन्द' के अनुकरण पर राधा-कृष्ण की रस-धारा भले ही हो गयी हो किन्तु विद्यापति के कृष्ण वस्तुतः शृंगार रस के देवता कृष्ण हैं भक्ति के आलम्बन कृष्ण नहीं। महाप्रभु चैतन्य जैसे भक्तों को उनके पदों में भक्तिरस की अथाह सरिता बहती हुई दिखायी दे सकती थी किन्तु आज के युग में ऐसे भक्तों की प्रचुरता नहीं है। विद्यापति के पदों में यौवन उल्लास प्रणय विरह इत्यादि की जो आवेगपूर्ण तथा संगीतात्मक अभिव्यक्ति हुई है वह भावुक हृदयों को सहज ही अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है।[1] अतः इसमें कोई सन्देह नहीं कि हिन्दी में विद्यापति के गीत अभूतपूर्व और अनुपमेय हैं। विद्यापति को आलोचक अभिनव जयदेव मानें या न मानें परन्तु उनके पदों से हिन्दी में गीतिकाव्य की अभिनव परम्परा का शुभारम्भ अवश्य हुआ।

ज्ञानाश्रयी शाखा

वीरगाथा काल की समाप्ति के पश्चात् पूर्व मध्यकाल में निर्गुण ज्ञाना-

---

१ जनम होअए जनु जौं पुनि होई
जुबती भए जनमए जनु कोई॥
होइए जुबति जनु हो रसमंति।
रसओ बुझए जनु हो कुलमंति।
इ मन मांगओं विहि एक पए तोहि।
थिरता दिहह अवसानहु मोहि॥
मिलि सामी नागर रसधार।
परबस जनु होए हमर पियार।
होए परबस बुधि बुझए विचारि।
पाए विचार हार कओन नारि।
भनइ विद्यापति अछ परकार।
दंद-समुद होअ जीव दए पार।
श्री रामवृक्ष बेनीपुरी द्वारा सम्पादित 'विद्यापति की पदावली'
पृष्ठ १६१ चतुर्थ संस्करण

श्रयी धारा के कवियों का समय आता है। आचार्य शुक्ल के अनुसार[1] सिद्धों एवं निर्गुणियों के बीच की कड़ी महाराष्ट्र के सन्त और प्रसिद्ध भक्त नामदेव हैं जिनका समय कबीर से लगभग सौ वर्ष पूर्व माना जाता है। इन्होंने मराठी में अभंग लिखे और हिन्दी में पद। इनकी रचनाओं में जहाँ एक ओर प्राचीन भक्ति-सम्प्रदाय का अनुसरण दृष्टिगोचर होता है वहाँ दूसरी ओर निर्गुण पन्थ के ढंग की उक्तियाँ भी उपलब्ध होती हैं। नामदेव ने अपने सगुणोपासना रूप में अवतार लीला का कीर्तन और भगवान् की भक्तवत्सलता का वर्णन बड़ी तन्मयता से किया है।[2]

निर्गुण पन्थ को एक निर्दिष्ट स्वरूप प्रदान करने का श्रेय कबीर को है। उस युग की राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों से प्रेरित होकर कसाई, जुलाहा, नाई, भाट, चमार, मोची इत्यादि प्रायः निम्न वर्गों की जातियों में से अनेक धर्मोपदेशक उठ खड़े हुए थे जिनकी मान्यताओं में सामान्य सा अन्तर तो अवश्य दिखायी देता है किन्तु स्थूल रूप से उनकी विचारधारा कबीर के ही समान थी। इन सन्त कवियों ने जहाँ-जहाँ अपनी सच्ची अनुभूति को रागात्मक आवेग से व्यक्त कर दिया है वहाँ-वहाँ उनके सीधे-सादे शब्दों में हृदय को स्पर्श करने की अनुपम क्षमता भी आ गयी है, किन्तु जहाँ केवल शुष्क उपदेश अथवा विधि-निषेध की बातें या कोरा खण्डन-मण्डन है वहाँ उनके पद चाहे बाहरी रूपरेखा में भले ही गीत हों परन्तु गीतिकाव्य की मार्मिकता उनमें नहीं है। इड़ा-पिंगला की नीरस रट किसी सच्चे गीत का प्राण नहीं बन सकती फिर भी चाहे सम्पूर्ण सन्त-साहित्य को काव्य की दृष्टि से महत्त्व प्रदान न

---

1. देखिए 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' पृष्ठ ८१
संस्करण सं० १९९९

2. अम्बरीष को दियो अभयपद राज विभीषन अधिक करयो।
नवनिधि ठाकुर दई सुदामहिं, ध्रुव जो अटल अजहूँ न टरयो।
भगत हेत मारयो हरनाकुस, नृसिंह रूप ह्वै देह धरयो।
नामा कहै भगति बस केसव अजहूँ बलि के द्वार खरो॥

आचार्य शुक्ल कृत 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' पृष्ठ-७८ (संस्करण सं० १९९९) से उद्धृत

किया जा सके किन्तु कबीर१ धर्मदास २ नानक३ रैदास,४ इत्यादि सन्त कवियों के कुछ पद ऐसे अवश्य हैं जिन्हें गीतिकाव्य में स्थान प्रदान किया जा सकता है।

---

१ करम गति टारे नाहिं टरी।
मुनि वसिष्ठ से पण्डित ज्ञानी सोधि के लगन धरी।
सीता हरन मरन दसरथ को बन में बिपति परी॥
कहँ वह फंद कहाँ वह पारधि कहँ वह मिरग चरी॥
सीता को हरि लैगो रावन सुबरन लंक जरी।
नीच हाथ हरिचन्द बिकाने बलि पाताल धरी।
कोटि गाय नित पुन्न करत नृप गिरगिट जोनि परी॥
पांडव जिनके आपु सारथी तिन पर बिपति परी।
दुरजोधन को गरब घटायो जदुकुल नास करी॥
राहु केतु और भानु चन्द्रमा बिधि संजोग परी।
कहत कबीर सुनो भई साधो होनी होके रही॥

श्री रामनरेश त्रिपाठी द्वारा सम्पादित 'कविता कौमुदी' (पहला भाग—हिन्दी) पृष्ठ—१२८ १६६ पाँचवां संस्करण

२ मितऊ मड़ैया सूनि करि गैलो।
अपन बलम परदेस निकरि गइलो हमरा के कछु न गुन दै गैलो॥
जोगिन ह्वै के मैं बन बन ढूँढ़ौं हमरा के बिरह बैराग दै गैलो॥
संग की सखी सब पार उतरि गैलो हम धन ठाढ़ी अकेली रहि गैलो।
धरम दास यह अरज करतु हैं सार सबद सुमिरन दै गैलो।

श्री रामनरेश त्रिपाठी द्वारा सम्पादित 'कविता कौमुदी' (पहला भाग-हिन्दी) पृष्ठ १९८ पाँचवां संस्करण

३ सुमिरन करले मेरे मना।
बीति जाति उमर हरिनाम बिना।
कूप नीर बिन धेनु छीर बिन मन्दिर दीप बिना।
जैसे तरवर फल बिन हीना तैसे प्राणी हरिनाम बिना॥
देह नैन बिन रैन चंद बिन धरती मेह बिना।
जैसे पंडित बेद बिहीना तैसे प्राणी हरनाम बिना।
काम क्रोध मद लोभ निहारो छांड़ दे अब संतजना।

प्रेममार्गी शाखा

भक्तिकाल की निर्गुण निर्झरिणी द्विविध धाराओं में प्रवाहित हुई। ज्ञानमार्गी सन्तों से केवल मुक्तक रचनाएँ मिलीं और कम से कम बाह्य शिल्प विधान (फॉर्म) की दृष्टि से तो उनमें से अधिकांश रचनाएं गीतिकाव्य का ही रूप ग्रहण किये हुए हैं। इधर प्रेममार्गी सूफी कवियों ने प्रबन्ध-काव्य-शैली का अनुसरण किया अतः उनकी रचनाओं में गीतिकाव्य की शैली के अनुरूप संक्षिप्तता किसी एक ही भाव की आवेशपूर्ण अभिव्यक्ति आत्मविस्मृति इत्यादि बातें न आ सकीं फिर भी सूफी कवि प्रेम की पीर को लेकर चले अतः उनके प्रबन्ध काव्यों में अनेक स्थल ऐसे मिल जाते हैं जहां हृदय की मार्मिकता का सहज उच्छलन दर्शनीय है।१ ऐसे स्थलों में गीतिकाव्य के तत्व स्पष्ट चमकने तो लगते हैं किन्तु कथा-प्रवाह में वे शीघ्र ही डूब भी जाते हैं, फिर भी गीतिकाव्य की दृष्टि से प्रेम की विभिन्न अन्तर्दशाओं की अभिव्यक्ति इन कवियों की रचनाओं में निश्चय ही हृदयस्पर्शी है।

निर्गुण धारा में अवगाहन करके साधारण जनता की बुद्धि को थोड़ी बहुत सन्तुष्टि अवश्य प्राप्त हुई, किन्तु यह धारा हृदय को रससप्लावित न कर सकी। हृदय की पूर्ण तुष्टि के लिए जैसा आलम्बन अपेक्षित है वैसा न तो ज्ञानमार्गी शाखा के कवियों के पास था और न प्रेममार्गी कवियों के पास। इस परिस्थिति ने प्राचीन भक्ति-स्वरूप की कांति धूमिल कर दी, परिणामतः निर्गुणधारा

कहै 'नानक शाह' सुन अवधूता या जग में नहिं कोई अपना।
वही पृष्ठ-१७२, १७३

४ नरहरि चंचल है मति मोरी।
कैसे भगति करूँ मैं तोरी ॥ (टेक)
तू मोहिं देखै हौं तोहिं देखूं प्रीति परस्पर होई।
तू मोहिं देखै तोहिं न देखूं यह मति सब बुधि खोई ॥
'रैदास जी की बानी' पृष्ठ-७
(बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग)

१ 'यह तन जारौं छार कै कहौं कि 'पवन ! उड़ाव'।
मकु तेहि मारग उड़ि परै कंत धरै जहं पाँव ॥'
आचार्य शुक्ल द्वारा सम्पादित 'जायसी ग्रन्थावली,'
पृष्ठ-१७७ द्वितीय संस्करण

किया जा सके किन्तु कबीर१ धर्मदास २ नानक३ रैदास ४ इत्यादि सन्त कवियों के कृत पद ऐसे पदरत्न हैं जिन्हें गीतिकाव्य में स्थान प्रदान किया जा सकता है।

---

१ करम गति टारे नाहिं टरी।
मुनि वसिष्ठ से पंडित ज्ञानी सोधि के लगन धरी।
सीता हरन मरन दसरथ को बन में बिपति परी॥
कहँ वह फन्द कहाँ वह पारधि कहँ वह मिरग चरी॥
सीता को हरि लैगो रावन सुबरन लंक जरी।
नीच हाथ हरिचन्द बिकाने बलि पाताल धरी।
कोटि गाय नित पुन्य करत नृप गिरगिट जोनि परी॥
पाण्डव जिनके आपु सारथी तिन पर बिपति परी।
दुरजोधन को गरब घटायो जदुकुल नास करी॥
राहु केतु और भानु चन्द्रमा बिधि संजोग परी।
कहत कबीर सुनो भई साधो होनी होके रही॥
श्री रामनरेश त्रिपाठी द्वारा सम्पादित 'कविता कौमुदी' (पहला भाग—हिन्दी) पृष्ठ–११८, ११६ पाँचवां संस्करण

२ मितऊ मड़ैया सूनि करि गैलो।
अपना बलम परदेस निकरि गैलो हमरा के कछु गुन दै गैलो॥
जोगिन होइ के मैं बन बन ढूढ़ों हमरा के बिरह बैराग दै गैलो॥
सँग की सखी सब पार उतरि गैलो हम धन ठाढ़ी अकेली रहि गैलो।
धरम दास यह अरज करतु हैं सार सबद सुमिरन दै गैलो।
श्री रामनरेश त्रिपाठी द्वारा सम्पादित 'कविता कौमुदी' (पहला भाग हिन्दी) पृष्ठ ११८ पाँचवां संस्करण

१ सुमिरन करले मेरे मना।
तेरि बीती जाति उमर हरिनाम बिना।
कूप नीर बिन धेनु छीर बिन मन्दिर दीप बिना।
जैसे तरवर फल बिन हीना तैसे प्रानी हरिनाम बिना॥
देह नैन बिन रैन चंद बिन धरती मेह बिना।
जैसे पंडित बेद बिहीना तैसे प्रानी हरनाम बिना।
काम क्रोध मद लोभ निहारो छाँड़ि दे अब संतजना।

प्रेममार्गी शाखा

भक्तिकाल की निर्गुण निर्झरिणी द्विविध धाराओं में प्रवाहित हुई। ज्ञानमार्गी सन्तों ने केवल मुक्तक रचनाएं लिखीं और कम से कम बाह्य शिल्प विधान (फॉर्म) की दृष्टि से तो उनमें से अधिकांश रचनाएं गीतिकाव्य का ही रूप ग्रहण किये हुए हैं। इधर प्रेममार्गी सूफी कवियों ने प्रबन्ध-काव्य-शैली का अनुसरण किया फलतः उनकी रचनाओं में गीतिकाव्य की शैली के अनुरूप संक्षिप्तता किसी एक ही भाव की आवेशपूर्ण अभिव्यक्ति आत्म-विस्मृति इत्यादि बातें न आ सकीं फिर भी सूफी कवि प्रेम की पीर को लेकर चले अतः उनके प्रबन्ध काव्यों में अनेक स्थल ऐसे मिल जाते हैं जहां हृदय की मार्मिकता का सहज उच्छलन दर्शनीय है।१ ऐसे स्थलों में गीतिकाव्य के तत्त्व स्पष्टतः चमकने तो लगते हैं, किन्तु कथा प्रवाह में वे शीघ्र ही डूब भी जाते हैं फिर भी गीतिकाव्य की दृष्टि से प्रेम की विभिन्न अन्तर्दशाओं की अभिव्यक्ति इन कवियों की रचनाओं में निश्चय ही हृदयस्पर्शी है।

निर्गुण धारा में अवगाहन करके साधारण जनता की बुद्धि को थोड़ी बहुत सन्तुष्टि अवश्य प्राप्त हुई, किन्तु यह धारा हृदय को रसप्लावित न कर सकी। हृदय की पूर्ण तुष्टि के लिए जैसा आलम्बन अपेक्षित है वैसा न तो ज्ञानमयी धारा के कवियों के पास था और न प्रेममार्गी कवियों के पास। इस परिस्थिति ने प्राचीन भक्ति-स्वरूप की कांति धूमिल कर दी, परिणामतः निर्गुणधारा

कहे 'नानक था' सुन भगवंता या जग में नहिं कोई अपना।
वही पृष्ठ-१७२, १७३

४ नरहरि चंचल है मति मोरी।
कैसे भगति करूं मैं तोरी॥ (टेक)
तू मोहि देखै हौं तोहि देखूं प्रीति परस्पर होई।
तू मोहि देखै तोहि न देखूं यह मति सब बुधि खोई॥
'रैदास जी की बानी' पृष्ठ-७
(बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग)

१ 'यह तन जारौं छार कै कहौं कि पवन! उड़ाव।
मकु तेहि मारग उड़ि परै कंत धरै जहं पाव॥
आचार्य शुक्ल द्वारा सम्पादित 'जायसी ग्रन्थावली'

के समानान्तर सगुणधारा भी प्रवाहित हो चली । सूर, तुलसी और मीरा के युग में इसी धारा ने पूरे जन-मानस को हरा भरा कर दिया । इस युग में भक्ति-विभोर कवियों ने रामानुजाचार्य वल्लभाचार्य आदि विभिन्न महात्माओं से प्रेरणा प्राप्त करके मुक्तकण्ठ से सगुण-लीला-पदों का गान किया । उनकी भक्ति का आलम्बन थे राम और कृष्ण ।

राम-भक्ति-शाखा

कृष्ण-भक्ति-शाखा में अनेक सिद्ध गायक और कवि हुए, किन्तु राम भक्ति-शाखा में तुलसी के अतिरिक्त स्वामी अग्रदास नाभादास प्राणचन्द चौहान इत्यादि दो चार ही कवियों के नाम गिनाये जा सकते हैं ।

गीतिकाव्य की दृष्टि से तुलसी की 'गीतावली' 'कृष्ण-गीतावली' 'विनय-पत्रिका' 'राम लला नहछू' 'जानकी मंगल' पार्वती मंगल' इत्यादि रचनाएँ उल्लेखनीय हैं । इनमें से अन्तिम तीन पुस्तकें तो ठेठ अवधी में लिखी गयी हैं ग्रामगीतों के ढंग की रचनाएँ हैं जिन्हें तुलसी ने संस्कारों के अवसर पर गाने के लिए लिखा था ।१ प्रथम तीन का निर्माण विद्यापति और सूरदास की गीत-शैली पर हुआ और वे ब्रजभाषा में लिखी गयीं ।

'नहछू' और दोनों 'मंगल' स्त्री-समाज में गाये जाने वाले गीतों की शैली पर लिखे गये हैं । वस्तुतः देवी-देवताओं का यश-वर्णन करने के लिए उपाख्यानमूलक अथवा विवाहपरक मंगल काव्यों के लिखे जाने की प्रथा तुलसी के पूर्व भी विद्यमान थी । तुलसी ने जब 'छाजी छबरी सोहर उपजान' इत्यादि कहने वालों पर व्यंग किया था तब मंगल काव्य भी उनकी दृष्टि से ओझल न थे ।१ उत्तर प्रदेश में मुख्यतः पूर्वी अंचल में सोहर (गीत) खूब प्रचलित हैं ।

१　"शास्त्रीय रागरागिनियों के अतिरिक्त तुलसीदास ने स्त्री समाज में गाये जाने वाले गीतों का भी अच्छा अध्ययन किया था और उन्होंने 'जानकी मंगल' 'पार्वती मंगल' और 'राम लला नहछू' की रचनाएँ, स्त्री-गीतों ...में की थी हैं ।"

श्री रामनरेश त्रिपाठी कृत 'तुलसीदास और उनकी कविता

भाग दूसरा पृष्ठ-१८७ प्रथम संस्करण

द्रष्टव्य—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी कृत 'हिन्दी साहित्य का आदि काल' पृष्ठ-१०३ १०४ प्रथम संस्करण

प्रायः पुत्र-जन्म यज्ञोपवीत अथवा विवाहादि के अवसर पर स्त्रियाँ सोहर गाती हैं ।१ इस प्रकार के गीतों में कुछ न कुछ अश्लीलता प्रायः रहती है, अतः इस कथन में पर्याप्त बल है कि 'नहछू' की रचना विवाहादि के अवसर पर गन्दे गीतों के स्थान पर गाने के लिए हुई थी ।२ दोनों मंगलों का उद्देश्य यही प्रतीत होता है कि ये विवाह के अवसर पर गाये जायें ।३ मंगलों में तुलसीदास जी ने अरुण (११+९) और हरिगीतिका (१६+१२) छन्दों का प्रयोग किया है ।

श्री रामनरेश त्रिपाठी ने 'तुलसीदास और उनकी कविता' शीर्षक अपनी पुस्तक के दूसरे भाग (पृष्ठ ६७९—६८७) में तुलसीदास के संगीत ज्ञान के सम्बन्ध में बहुत कुछ लिखा है । अन्य अनेक आलोचकों ने भी उन्हें संगीत-कला का प्रकाण्ड पण्डित कहा है ।४ किन्तु इन आलोचनाओं में तुलसी के संगीत-ज्ञान की व्याख्या न तो युक्तियुक्त है और न सारगर्भित । श्री त्रिपाठी जी ने तुलसी के एक पद के राग-शीर्षक का औचित्य सिद्ध करने के लिए 'संगीत-दर्पण' का उद्धरण उपस्थित किया है ।५ किन्तु 'संगीत-दर्पण' तुलसी के बहुत बाद की रचना है । यदि 'संगीत-दर्पण' की अपेक्षा तुलसी के समकालीन किसी प्रामाणिक ग्रंथ का आधार उपस्थित किया जाता तो उनका तर्क अधिक सबल हो सकता।

---

१ "यह छन्द आनन्दोत्सव या विवाहादि के अवसरों पर स्त्रियों द्वारा गाया जाता है ।"
डा० रामकुमार वर्मा कृत 'हिन्दी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' पृष्ठ-१६५ प्रथम संस्करण

२ "गोसाईं जी ने इसे वास्तव में विवाह के समय के गन्दे नहछुओं के स्थान पर गाने के लिए बनाया है ।"
बाबू श्याम सुन्दर दास और श्री पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल कृत 'गोस्वामी तुलसी दास, पृष्ठ-९६ प्रथम संस्करण

३ "संवत् १६१६ में तो गोसाईं जी ने उन्हें केवल परिमार्जित किया जिससे वे विवाहादि के अवसर पर गाये जाकर मंगलकारी सिद्ध हों ।" वही पृष्ठ-९६

४ द्रष्टव्य—श्री वियोगी हरि कृत 'विनय पत्रिका की टीका' पृष्ठ-१७-२१ तृतीय संस्करण

५ तुलसीदास और उनकी कविता भाग दूसरा पृष्ठ-६८४

था। इसी प्रकार उन्होंने दो-एक अन्य पदों को लेकर यह सिद्ध किया है कि पद के किस चरण में कहाँ सम है तथा कहाँ 'हलका आलाप'।[1] किन्तु जब तक तुलसी के पदों की तुलसीकृत स्वरलिपियाँ भी उपलब्ध नहीं हो पाती तबतक दृढ़ता-पूर्वक यह कहना उचित नहीं कि तुलसी ने अमुक पद के अमुक चरण में अमुक स्थान पर ही सम हलका आलाप या मुरकी इत्यादि का प्रयोग किया था। कोई भी कुशल गायक किसी भी पद को स्वेच्छा से किसी भी राग में गा सकता है। किसी पद को मनोवाञ्छित भावात्मक या स्वरात्मक स्वरूप प्रदान कर देना उसे इच्छानुसार किसी ताल में बाँध लेना उसे मनोनुकूल आलाप इत्यादि से विभूषित कर देना कुशल गायक के लिए बायें हाथ का खेल है अतः इस संबंध में थोथी कल्पना के आधार पर स्थापित निष्कर्ष ग्राह्य और मान्य नहीं हो सकते।

/तुलसी वस्तुतः कवि दार्शनिक भक्त संगीतज्ञ समन्वयवादी समाज सुधारक इत्यादि सभी कुछ थे, किन्तु तुलसी का भक्त जितना सबल है उतना उनका अन्य रूप नहीं। संसार उनके लिए सिया राम-मय था[2] और नाते सभी थे राम से सम्बन्धित।[3] प्राकृत -जन-गुण-गान उन्हें पसन्द न था[4] अतः तुलसी की रचनाओं में सबसे प्रबल स्वर भक्ति का सुनायी देता है। उनकी भक्ति उन का परम सौभाग्य भी है और दुर्भाग्य भी। जहाँ उनकी भक्ति स्वयं उनके लिए कल्याणप्रदायिनी और निराश हिंदू जनता का एकमात्र सम्बल है वहाँ

---

१ तुलसीदास और उनकी कविता भाग दूसरा पृष्ठ-६४१

२ 'सिया राम मय सब जग जानी करौं प्रनाम जोरि जुग पानी।'
रामचरित मानस-बालकाण्ड पृष्ठ १७ (टीकाकार रामेश्वर भट्ट) संस्करण १९५५

३ 'नाते नेह राम के मनियत सुहृद सुसेव्य जहाँ लौं।
अंजन कहा आँखि जेहि फूटै बहुतक कहौं कहाँ लौं॥'
श्री वियोगी हरि कृत 'विनय पत्रिका की टीका'
पृष्ठ-६१० तृतीय संस्करण

४ 'कीन्हें प्राकृत जन-गुन-गाना सिर धुनि गिरा लगति पछिताना।'
रामचरित मानस बालकाण्ड पृष्ठ-२२ (टीकाकार रामेश्वर भट्ट) संस्करण १९५५

भक्ति की इस वेगवती सरिता में यदाकदा उनकी काव्यानुभूति डूब भी गयी है ।

'गीतावली' का एक पद है[1]

जननी निरखति बान धनुहियाँ ।
बार-बार उर नैननि लावति प्रभु जू की ललित पनहियाँ ॥

गीतिकाव्य की दृष्टि से इस पद का प्रारम्भ बड़ा ही सुन्दर है । धनुष के स्थान पर 'धनुहियाँ' शब्द का प्रयोग करके तुलसी ने बड़ी खूबी से माता के अपत्य-प्रेम को व्यक्त किया है किन्तु दूसरी ही पंक्ति मे उनकी भक्ति आड़े आ गयी है । 'प्रभु जू की ललित पनहियाँ' कहना चाहे भक्त तुलसी के लिए सर्वथा उचित हो किन्तु निश्चय ही यह भावना माता कौशल्या की नहीं हो सकती ।

तुलसी के गीतिकाव्य पर विचार करते समय निम्नस्थ प्रश्न स्वभावतः ही सामने आ खड़े होते हैं

१ तुलसी ने यद्यपि अपने युग की गीत-शैली को अपनाते हुए राग रागिनियों में ही पदों की रचना की थी किन्तु उनके पद सूर और मीरा के समान प्रचलित क्यों न हो सके ?
२ स्वभावतः मधुर ब्रजभाषा में ही यद्यपि उन्होंने भी पद लिखे किन्तु फिर भी उनके पदों को सूर जैसी लोकप्रियता प्राप्त क्यों न हो सकी ?
३ तुलसी की दार्शनिक भावनाओं ने उनकी पद-रचना में कहाँ तक व्याघात उपस्थित किया ?
४ सूर और मीरा ने अपनी अपनी भावुकता के कारण जैसी वैयक्तिकता और मर्मस्पर्शिता अपने पदों में भर दी है वैसी तुलसी क्यों न उपस्थित कर सके ?

५ गीतिकाव्य की दृष्टि से तुलसी को अपने पदों में कहाँ-कहाँ तथा किस-सीमा तक सफलता प्राप्त हुई है ?

उपर्युक्त प्रश्नों की दृष्टि से ही तुलसी के गीतिकाव्य का मूल्यांकन अधिक समीचीन होगा । तुलसी के युग में जो गीत-शैली प्रचलित थी वह तत्कालीन शास्त्रीय संगीत से पर्याप्त प्रभावित थी । उस युग की यह मनो-

---

१ द्रष्टव्य—'गीतावली' पृष्ठ-२२१, प्रथम संस्करण
(गीता प्रेस गोरखपुर)

वृत्ति को भक्त भाव के विराट् और गम्भीर स्वरूप की ओर उन्मुख थी उसी पर अपना प्रभाव डाले हुए थी। अपनी वैयक्तिक क्षमता के अनुपात और रुचि की विशिष्ट दिशा के अनुसार लोग युग-विशेष की इस मनोवृत्ति से प्रेरित थे। दरबार में संगीत यदि शुद्ध कला और तज्जन्य आनन्द की दृष्टि से समादृत था तो तल्लीनता उत्पन्न करने की अपरिमेय क्षमता के कारण स्वामी हरिदास जैसे भक्तों का कण्ठहार भी था। तुलसी ने भी आत्मकल्याण की दृष्टि से ही संगीत अपनाया था किन्तु सूर, मीरा इत्यादि की परिस्थितियाँ तुलसी से भिन्न थीं। संगीत उनके लिए भी आत्मकल्याण का साधन था किन्तु मीरा 'पग घुंघरू बांध कर गिरधर नागर' को रिझाने में मस्त थी और सूर तो श्रीनाथ जी के मन्दिर में संगीत के द्वारा ही उपासना कर रहे थे। निश्चय ही तुलसी का वातावरण इससे भिन्न था। परिणामतः क्रियात्मक संगीत में सूर और मीरा का जितना समय व्यतीत होता होगा उतना तुलसी का नहीं। इस अनिवार्य संगीताभ्यास ने सूर और मीरा के पदों में तुलसी के पदों की अपेक्षा स्वभावतः संगीतात्मक प्रवाह अधिक भर दिया और यही कारण है कि आज भी गायक सूर और मीरा के पदों को तुलसी के पदों की अपेक्षा अधिक पसन्द करते हैं क्योंकि उनमें उन्हें एक ऐसा तरल प्रवाह मिलता है जो राग-रागिनियों में अनायास ही ढल जाता है। स्वतः तुलसी पर भी सूर का गहरा प्रभाव स्पष्ट दिखायी देता है। यहाँ तक कि कुछ पद दो-चार शब्दों के हेरफेर के साथ दोनों में ही प्रायः समान हैं।[1] 'कृष्ण गीतावली' में तो तुलसी विशेष रूप से सूर के ऋणी दिखायी देते हैं। 'राम गीतावली' के उत्तर काण्ड में तुलसी के सीताराम भी राधाकृष्ण जैसा रूप ग्रहण करने लगते हैं।[2]

दूसरी बात भाषा की है। गीतिकाव्य में ब्रजभाषा का प्रयोग दोनों ने ही किया किन्तु तुलसी की भाषा सूर की अपेक्षा अधिक साहित्यिक संस्कृत-निष्ठ और कहीं-कहीं क्लिष्ट भी है। 'विनय पत्रिका' के अनेक पद—विशेषतः प्रारम्भ के पचास-साठ पद—इस कथन के प्रमाणस्वरूप उपस्थित किये जा सकते हैं।

---

१ द्रष्टव्य—डा० रामकुमार वर्मा कृत हिन्दी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास पृष्ठ-४२१ प्रथम संस्करण
सूर—खेलन चलिए बाल गोबिन्द।
तुलसी—खेलन चलिए आनन्द कन्द।

२ द्रष्टव्य—वही पृष्ठ ४२४

सूर की भाषा ब्रज की चलती हुई भाषा है अतः वह जन-हृदय के अधिक निकट है। मीरा की भाषा में यद्यपि गुजराती मारवाड़ी इत्यादि का भी पुट आ गया है किन्तु फिर भी उसका सारल्य सर्वथा अक्षुण्ण है। तुलसी की भाषा जिस सीमा तक साहित्यिक जकड़बन्दी में कसी हुई है उसी अनुपात में वह गीति काव्य के प्रतिकूल भी हो गयी है।

तुलसी की दार्शनिक विचारधारा ने भी उनके बहुत से पदों को गीतिकाव्य की सहज आवेग-कान्ति से रहित कर दिया है। दार्शनिकता मुख्यतः विचार पक्ष की वस्तु है। उसके लिए गीतिकाव्य उपयुक्त क्षेत्र नहीं है। इसी कारण तुलसी के पद—सामान्यतः साहित्यिक दृष्टि से उत्कृष्ट होते हुए भी—गीतिकाव्य के शिल्प-विधान में उतने हृदयग्राही नहीं हैं।

तुलसी की भक्ति-पद्धति दास्य-भाव की थी। 'मानस' में हनुमान और भरत दोनों का चरित्र ऐसा है जो तुलसी की भक्ति भावना को समझने में सहायक हो सकता है। ऐसी भक्ति में सर्वत्र मर्यादा का ध्यान रखना ही चाहिए और यही तुलसी ने किया भी है फलतः वैयक्तिकता का जो सहज उच्छलन मीरा या सूर में दिखायी देता है वह तुलसी में ढूँढ़े नहीं मिलता। मीरा की उपासना माधुर्य भाव की थी, इसीलिए जिस सच्ची वैयक्तिकता की गीतिकाव्य में अपेक्षा है, वह मीरा के पदों में बहुत ही स्वाभाविक ढंग से आयी है। सख्य भाव से कृष्ण की उपासना करने के कारण सूर भी बड़े कौशल से वैयक्तिकता का निर्वाह कर ले गये हैं, किन्तु निश्चय ही उनकी तल्लीनता में मीरा जैसा आवेग नहीं है और तुलसी में तो यह बात आ ही नहीं सकती थी।

फिर भी इस विवेचन का यह अर्थ नहीं कि गीतिकाव्य की दृष्टि से तुलसी सर्वथा नगण्य हैं। उपर्युक्त कथन का औचित्य केवल सापेक्षिक दृष्टि से ही निर्धारित किया जा सकता है। तुलसी की वैयक्तिकता का क्षेत्र चाहे सूर और मीरा के समान विस्तृत न हो किन्तु अपने सीमित क्षेत्र में तुलसी की वैयक्तिकता अपनी तीव्रता मर्मस्पर्शिता और प्रभविष्णुता में निर्बल नहीं है। गोस्वामी जी अपने भक्ति के स्वरूप को भलीभाँति समझते हैं और ईमानदारी के साथ उसे सरल ढंग से उपस्थित कर देना भी उन्हें खूब आता है अतः तुलसी के वे पद जिनमें उनकी दास्य भक्ति की अभिव्यक्ति हुई है बड़े सजीव बन पड़े हैं।[1]

---

१ यह पद देखिए
कबहुँक अंब अवसर पाई।
मेरिऔ सुधि द्याइबी कछु करुन कथा चलाइ।

आत्मग्लानि १ दैन्य २ वैराग्य ३ उद्बोधन ४ तथा आत्म-बोधन५ से सम्बद्ध पदों में भी उनकी मनोदशा बड़ी निश्छलता से व्यक्त हुई है।

दीन सब अंगहीन छीन मलीन अघी अघाइ।
नाम लै भरै उदर एक प्रभु-दासी-दास कहाइ॥
बूझि है 'सो है कौन' कहिबी नाम दसा जनाइ।
सुनत राम कृपालु के मेरी बिगरिऔ बनि जाइ॥
जानकी जगजननि जन की किये बचन सहाइ।
तरै तुलसीदास भव तव-नाथ-गुनगन गाइ॥

श्री वियोगीहरि कृत 'विनय पत्रिका की टीका' पद संख्या ४१
पृष्ठ ११६.४१ तृतीय संस्करण।

१ श्री वियोगीहरि कृत 'विनय पत्रिका की टीका (तृतीय संस्करण) पद संख्या-१२८, पृष्ठ १८०
'ऐसी हैं मतमति थोरि।'

२ द्रष्टव्य—वही पद संख्या १ १ पृष्ठ २६४
'जाऊँ कहाँ तजिचरण तुम्हारे।

३ द्रष्टव्य—वही पद संख्या-११६पृष्ठ-२८८
'माधव असितुम्हारि यह माया।

४ द्रष्टव्य—वही पद संख्या-१७२, पृष्ठ ४०२
'कबहुँक हौं यहि रहनि रहौंगो ?

५ द्रष्टव्य—वही पद संख्या-७६ और १३१ क्रमशः, पृष्ठ-२२१, ११७ क्रमशः

(क) 'राम को गुलाम नाम रामबोला राख्यो राम।
(ख) 'राम सनेही सों तैं न सनेह कियो।'

कृष्ण-भक्ति शाखा

हिंदी की कृष्ण-भक्ति काव्य-धारा का आरम्भ वल्लभाचार्य के समय से होता है। इस से बहुत पहले राधा कृष्ण को लेकर विद्यापति अपनी पदावली लिख चुके थे परन्तु वल्लभ-सम्प्रदाय ने राधा कृष्ण के जिस रूप की उपासना को उच्च भावभूमि पर स्थापित कर दिया था वह इससे पहले दृष्टिगोचर नहीं हुआ था।१ वल्लभाचार्य जी के सुयोग्य पुत्र और शिष्य विट्ठलनाथ जी ने कृष्ण लीला-गान के लिए ही 'अष्टछाप' की स्थापना की थी। 'अष्टछाप' के कवियों में सर्वोत्कृष्ट गायक सूरदास ही थे इसमें लेश-मात्र भी सन्देह नहीं।२ जान पड़ता है सूर की भक्ति के विशिष्ट स्वरूप में—मुख्यतः सख्यभाव की भक्ति में—

---

१ 'विद्यापति और सूरदास के गीतों में अन्तर दिखायी देता है। विद्यापति ने गीतों में श्रीकृष्ण का साहित्य-परम्परा से स्वीकृत रूप ही लिया है भक्ति के उपास्य देवता के रूप में श्रीकृष्ण और राधिका के गीत उन्होंने नहीं गाये। सूरदास की रचनाएँ भक्ति को लेकर चलीं।

श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र कृत
'वाङ्मय-विमर्श' पृष्ठ २१५
तृतीय संस्करण

२ "जयदेव की देववाणी की स्निग्ध पीयूष-धारा, जो काल की कठोरता से दब गयी थी, अवकाश पाते ही लोकभाषा की सरसता में परिणत होकर मिथिला की अमराइयों में विद्यापति के कोकिल-कण्ठ से प्रकट हुई और आगे चलकर ब्रज के करील कुंजों के बीच फैल मुरझाए मनों को सींचने लगी। आचार्यों की छाप लगी हुई आठ वीणाएँ श्रीकृष्ण की प्रेम-लीला का कीर्तन करने उठीं जिनमें सबसे ऊँची सुरीली और मधुर झंकार अन्धे कवि सूरदास की वीणा की थी।"

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा सम्पादित
'भ्रमर गीत सार' की भूमिका पृष्ठ १
२ चतुर्थ परिशोधित संस्करण

कतिपय मान्य आलोचकों की विशेष आस्था नहीं।१ इसका कारण सम्भवतः सूर की भक्ति के विभिन्न दृष्टिकोण हैं। वे कभी दास रूप में कभी सखा रूप में कभी प्रेयसी रूप में तो कभी माता-पिता के रूप में अपने भगवान् के प्रति आत्मसमर्पण करते हुए दिखायी देते हैं और रागात्मक अनुभूति की तीव्रता के साथ इन सभी रूपों में उन्होंने अपने हृदय के कोष को उन्मुक्त कर दिया है।२ यही कारण है कि एक ओर यदि वे मातृ-हृदय की सच्ची अभिव्यंजना और बालकों की मनोवृत्ति का मनोवैज्ञानिक चित्रण करने में सफल हो सके हैं तो दूसरी ओर उन्होंने युवक-युवतियों के सहज आकर्षण की अभिव्यंजना बड़ी सूक्ष्मता से की है। तात्पर्य यह कि सूर की वैयक्तिकता अपने पात्रों से पूर्ण तादात्म्य स्थापित करके पाठकों के सम्मुख उपस्थित हुई है।३

---

१ द्रष्टव्य—श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र कृत 'वाङ्मय-विमर्श' पृष्ठ-२६३ तृतीय संस्करण तथा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा सम्पादित 'भ्रमर गीत-सार की भूमिका' पृष्ठ-४४ चतुर्थ संस्करण

२ "सूरदास में विभिन्न पात्रों के माध्यम से ये सभी भाव थोड़े बहुत प्रकट हुए हैं पर मन उनका वात्सल्य सख्य और कान्ता भाव में ही रमता है।"

डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी कृत 'हिन्दी साहित्य' पृष्ठ १८२ संस्करण सं० २००६ वि०

३ "सूर की भावुकता बड़ी प्रबल है। उनके आत्मनिवेदन और विनय के पद तो निजी रागात्मकता से ओत-प्रोत हैं ही लीला सम्बन्धी पदों में भी सूर की भावुकता अपना चमत्कार दिखा रही है। स्वयं कृष्ण के बाल-वर्णनात्मक पदों में, गोपियों के विरह-वियोग में, यशोदा के विलाप और वात्सल्य में, सर्वत्र हमें सूर का हृदय स्पन्दन करता हुआ प्रतीत होता है। कृष्ण से अभिन्न मित्रता स्थापित करके ही वे अपनी भावुकता का इतना व्यापक प्रसार तथा अन्य पात्रों से तादात्म्य स्थापित कर सके हैं। सूर, श्याम अथवा सूरदास प्रभु कहकर उन्होंने अपने पदों में निजीपन की ऐसी छाप लगा दी है जो अन्य पात्रों के माध्यम से अभिव्यक्त भावनाओं को भी उन्हीं के हृदय की भावना बना देती है।

डा० विश्वम्भर नाथ भट्ट का 'रश्मि' में प्रकाशित 'हिन्दी गीतिकाव्य में सूर, तुलसी और मीरा' शीर्षक निबन्ध पृष्ठ १०(दिल्ली कालेज मैगजीन, १९५५)

सूर के पदों का संगीत-विधान भी बहुत आकर्षक है। उनके बहुसंख्यक पद ऐसे हैं जहाँ रस और पद-भाव के अनुकूल राग-शीर्षक के चयन में सूर ने अपने संगीत-ज्ञान का स्पष्ट परिचय दिया है।१ कहीं-कहीं उन्होंने अवसरानुकूल पदों के लिए समयानुकूल रागों का चयन भी किया है।२ इन सब बातों के साथ उनकी चलती हुई मधुर ब्रजभाषा ने उनके पदों की भाव-गरिमा और भी बढ़ा दी है। यही कारण है कि शताब्दियों पुराने उनके गीत आज भी अपने आकर्षण में नव बने हुए हैं।

---

१ रसानुकूल पद और राग का समन्वय इस पद में बड़ा सुन्दर हुआ है। मल्हार के स्वरों में बरसते हुए गोपियों के ये आँसू सहृदय संवेद्य हैं

'राग मल्हार'

निसि दिन बरसत नैन हमारे।
सदा रहति पावस ऋतु हम पै जब ते स्याम सिधारे॥
दृग अंजन लागत नहिं कबहूँ, उर-कपोल भए कारे।
कंचुकि नहिं सूखत सुनु सजनी! उर-बिच बहत पनारे॥
सूरदास प्रभु अंबु बढ्यो है, गोकुल लेहु उबारे।
कहँ लौं कहौं स्यामघन सुन्दर बिकल होत अति भारे॥

आचार्य शुक्ल द्वारा सम्पादित 'भ्रमर गीत सार',
पृष्ठ १२३, चतुर्थ परिशोधित संस्करण

२ "यहाँ उनका ध्यान अवसरानुकूल पदों के लिए समयानुकूल रागों को चुनना ही था। यही कारण है कि 'उठे नन्दलाल सुनत जननी मुख बानी' यह पद ललित में बाँधा गया। समय की दृष्टि से यह प्रातःकालीन सन्धिप्रकाश राग है, अतः सूर ने अपने पदों के विषय के अनुकूल ही रागों का चयन किया है। सूर्योदय के पश्चात् कृष्ण गोचारण के लिए वन में जाते हैं। इस अवसर से सम्बन्ध रखने वाले अधिकांश पद सूर ने बिलावल राग में बाँधे हैं। आजकल भी सन्धिप्रकाश रागों के पश्चात् बिलावल और उसके विभिन्न प्रकारों के गाये जाने की प्रथा है। दोपहर के समय कृष्ण के लिए छाक भेजी जाती है वन में सब ग्वाल-बाल मिलकर छाक खाते हैं। इस अवसर से

पुष्टि मार्ग में भागवत् की नवधा भक्ति का विशेष महत्त्व है। पर भक्ति में कीर्तन पर बल इस कारण अधिक दिया जाता है कि संगीत में तन्मयता प्रदान करने की जैसी शक्ति है वैसी इतर साधना में कम ही दिखायी देती है।१ संगीत की चुम्बकीय शक्ति से खिंचकर भक्त का हृदय अपने उपास्य देव की भक्ति में एक तान एक ताल और एक लय हो जाता है। सूर ने अपने पदों की रचना नहीं की वे तो अपने भगवान् के नाम गुण लीला धाम आदि का आत्मविभोर होकर यशोगान करते हैं।२ इस गान में उन्हें जैसी आनन्दानुभूति होती है वैसी जप तप और तीर्थस्थानों में भी उपलब्ध नहीं होती।३ हृदय की कोमल भावनाओं की अभिव्यक्ति में गीत-शैली कितनी सक्षम है इसका ज्वलन्त

सम्बन्धित अधिकांश पद सारंग राग में हैं। सम्भवतः वे रागों में सारंग एक प्रमुख प्रकार है।"

डा० विश्वम्भर नाथ भट्ट का 'रश्मि' में प्रकाशित 'हिन्दी गीतिकाव्य में सूर, तुलसी और मीरा शीर्षक' निबन्ध पृष्ठ-३२ (दिल्ली कालेज मेगजीन १९५२)

१ "इस प्रकार पुष्टिमार्गीय भक्ति-पद्धति में आरती और कीर्तन की परम्परा के साथ संगीत का भी सामंजस्य हो गया था। इस दृष्टि से भी सूर की रचना गेय होनी आवश्यक थी। इन्हीं कारणों से हमारे भावुक भक्त कवि ने अपने भाव गीत-शैली में ही प्रकट किये हैं। काव्य और संगीत का जैसा सामंजस्य सूर के पदों में मिलता है अन्यत्र दुर्लभ है।"

डा० हरबंश लाल शर्मा कृत 'सूर और उनका साहित्य' पृष्ठ-१२०

२ "सब बिधि अगम बिचारहि तातें सूर सगुन लीला पद गावै।"
नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित 'सूरसागर' प्रथम स्कन्ध पृष्ठ १ पदसंख्या २

३ "जो सुख होत गोपालहिं गाऐं।
सो सुख होत न जप-तप कीन्हें कोटिक तीरथ न्हाऐं।"
वही द्वितीय स्कन्ध पृष्ठ ११६ पद संख्या १४८

प्रमाण सूर के अमर पद हैं।१ उनकी गीत शैली की मनोरमता ने सभी आलोचकों को आकर्षित किया है। आचार्य शुक्ल का कथन है कि "सूर-सागर में कोई राग या रागिनी छूटी न होगी। इससे वह संगीत प्रेमियों के लिए भी बड़ा भारी खजाना है।"२ श्रीयुत मुंशीराम शर्मा ने भी यही कहा है कि 'इस सागर में ऐसी कौन सी रागिनी है जो 'सूर सागर' में न आयी हो।' कहा जाता है कि सूर के गान ऐसे राग और रागिनियों में हैं जिनमें से कुछ के तो लक्षण भी अब प्राप्त नहीं हैं। ऐसे राग रागिनियाँ या तो सूर की अपनी सृष्टि हैं या अब उनका प्रचार नहीं है।३

इन आलोचनाओं का सार सर्वथा सत्य है। इसमें सन्देह नहीं कि चित्र-प्रधान कल्पना और आवरणहीन भाव-सौन्दर्य को संगीत से समन्वित करके ही सूर ने अपनी वैयक्तिक रागात्मक वृत्ति का उदात्तीकरण किया था किन्तु यह कहना यथार्थ नहीं कि 'सूर सागर' में कोई राग रागिनी छूटी नहीं है। उदाहरण के लिए 'सरपरदा' 'साजगीरी' 'जीलफ' जैसे रागों का नाम लिया जा सकता है। इन रागों की रचना अमीर खुसरो द्वारा तेरहवीं शताब्दी में ही हो गयी थी। सूर द्वारा प्रयुक्त ऐसा कोई राग नहीं है जिसे आज के कुशल संगीतज्ञ न जानते हों तथा उनके द्वारा किसी नवीन राग की उद्भावना के सम्बन्ध में भी कोई ठीक प्रमाण उपलब्ध नहीं है। हाँ मल्हार के विभिन्न प्रकारों में सूरदासी मल्हार नामक एक राग ऐसा अवश्य है जिसे सूरदास जी द्वारा निर्मित कहा

---

१ "जितनी सफलता के साथ सूर ने विभिन्न गेय छन्दों का प्रयोग किया है उतनी सफलता के साथ अन्य कोई कवि नहीं कर सका है। उनके पदों की संगीतात्मकता सर्वतोभावेन स्तुत्य है। उनके समस्त पद संगीतमय हैं। प्रत्येक पद के साथ उसमें प्रयुक्त राग के नाम का उल्लेख इस बात का प्रमाण है।"

डा० हरवंश लाल शर्मा कृत
'सूर और उनका साहित्य'
पृष्ठ-४२८

२ 'सूरदास' पृष्ठ-२०० तृतीय संस्करण
३ 'सूर-सौरभ' पृष्ठ-१५३ तृतीय संस्करण

जाता है।[१] किन्तु सूरमल्हार का निर्माता प्रसिद्ध कवि सूरदास से भिन्न कोई अन्य व्यक्ति भी हो सकता है।[२] फिर भी इससे सूरदास की महत्ता में तिलमात्र भी अन्तर नहीं आता। हिन्दी में कृष्णकाव्य धारा का चरमोत्कर्ष सूर के पदों में ही दृष्टिगोचर होता है। यह सूर के पदों का ही आकर्षण है कि उनके बाद भी लगभग ४०० वर्षों तक ब्रजभाषा ही गीतिकाव्य की प्रमुख साहित्यिक भाषा बनी रही।

अष्टछाप के कवि

अष्टछाप के सभी भक्तों ने पद लिखकर तत्कालीन गीतिकाव्य परम्परा में योगदान दिया किन्तु जो ख्याति सूरदास को मिली वह अन्य किसी को नहीं। सूरदास के पश्चात् परमानन्ददास और चतुर्भुजदास का नाम भी उल्लेखनीय है। परमानन्ददास जी के किसी पद से वल्लभाचार्य के आनन्दविभोर हो जाने की बात सुनी जाती है[३] तथा तानसेन का गोविन्दस्वामी से प्रभावित होने का भी

---

१ द्रष्टव्य आचार्य भातखण्डे कृत 'हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति क्रमिक पुस्तक मालिका' भाग ५ पृष्ठ-२४१
'हा राग भक्त सूरदासानी निर्माण केला असें म्हणतात्।'

२ "जीवन का कोई विशेष प्रामाणिक वृत्त न पाकर इधर कुछ लोगों ने सूर के समय के आसपास के किसी ऐतिहासिक लेख में जहाँ कहीं सूरदास का नाम मिला है वहीं का वृत्त प्रसिद्ध सूरदास पर घटाने का प्रयत्न किया है।"

आचार्य शुक्ल कृत 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' पृष्ठ-१६२, संस्करण १९९९

३ "कहते हैं कि इनके किसी एक पद को सुनकर आचार्य जी कई दिनों तक तन बदन की सुधि भूले रहे।"

आचार्य शुक्ल कृत 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' पृष्ठ-१९९ संस्करण संवत् १९९९

उल्लेख मिलता है।१ बाह्य संगीत की दृष्टि से ही नहीं आन्तरिक संगीत की दृष्टि से भी अष्टछाप के कवियों की भाषा संगीतमयता से ओतप्रोत है। आलो-चकों न इन कवियों के गेय पदों की भाषा में लय और संगीत के जिस सुन्दर समन्वय की ओर संकेत किया है वह अन्यथा नहीं है।२ कृष्ण-काव्य-धारा के भक्तों ने राधा कृष्ण की भक्ति में विभोर होकर गीतिकाव्य की बगवती निर्झ-रिणी प्रवाहित कर दी थी। इस शाखा में अनेक ऐसे गायक हुए जिनकी रच-नाएँ हिन्दी-गीतिकाव्य-परम्परा में अपना विशिष्ट स्थान रखती हैं, किन्तु रीति काल से पूर्व तक हिन्दी-गीतिकाव्य-परम्परा पर विचार करने के लिए यहाँ स्वामी हितहरिवंश मीराबाई और स्वामी हरिदास का उल्लेख पर्याप्त होगा।

स्वामी हितहरिवंश

राधावल्लभीय सम्प्रदाय के आद्य आचार्य गोस्वामी हितहरिवंश की रच-नाओं का माधुर्य इतना बढ़ा-चढ़ा है कि इसी विशेषता के कारण उन्हें भगवान् कृष्ण की वंशी का अवतार माना जाता है।१ 'हित चौरासी' नामक इनकी एक

---

१ "ये कवि होने के अतिरिक्त बड़े पक्के गवैये भी थे। तानसेन कभी-कभी इनका गाना सुनने के लिए आया करते थे।"

आचार्य शुक्ल कृत 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' पृष्ठ-२०१, संस्करण संवत् १९९९

२ " "अष्टछाप का लगभग सम्पूर्ण काव्य गेय पदों में लिखा गया है और श्रीनाथ जी के समक्ष इसका कीर्तन भी होना स्वाभाविक है। राग रागिनियों के स्वर और ताल में बैठी हुई शब्दावली लयपुक्त होनी ही चाहिए। संगीतमयता के गुण की पुष्टि शब्दों की मैत्री तथा माधुर्य ध्वनि वाले शब्दों की योजना से भी होती है।"

डा० दीनदयालु गुप्त कृत 'अष्टछाप और वल्लभ-सम्प्रदाय' (भाग-२) पृष्ठ-६११, प्रथम संस्करण

१ आचार्य शुक्ल कृत 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास,' पृष्ठ-२०१, संस्करण संवत् १९९९

ही रचना प्राप्त है जिसमें विभिन्न १४ रागों में ८४ पदों को बाँधा गया है। इन १४ रागों का प्रयोग हितहरिवंश के समसामयिक अष्टछाप के कवियों ने भी किया है तथा आज के संगीतज्ञों के लिए भी ये राग नवीन नहीं हैं।[1]

मीरा

मीरा की माधुर्य भावना तथा भाव-विह्वल आत्मसमर्पण ने उनके भगवद् विरह में ऐसा आकर्षण, ऐसी मादकता और ऐसी प्रभावोत्पादकता भर दी है जिसके कारण हिन्दी-गीतिकाव्य-परम्परा में मीरा के पद निर्विवाद रूप से शीर्ष स्थान प्राप्त कर लेते हैं। मीरा की सी अपार तन्मयता, नारी-हृदय की सहज विरह-कातरता, स्वानुभूति निरूपक प्रेमोद्गारों की तरलता और रामानुरागासक्ति की चरमोत्कर्षता अन्यत्र दुर्लभ है। मीरा के गिरिधर नागर उनके पति से अभिन्न हो गये थे[2] अतः उनकी वैयक्तिकता भारतीय नारी-मात्र के हृदय की भाव विह्वल पीड़ा की सच्ची अनुभूति और नैसर्गिक अभिव्यक्ति बन गयी है। यही कारण है कि भारतीय नारी-समाज में मीरा ने जो लोकप्रियता प्राप्त की है

---

१ १४ रागों के अन्तर्गत ८४ पदों का विवरण स्वयं हितहरिवंश की अथवा उनके किसी शिष्य ने एक कवित्त में इस प्रकार दिया है—

"दै पद विभास मांझ, सात हैं बिलावल में
टोड़ी में चतुर, आसावरी में है बने
सात हैं धनाश्री में कुमद बसन्त चलि
देवगंधार पंच गौरी रस सी सने
सारंग में चौदह हैं चार हो मलार, एक
गौड़ में सुहायो, नव गौरी रस में सने
पद कल्याण मिलि कान्हरे केदार वेद
बानी हित जू की सब चौदह राग में गने।"

श्री हित अनुरागी सेवक वाणी (श्री वृन्दावन धाम, हिताब्द-४८६) पृष्ठ ७०-७१

२ "मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई
जाके सिर मोर मुकुट मेरो पति सोई।"
मीराबाई की पदावली, पृष्ठ-१
तृतीय संस्करण (हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग)

वह और किसी को प्राप्त नहीं मिल सकी। नारी-हृदय के मार्मिक उद्गारों की पूर्ण परिणति मीरा में ही परिलक्षित होती है। उनके अन्तर्जगत की यह अभिव्यक्ति मांसलता से पूर्णतः निरपेक्ष नहीं है परन्तु आलम्बन की अलौकिकता के कारण मीरा की सहजानुभूति का उदात्तीकरण कुछ ऐसे अकृत्रिम रूप से हो गया है कि उसकी आत्मविस्मृति मिलनोत्कण्ठा भावावेश आत्मसमर्पण प्रमोन्माद हृदय की कसक आदि सभी बातें अनुभूति की ठोस आधार भूमि का सहज ही अतिक्रमण करके लोकोत्तर हो उठी हैं।

संगीत की दृष्टि से मीरा के पद जहाँ एक ओर तत्कालीन शास्त्रीय संगीत के आधार को ग्रहण करते हुए पुरियाधनाश्री बागेश्री दरबारी जैजैवन्ती मालकौंस जैसे रागों में बँधे हैं वहाँ अनेक पद कजरी सावनी इत्यादि लोकगीतों की धुनों पर भी रचे गये हैं। अतः इसमें सन्देह नहीं कि मीरा को संगीत का अच्छा ज्ञान था। वर्तमान युग के संगीतज्ञों द्वारा मल्हार राग के जो विभिन्न प्रकार बरते जाते हैं उनमें से एक प्रकार 'मीराबाई का मल्हार' शीर्षक से भी प्रचलित है। कहा जाता है कि मल्हार के इस प्रकार का निर्माण मीराबाई ने ही किया था किन्तु इस कथन का ठोस प्रमाण उपलब्ध नहीं है।

संगीत की तन्मयकारिणी शक्ति से मीरा ने पूर्ण लाभ उठाया। गीत वाद्य और नृत्य इन तीनों को उसने अपने इष्टदेव के साथ 'परम भाव' के निर्वाह का माध्यम बना लिया था। वह पग घुँघरू बाँध कर नाचती थी इकतारा या तानपूरे जैसे वाद्य के स्वरों को आधार प्रदान करती थी और अपने प्रेम की पीड़ा को संकोच रहित होकर गीतों में इस प्रकार ढाल देती थी कि उस 'दरद दिवानी' का दर्द सार्वजनीन बन जाता था। उसके मार्मिक गीतों का एक-एक शब्द भावना के तारल्य से ओतप्रोत है। प्रत्येक पंक्ति के साथ जब उसकी भाव-विह्वलता क्रमशः बढ़ती हुई अन्तिम पंक्ति में चरमोत्कर्ष को प्राप्त हो जाती है तब ऐसा प्रतीत होता है मानो प्रेम भावना से विभोर मीरा भावातिरेक से सहसा मौन हो गयी हो और वही मौन अपने गिरिधर नागर को आत्मसमर्पण कर देती है।

मीरा में यदि काव्य के भावपक्ष का उत्कर्ष है तो कलापक्ष की न्यूनता भी है। वह सचेत कलाकार थी भी नहीं। संगीत-कला और काव्य-कला दोनों ही की दृष्टि से यह बात अक्षरशः सत्य है कि कला मीरा का साध्य न होकर साधना का माध्यम मात्र थी। उसकी भक्ति माधुर्य-भावी भक्ति थी और उसके हृदय के स्पन्दन क्योंकि गीतों में साकार हुए थे अतः बिना इच्छा के ही वह कवयित्री भी कही-सुनी जाने लगी थी।

स्वामी हरिदास

स्वामी हरिदास की विस्तृत जीवनी के सम्बन्ध में इतिहास मौन है। अनुमानतः इनका आविर्भाव काल संवत् १५१७ के लगभग माना जाता है। स्वामी हरिदास टट्टी सम्प्रदाय के आदि पुरुष हैं। सैद्धान्तिक दृष्टि से चैतन्य सम्प्रदाय का इस सम्प्रदाय से पर्याप्त साम्य है।

हिन्दी-साहित्य के सभी इतिहास लेखकों ने हरिदास को उत्कृष्ट गायक-भक्त मानते हुए उन्हें तानसेन का गुरु माना है और सभी ने अकबर बादशाह का छद्म वेष में तानसेन के साथ इनका गाना सुनने की घटना का भी उल्लेख किया है।[1] संगीत की एक पुस्तक में भी स्वामी हरिदास जी के अपार संगीत ज्ञान एवं तानसेन तथा बैजू सहित उनके आठ शिष्यों का उल्लेख हुआ है।[2] आज भी संगीतज्ञ वृन्दावन निवासी स्वामी हरिदास जी का स्मरण बड़ी श्रद्धा भक्ति से करते हैं।

वस्तुतः भक्तिकाल के अनेक कवि ऐसे हैं जिन्होंने न तो कविता के लिए कविता की और न वे कवि कहलाना चाहते थे। कबीर की दृष्टि में तो पण्डित या कवि होना कोई आदरणीय बात भी न थी।[3] सूर ने भी अपनी भक्ति के

१ द्रष्टव्य

(क) डा० रामकुमार वर्मा कृत 'हिन्दी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' पृष्ठ-०१४

(ख) डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी कृत 'हिन्दी साहित्य' पृष्ठ-२०१

(ग) आचार्य शुक्ल कृत 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' पृष्ठ-२०८

(घ) बाबू श्याम सुन्दर दास कृत 'हिन्दी भाषा और साहित्य' पृष्ठ-४२०

२ द्रष्टव्य—'राग विनोद ग्रन्थ' पृष्ठ ५६ ५७

३ "कबीर के पास कविता के विषय में सचित कहने को नहीं हो सकता क्योंकि कवि उनकी दृष्टि में कोई सम्मान्य व्यक्ति नहीं था, और न विद्वान ही, इन सभी को वे भरा हुआ कहते हैं क्योंकि इन्होंने अमर आत्मा को नहीं पहचाना, फिर भी उनकी साखी, सबदी और रमैनी कविता है। इससे दो बातें स्पष्ट होती हैं। प्रथम यह कि

भावेश में भगवान् की लीला का गान किया है। यद्यपि उन्होंने किसी पंथ तक पुष्टि मार्ग के प्रतिपादन और निर्गुण के खण्डन करने का उद्देश्य से भी अपने पदों को रचा है परन्तु उनके पदों का प्राण उनकी भक्ति-भावना ही है। इसी प्रकार तुलसी यद्यपि काव्य-शास्त्र के पूर्ण ज्ञाता हैं और उनके काव्य में व्यक्ति मत एवं सामाजिक जीवन के आदर्श की स्थापना भी प्रयत्नपूर्वक हुई है परन्तु काव्य उनके लिए भी भगवान् के गुण-गान का ही माध्यम है।

विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी के आसपास जब इस धार्मिक मनोवृत्ति का ह्रास होने लगा तब धर्म की इस पवित्रता में विकृति उत्पन्न हुई। शृङ्गारिक मनोवृत्ति जैसे-जैसे बढ़ती गयी वैसे-वैसे भक्तिकाल की समुज्ज्वल पवित्रता भी वासना के कालुष्य में शनैः-शनैः तिरोहित हो गयी। भक्तिकाल म कृष्ण भक्ति धारा के कवियों न जिस वात्सल्य और माधुर्य भावना को अपनाया था उसमें भगवान् कृष्ण के जीवन का शृङ्गारिक पक्ष ही प्रबल था किन्तु इस मांसल आकर्षण के साथ उन्होंने आध्यात्मिक आकर्षण को भी ऐसी कुशलता से संभाला था कि शृङ्गारिक भावना उभर कर भी पनप नहीं पाती थी क्रमशः यह आध्यात्मिकता की सहायक बनकर ही रह जाती थी और धर्म की मर्यादा अक्षुण्ण बनी रहती थी किन्तु उत्तर मध्यकाल के कवि युग की बदली हुई परिस्थितियों के कारण इस मर्यादा की रक्षा न कर सके। युग-परिस्थितियों के कारण साहित्यिक मनोवृत्ति में जो परिवर्तन हुआ उसके कारण हिन्दी-गीति-काव्य-परम्परा का उत्तरोत्तर विकास विच्छिन्न हो गया क्रमशः रीतिकाल में उसका ह्रास स्वाभाविक ही था।

रीतिकाल में गीतिकाव्य ह्रासोन्मुख ?

रीतिकाल में गीतिकाव्य के ह्रास को इंगित करने वाली पहली बात पर

कबीर कविता को एक सीमित अर्थ में नहीं लेते थे और द्वितीय उनके समय में कविता केवल मनोरंजनार्थ ही होती थी।

"कवि कवीने कविता मुए।
पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुआ, पंडित भया न कोइ।"
(कबीर की साखी)

'हिन्दी काव्य शास्त्र का इतिहास'
डा० भागीरथ मिश्र कृत पृष्ट १४०

म्परागत गीत-शैली के रूप-आकार का परित्याग है। इस कथन का तात्पर्य यह नहीं कि रीतिकाल में पद लिखे ही नहीं गये अथवा गीतों की उपर्युक्त परम्परागत शैली का इस काल में सर्वथा बहिष्कार कर दिया गया। इस काल में भी सन्तों और भक्तों ने पदों में अपनी भावनाओं को व्यक्त किया था। जगजीवन दूलना साहब, चरनदास, सहजो बाई, दयाबाई, दूलनदास, भीखा साहब, पलटू साहब जैसे अनेक सन्त कवियों का आविर्भाव रीतिकाल में ही हुआ परन्तु इन कवियों में कबीर, नानक, दादू, सुन्दरदास जैसे सन्तों की प्रतिभा, भावों की गहनता अथवा पाण्डित्य परिलक्षित नहीं होता। भक्तितत्त्व के अभाव में एक ओर तो जो पद लिखे जा रहे थे उनमें वैसी प्राणवत्ता और द्रवण-शीलता नहीं थी दूसरी ओर जो कवि वस्तुतः कविकर्म के ज्ञाता थे उनकी रुचि कवित्त-सवैयों की ओर इतनी आकर्षित हो गयी थी कि वे पद लिखते ही नहीं थे। सम्भवतः इसका एक कारण भक्तिकाल में पद-शैली का भगवद्भक्ति के लिए रूढ़िबद्ध हो जाना भी था। समय की रुचि ने जब राधा कृष्ण को उपास्य कोटि से उतार कर साधारण नायक-नायिका के स्तर पर ला बिठाया तब राधा कृष्ण का स्मरण मात्र बहाना ही रह गया अतः रीतिकाल के कवियों ने पदों की पवित्रता को भगवान् के लिए सुरक्षित रखना ही उचित समझा और लौकिक रागात्मकता की अभिव्यक्ति के लिए कवित्त-सवैयों के माध्यम को ग्रहण किया।

हिन्दी-साहित्य के अध्येता का ध्यान उपर्युक्त परिवर्तनों की ओर जाये बिना नहीं रह सकता क्योंकि यह परिवर्तन रूप-आकार (फॉर्म) का परिवर्तन होने के कारण पर्याप्त स्थूल है। संगीत की दृष्टि से इस परिवर्तन का अर्थ केवल यह है कि भक्तिकाल में पद रचना के साथ संगीत के बाह्य विधान का जो सम्बन्ध अनिवार्य रूप से जुड़ा हुआ था वह यहाँ आकर शिथिल हो जाता है किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि कवित्त-सवैये गेय नहीं हैं। यदि कोई गायक चाहे तो इन्हें इच्छानुसार किसी भी राग में बाँध कर ताल स्वर के साथ गा सकता है। ऐसा करने में उसे परिवर्तित रूप-आकार के कारण विशेष कठिनाई भी नहीं होगी अतः रीतिकाव्य की दृष्टि से संगीत के इस बाह्य विधान को एक अनिवार्य प्रतिबन्ध के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता।

एक बात और भी है। पद-साहित्य की यह परम्परा रीतिकाल में तो थोड़ी बहुत उपलब्ध भी है किन्तु आधुनिक युग में भारतेन्दु बाबू के पश्चात् सत्य नारायण 'कविरत्न' ही प्राचीन पद-शैली के अन्तिम अनुयायी दिखायी देते हैं।

उसके बाद पद-साहित्य का लिखा जाना बन्द-सा हो गया। इधर द्विवेदी-युग में सुधारवादी और राष्ट्रीय गीतों का प्रणयन हुआ और छायावादी युग में तो बहुत ही सुन्दर गीतों का निर्माण हुआ किन्तु ये गीत भी बाह्य संगीत विधान और पुरानी पद-शैली के विपरीत हैं। अतः रूप-आकार के परिवर्तन को अत्यधिक महत्त्व प्रदान करना समीचीन नहीं है, क्योंकि कविता में आन्तरिक संगीत का महत्त्व भी कम नहीं है। रूप-आकार के ऐसे परिवर्तन तो प्रायः होते ही रहते हैं। साहित्य की अन्य विधाएँ भी ऐसे परिवर्तनों से रहित नहीं हैं। प्राचीन नाटकों और अर्वाचीन नाटकों में रूप-आकार का भेद स्पष्ट है। वर्तमान कहानी प्राचीन कहानी से कितनी भिन्न है? और आज कामायनी को महाकाव्य मानने में भी कम ही लोग संकोच करेंगे किन्तु प्राचीन महाकाव्य के कितने लक्षण उसमें उपलब्ध हैं? अस्तु, मात्र आकार-प्रकार के परिवर्तन से गीतिकाव्य की विधा में तात्त्विक अन्तर उपस्थित नहीं होता। गीतिकाव्य का प्राण वैयक्तिकता ही है और इसके साथ जिस संगीतात्मकता का समावेश होता है वह आन्तरिक, बाह्य अथवा दोनों प्रकार की हो सकती है।

हिन्दी-गीतिकाव्य की परम्परा के अध्ययन से यही पता चलता है कि गीतों के रूप-आकार में समय-समय पर परिवर्तन होते रहे हैं। विक्रम की आठवीं शताब्दी में लिखे जो गीत मिलते हैं उनमें प्रायः टेक का अभाव दृष्टिगोचर होता है[1] किन्तु इस अभाव के कारण उनके गेयत्व की हानि नहीं होती। आगे चलकर पदों में टेक का प्रयोग भी होने लगता है। इसके अतिरिक्त सन्तों और भक्तों द्वारा किसी पद के ऊपर किसी राग का नाम लिख दिए जाने का यह अर्थ नहीं है कि राग-नाम-निर्देश द्वारा जिस बाह्य संगीत का पद में समावेश किया जा रहा है उसकी बारीकियों का पद-रचयिता को अनिवार्यतः पूर्ण ज्ञान भी है। सच्चा संगीतज्ञ सन्ध्या का राग प्रातःकाल में नहीं गायेगा किन्तु कहा जाता है कि नियम भंग करके गाना साधुओं की एक विशेषता है[2] अतः निष्कर्ष

---

१ इस सम्बन्ध में विद्यापति के पद द्रष्टव्य हैं।

२ साधुओं के सम्बन्ध में कहा जाता है —

"साँझ को राग सकारे गावै। तो साधु मोरे मन भावै।
अर्थात् साधुओं सन्तों का अपने भजनों का अनियमित रूप से गान करना उनकी एक विशेषता ही समझी जाती है।"
श्री परशुराम चतुर्वेदी कृत 'सन्त काव्य' पृष्ठ-११०, प्रथम संस्करण

यही निकलता है कि इन सन्तों और भक्तों को न तो काव्य की किसी विधा से मतलब था और न वे संगीत-शास्त्र के बाह्य-बन्धनों से जकड़े हुए थे। हाँ उनमें एक ऐसी मस्ती अवश्य थी जो प्रतिभा-सम्पन्न गायक में जन्मजात हुआ करती है और इसीलिए वे संगीत की ओर आकृष्ट हो गये थे। उन्होंने अपने उद्देश्य की सिद्धि में संगीत की आवश्यकता और महत्व को समझ लिया था अतः उनकी स्वानुभूतिपरक अभिव्यक्ति विविध राग-रागिनियों में बिखर गयी थी।

संगीत और काव्य के सम्बन्ध पर विशेष ध्यान रीतिकाल में दिया जाने लगा और आगे चलकर जब छायावादी युग में हिन्दी-गीति-काव्य पाश्चात्य गीतिकाव्य की दिशा से प्रभावित हुआ तब उसमें भी अन्तर्जगत की अभिव्यक्ति के लिए बाह्य-संगीत की अपेक्षा आन्तरिक संगीत को अधिक महत्व मिलने लगा।

रीतिकाल में गीतिकाव्य के ह्रास का एक कारण रागात्मक अनुभूति में वैयक्तिकता सच्चाई और ईमानदारी की कमी भी है। भक्तिकाल में सगुणोपासकों की भक्ति-सम्पन्न विह्वलता और निर्गुणोपासकों की रहस्य भावना के कारण वैयक्तिक अनुभूति की रागात्मकता अपने सहज और निष्कपट रूप में अभिव्यक्त हुई थी, परन्तु रीतिकालीन वर्गाभास में उच्छृङ्खल यौवन की निर्मर्यादित महत्वाकांक्षा निवेशित हो गयी थी। इसमें सन्देह नहीं कि शृङ्गार की मादकता गीतिकाव्य के बहुत ही अनुकूल है। नर-नारी के पारस्परिक स्वाभाविक आकर्षण के फलस्वरूप जो भावनाएँ उद्भूत होती हैं वे तीव्र भी अधिक होती हैं और गहरी भी। इसीलिए विश्व-साहित्य का तीन-चौथाई भाग शृङ्गार परक ही है और संगीत तो है ही सम्भव का प्रसूत किन्तु रीतिकालीन स्वैर-विहार में एकोन्मुख प्रेम के अभाव और रसिकता के प्राचुर्य के कारण रति भाव में वह गहराई और सच्ची रागात्मकता नहीं आ सकी जो तीव्र वैयक्तिक रागात्मक अनुभूति के निरुद्विग्न स्पन्दन में समर्थ हुआ करती है।

आर्थिक और राजनीतिक जड़ता से ग्रस्त रीतिकालीन कवि स्वतन्त्र वैयक्तिक दृष्टिकोण अपनाने में असमर्थ था। अपनी अनुभूति को तीव्रता प्रदान करने के लिए कवि जब तक जीवन और जगत के प्रति स्वस्थ और स्वतन्त्र दृष्टिकोण नहीं अपनाता तब तक उसकी अभिव्यक्ति में समुचित मर्मस्पर्शिता नहीं आती किन्तु जहाँ कवि अपनी काव्य-प्रतिभा को बेचकर जीविकोपार्जन के लिए ही उसका शृङ्गार कर रहा हो वहाँ स्वस्थ और स्वतन्त्र जीवन दर्शन के लिए स्थान ही कहाँ रह जाता है? रीतिकालीन दरबारी वातावरण विलास की रंगीनी से जगमगा रहा था अतः उस युग के कवि ने जब अपने आश्रय

दाताओं की मनस्तुष्टि के हेतु अपना स्वर-सन्धान किया तब उसमें विलास की चरम मादकता तो थी किन्तु न तो अनुभूति की तीव्रता का मार्दव था और न हृदय की स्निग्धता।

राज्य-संरक्षण के इच्छुक रीतिकालीन कवि का मस्तिष्क कलात्मक सौन्दर्य के सृजन की ओर आकर्षित होना स्वाभाविक था। मुगल सम्राटों के अपार वैभव और उन्मुक्त विलासप्रियता ने रीतिकाल में सभी ललित कलाओं पर गहरी छाप डाली थी। काव्य और संगीत तो थे ही दरबारी मनोरंजन और विलास-भावनाओं के उद्दीपक अतः जिस प्रकार संगीत अपनी ध्रुपद-शैली की विराट् गरिमा से हतश्री हो कर इस काल में खयाल-गायकी के कलात्मक लालित्य में परिणत हो गया था उसी प्रकार काव्य का आदर्श भी अब पहले जैसा नहीं रहा था। भक्तिकाल की स्वाभाविक प्रेरणा के स्थान पर अब कलात्मक उद्देश्य को लक्ष्य बनाते हुए शब्दों को चुन-चुन कर ऐसी पद-रचना की जाती थी जो अर्थ की क्लिष्टता से ओतप्रोत थी और जिसे समझने के लिए बुद्धि और विद्वत्ता की अनिवार्य आवश्यकता थी।१ छन्द और पिंगल का ध्यान सावधानी से रखा जाता था। साथ ही गुण अलंकार, ध्वनि इत्यादि पर भी ज़ोर दिया जाने लगा था। इन कलात्मक विशेषताओं की आवश्यकता इस कारण और भी बढ़ गयी थी कि इनकी सहायता से पद-रचना में एक प्रकार का ऐसा संगीतात्मक प्रवाह आ जाता था जो हृदय और प्रसन्नता प्रदान करने वाला था।२ अपने मूल रूप में छन्द और संगीत की लय(गति)वस्तुतः एक ही

---

१ "मूढ़न को अगम सुगम एक ताको जाकी
तीछन अमल बिधि बुद्धि है अथाह की।"
पण्डित उमाशंकर शुक्ल द्वारा सम्पादित 'कवित्त रत्नाकर' (सेनापति कृत) पहली तरंग, कवित्त संख्या-६ पृष्ठ १ प्रथम संस्करण

२ "राखति न दोषै पोषै पिंगल के लच्छन कौं
बुध कबि के जो उपकंठ ही बसति है।
जोए पद मन कौं हरष उपजावति है
तजै को कनरसै जौ छंद सरसति है।।"
वही पृष्ठ-२

वस्तु के दो नाम हैं। कोमल शब्दों का चयन प्रयत्नपूर्वक कठोर अथवा श्रुति कटु शब्दों का परित्याग माधुर्य गुण के आश्लेष तथा संयुक्ताक्षरों और लम्बे लम्बे समासों से बचने की प्रवृत्ति ने रीतिकाल की भाषा में उचित संगीतात्मकता का प्राचुर्य समावेश किया। ये सभी विशेषताएँ आन्तरिक संगीत में सहायक होती हैं किन्तु चमत्कार और कला-प्रदर्शन की धुन में इस युग के कवि ने साधन को ही साध्य समझ लिया। अलंकार भी किसी के शृङ्गार के लिए ही होते हैं, किन्तु यहाँ तो अलंकारों की चकाचौंध और मात्र गुणों की ही प्रदर्शनी थी। गुण अलंकार इत्यादि की भाव-सौन्दर्य [redacted] निरपेक्ष सत्ता नहीं [redacted] अतः यह मनोवृत्ति भी गीतिकाव्य के ह्रास में सहायक हुई।

देव मतिराम घनानन्द इत्यादि उस युग के उन रस-सिद्ध कवियों में हैं जिनमें आन्तरिक अनुभूति की दीप्ति धूमिल नहीं हुई थी अतः उनकी कृतियों में अनेक ऐसे स्थल मिल जाते हैं जहाँ अनुभूतानुभूति के पवन [redacted] चढ़ेलित राग सागर की मनोरम ऊर्मियाँ पाठक को आनन्द गुण में विभोर कर देती हैं। उनके कवित्त-सवैयों में भी संगीत की वैसी ही हृदयहारी झंकार है जैसी भक्तिकालीन कवि रसखान के कवित्त सवैयों में सुनायी देती है।

फिर भी युग-परिस्थितियों से निर्मित तत्कालीन अधिकांश काव्य गीतिकाव्य की परिधि से बाहर है। शुद्ध गीतिकाव्य की दृष्टि से उस युग में जो थोड़े से कवि और कवयित्रियाँ हुईं उनमें नागरीदास अलबेली अलि चाचा हित वृन्दावन दास भगवत् रसिक घनानन्द, सहजोबाई, दयाबाई, अनन्य बाबा रसिक बिहारी युगलप्रिया, प्रताप कुँवरि आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

हमारा अभिप्रेत गीतिकाव्य

गीतिकाव्य के नाम से ही यह स्पष्ट है कि संगीत का इससे अनिवार्य सम्बन्ध है।१ किन्तु हिन्दी-गीतिकाव्य-परम्परा में जितने पद-रचयिता हुए वे सभी अनि

१ "संगीत तो प्रगीत-काव्य के नाम से लगा हुआ है। शरीर रूप से वह उसका बाहरी आकार तथा भावातिरेक का स्वाभाविक माध्यम है। भावातिरेक के लिए बहाव चाहिए, वह साधारण गद्य में रुक सा जाता है किन्तु गीति-लहरी में तरंगित होकर बह चलता है। ... तो निजी भावातिरेक उसकी आत्मा है।"
'काव्य के रूप' पृष्ठ-९, द्वितीय संस्करण

वार्य रूप से संगीत के पण्डित नहीं थे। इसी प्रकार संगीत की परम्परा में जितने उत्कृष्ट गायक हुए उन्होंने अनिवार्यतः पद रचना नहीं की किन्तु जैसे संगीतज्ञ न होने पर भी लोग गाते ही हैं इसी प्रकार कवि के लिए भी संगीतज्ञ होना अनिवार्य नहीं है। कविता में छन्द लय शब्दालंकार माधुर्य ओज आदि की विशेषताओं से जिस प्रवहमानता का सृजन होता है उसी का नाम आन्तरिक संगीतात्मकता है। हृदय की वैयक्तिक तीव्र रागात्मकता जब संकोचरहित होकर शब्दों में मुखरित होती है तब अपनी अभिव्यक्ति के लिए वह स्वभावतः ऐसे ही संगीतात्मक माध्यम को टटोलने लगती है। मीरा कबीर, स्वामी हरिदास आदि के पद इस कथन के प्रमाण स्वरूप उपस्थित किये जा सकते हैं। कवि या गीतकार के काव्य-कला-मर्मज्ञ होने पर तो यह माध्यम अपने आप ही कलापूर्ण होने लगता है। सुन्दरदास तुलसीदास आदि के पदों में इसी कारण वैयक्तिक रागात्मक अनुभूति कलात्मक माध्यम से अभिव्यक्त हुई है। सूर का आधिपत्य काव्य और संगीत दोनों ही पर था अतः उनके अन्तर्जगत की अभिव्यक्ति भी सदा मर्मस्पर्शी है और कलापक्ष भी सबल है। इसी वैयक्तिक रागात्मकता की कान्ति धूमिल हो जाने के कारण केशव के कवित्त-सवैयों में रसखान या घनानन्द के कवित्त-सवैयों जैसी रसात्मकता नहीं आ सकी।

अस्तु, गीतिकाव्य की पहली शर्त वैयक्तिक रागात्मकता की निष्कपट अभिव्यंजना है। ऐसी अभिव्यक्ति चाहे जिस छन्द में हो सकती है क्योंकि छन्द का आग्रह होते ही उसमें लय का समावेश हो जायगा। केवल पद के रूप-आकार को लेकर यह कहना युक्तियुक्त नहीं है कि गेयत्व परम्परायुक्त पदों में ही होता है इतर छन्दों में नहीं। दोहा चौपाई, हरिगीतिका सवैया कवित्त सभी में गेयत्व है। वर्तमान युग में भी कतिपय गायकों ने तुलसी की अनेक चौपाइयों को भिन्न-भिन्न रागों में बाँधा है।१ किन्हीं दोहे चौपाई आदि के ऊपर किसी राग का नाम लिखते ही (अर्थात् उसे किसी राग की बन्दिश में बाँधते ही) उसका रूप-आकार परम्परागत रूप आकार के निकट पहुँचने लगेगा।२

---

१ उदाहरण—'राग-विज्ञान' के विभिन्न भाग।

२. उदाहरणस्वरूप 'सूर सागर' में से ऐसे अनेक स्थल उद्धृत किये जा सकते हैं जहाँ दोहे और चौपाइयों के ऊपर राग-शीर्षकों का उल्लेख करके उन्हें पद-रूप में ग्रहण कर लिया गया है। नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित 'सूर सागर' के दूसरे खण्ड में बिलावल राग के

अब रही भाषा की बात, सो इसमें सन्देह नहीं कि विह्वल हृदय से निकली हुई सच्ची पुकार सदैव अपने अनुकूल शब्द और लय (छन्द) को लेकर निकलती है। इस भाषा का यदि काव्य-कला की दृष्टि से भी शृङ्गार हो जाय तो इसका अर्थ यही होगा कि अभिव्यक्ति में जो सहज नैसर्गिक सुन्दरता थी उसे कलात्मकता के ऊपरी शृङ्गार से और भी आकर्षक बना दिया गया, किन्तु तीव्र वैयक्तिक रागात्मकता के अभाव में यह ऊपरी शृङ्गार केवल कृत्रिम सौन्दर्य रह जायगा जिसका प्रभाव न तो मर्मस्पर्शी होगा और न चिरस्थायी। रीतिकालीन काव्य में ऐसी कृत्रिमता विरल नहीं। अधिकांश काव्य ऊपरी जगमगाहट से ही सम्पन्न है, परन्तु जहाँ ये रंगोज्ज्वल नगीने हृदय की तरल भावना-कान्ति का शृङ्गार कर रहे हैं वहाँ छन्द चाहे दोहा हो अथवा कवित्त या सवैया उसे गीतिकाव्य के अन्तर्गत मान लेने में आपत्ति नहीं होनी चाहिए। यही कारण है कि रीतिकालीन कविता की प्रगीतात्मकता के सम्बन्ध में साधारणतः लोग जिस उचित-अनुचित के बँधे रास्ते से सोचते हैं उससे मैं नहीं सोचती।

अन्तर्गत पृष्ठ-९९ से १९९ तक 'दूसरी 'घुव मान लीला' शीर्षक को एक लम्बा पद दिया गया है, उसमें दोहा-चौपाई ही नहीं गीतिका भी उपलब्ध है।

शोध-खण्ड

परिच्छेद-४

रीतिकालीन परिस्थितियाँ

रीतिकालीन परिस्थितियाँ

परिच्छेद-४

किसी काल-विशेष की कला अपनी युग-परिस्थितियों से अनिवार्यतः प्रभावित हुआ करती है। रीतिकाल की राजनीतिक, धार्मिक एवं सामाजिक परिस्थितियों ने जिस प्रकार उस युग के साहित्य को प्रभावित किया था उसी प्रकार तत्कालीन संगीत-कला को भी विशिष्ट स्वरूप प्रदान कर दिया था अतः उस युग के साहित्य एवं संगीत को समझने के लिए तत्कालीन परिस्थितियों पर विचार कर लेना आवश्यक है।

राजनीतिक स्थिति

संवत् १७०० से लेकर १९०० तक का समय हिन्दी-साहित्य में रीतिकाल कहलाता है। इन दो सौ वर्षों में मुगल-बादशाहों ने वैभव, विलास और समृद्धि भी देखी तथा वे दिन भी देखे जब अपनी पुरानी शान खोकर उन्हें अंग्रेजों की कृपा का भिखारी बन जाना पड़ा।

संवत् १७   में शाहजहाँ दिल्ली के राज्य-सिंहासन पर बैठा। यह मुगल गरिमा के चरमोत्कर्ष का युग है। अपने पूर्वजों से प्राप्त वैभव का शाहजहाँ ने विस्तीर्ण परिवर्धन कर लिया था। दक्षिण में बीजापुर, गोलकुण्डा और अहमद नगर तक, उत्तर पश्चिम में कन्धार और सिन्ध तक तथा पूर्व में सिलहट (आसाम) तक उसकी तूती बोल रही थी। देश में पूर्ण शान्ति थी तथा राज्य कोष धन धान्य से परिपूर्ण था किन्तु शाहजहाँ यह सुख अधिक दिनों तक न भोग सका। जिस प्रकार उदीयमान सूर्य मध्याह्न काल में अपने तेज की चरम प्रखरता प्राप्त करते ही धीरे-धीरे ढलने भी लगता है उसी प्रकार मुगल ऐश्वर्य भी अब ह्रासोन्मुख हो चला था। नियति-चक्र के इस प्रत्यावर्तन को बूढ़े शाहजहाँ ने अपनी निस्तेज आँखों से देखा। दक्षिण में उपद्रवों का प्रारम्भ और पश्चिमोत्तर प्रान्तों में मुगल-सेना की करारी हार इसी बात के संकेत थे कि अब मुगल-साम्राज्य के भविष्य पर काल की काली छाया मँडराने लगी है।

संवत् १७१५ में शाहजहाँ के रोगग्रस्त हो जाने के कारण परिस्थिति और भी विषम हो गयी। उन दिनों उसके पुत्रों में राज्य-सिंहासन के लिए युद्ध प्रारम्भ हो गये थे। पितृभक्त और जनता का हृदय-सम्राट् दारा कूटनीति में चतुर न होने के कारण अपने प्रयत्नों में सफल न हो सका। उसे मौत के घाट उतार कर तथा अपने पिता को बन्दी बना कर औरंगजेब ने दिल्ली के राज्य सिंहासन पर अधिकार जमा लिया।

औरंगजेब के राज्यकाल (संवत् १७१५ से संवत् १७६४ तक) का समय घोर अशान्ति का युग है। आगरे से काशी, बुन्देलखण्ड में वीर छत्रसाल और दक्षिण में महाराज शिवाजी के कारण मुगल-साम्राज्य की नींव हिल उठी थी। पश्चिम में वीर राजपूतों के कारण उपद्रव हो रहे थे। इधर धर्मान्ध औरंगजेब की प्रतिशोध की भावना भड़क रही थी। वह हिन्दू-तीर्थस्थानों के देवालयों को तोड़ कर मस्जिदें खड़ी कर रहा था। हिन्दू-विरोधी इस नीति के कारण हिन्दू धर्म के विभिन्न सम्प्रदाय सशस्त्र प्रतिकार के हेतु कटिबद्ध हो गये थे। फलतः मेवाड़ के सतनामी मतानुयायियों द्वारा औरंगजेब को मुँह की खानी पड़ी। सिक्ख गुरु तेगबहादुर और गोविन्दसिंह के बच्चों के साथ जो नृशंस व्यवहार हुआ उसके कारण सिक्ख जाति में आक्रोश था किन्तु अभी उनमें इतनी शक्ति नहीं थी कि वे अपना प्रतिशोध ले सकते अतः प्रतिहिंसा की आग उनके हृदय में भी धधकने लगी थी। जसवन्तसिंह एवं मिर्जा जयशाह जैसे मुगल-साम्राज्य के स्तम्भ नरेशों की मृत्यु के पश्चात् औरंगजेब ने जयपुर पर अधिकार जमा लिया था फलतः राजपूताने में जो प्रतिक्रिया हुई वह भी औरंगजेब के लिए समस्या बन गयी।

औरंगजेब अपने शासनकाल के पूर्वार्द्ध में उत्तर भारत और उत्तरार्द्ध में दक्षिण भारत की राजनीतिक परिस्थितियों में ऐसा उलझा कि फिर निकल ही न सका और संवत् १७६४ में उसकी मृत्यु हो गयी।

संवत् १७६४ से १८१४ विक्रमी के बीच में औरंगजेब के दस उत्तराधिकारी दिल्ली के सिंहासन पर बैठे, किन्तु शासन-सूत्र संभालने की क्षमता इनमें से किसी में न थी। औरंगजेब के जीवन-काल में जो विद्रोह प्रारम्भ हुआ था उसकी मृत्यु के पश्चात् वह और भी प्रबल हो गया। इधर मुगल सेना का आतंक और दर्प क्षीण हो गया था अतः जब संवत् १७९६ में नादिरशाह ने दिल्ली पर आक्रमण कर धन जन की भारी हानि की तब मुगल-शासकों की रही सही शान भी किरकिरी हो गयी। राजस्थान की दशा भी अच्छी न थी।

यहाँ के नरेशों की आपसी फूट, भूठी ऐंठ और विलासी मनोवृत्ति ने उनकी शक्ति नष्ट कर दी थी। ऐसी परिस्थिति में किसी भी विदेशी शक्ति का भारत में अपनी जड़ें जमा लेना सरल था।

हुआ भी ऐसा ही। देश की इस अव्यवस्था से विदेशियों ने पूरा लाभ उठाया। भारत में व्यापारी बनकर आने वाले अंग्रेज और फ्रांसीसी धीरे-धीरे भारत के शासक ही बन बैठे। फ्रांसीसियों का अधिकार अतीव सीमित रहा परन्तु अंग्रेजों ने शाह आलम और मराठों को भी परास्त कर, उत्तर भारत पर आधिपत्य स्थापित कर लिया। मुगल राज्य अब केवल कहने भर को शेष रह गया था।

आर्थिक स्थिति

देश की आर्थिक स्थिति भी इस समय सन्तोषजनक नहीं थी। जनता आर्थिक स्वतन्त्रता से रहित थी। किसानों को लगान इतना अधिक देना पड़ता था कि अच्छी से अच्छी फसल होने पर भी उनके पास कुछ बचता न था। बेगार तो मामूली बात थी। बादशाह, अमीर, सामन्त, जागीरदार सभी किसानों, मजदूरों और कारीगरों का खून चूस कर अपने ठाट-बाट और विलास की बहुमूल्य वस्तुएँ जुटाने में संलग्न थे।

इस युग में देश की आर्थिक स्थिति अत्यधिक बिगड़ गयी थी। इसे सँभालने के लिए, शाहजहाँ ने राज-कर्मचारियों को नियमित वेतन देना बन्द कर जागीर प्रथा शुरू की। राजनीतिक परिस्थितियों के कारण जब औरंगजेब के युग में अर्थ-व्यवस्था और बिगड़ी तब एक ओर तो उसने जागीरदारों और सामन्तों से धन लेकर उन्हें ऊँचे पद पर आसीन करना आरम्भ किया और दूसरी ओर जजिया कर लगा दिया। इस अर्थ-नीति से दुहरी हानि हुई। जजिया के कारण हिन्दुओं में असन्तोष फैला और औरंगजेब को धन देने के कारण सामन्त और जागीरदार अपने सैन्य-व्यय में कमी करने लगे। फलतः केन्द्रीय शासन निर्बल हो गया, क्योंकि अमीरों, सामन्तों और जागीरदारों का सैन्यबल ही केन्द्र की शक्ति का स्रोत था।

सामाजिक स्थिति

रीतिकालीन जिन राजनीतिक एवं आर्थिक परिस्थितियों का उल्लेख किया जा चुका है उनके आधार पर तत्कालीन सामाजिक दशा का चित्र भी बहुत

कुछ स्पष्ट हो जाता है। स्थूलरूप से तत्कालीन समाज हिन्दू और मुसलमान इन दो वर्गों में विभक्त था। मुसलमान विजेता थे हिन्दू विजित। इस राजनीतिक पराजय ने हिन्दुओं के नैतिक विश्वासों को जर्जर कर दिया था। जिस प्रकार कोई व्यक्ति घर के बाहर बराबर अपमानित और अनादृत होने पर अपने अहं की तुष्टि अपने ही परिवार के लोगों पर शासन और आतंक जमा कर करने लगता है उसी प्रकार उस युग का हिन्दू-समाज राजनीतिक क्षेत्र में पराजित होकर अपने ही वर्ग पर अपना दम्भ प्रकट करके सन्तुष्ट होने का असफल प्रयास कर रहा था। उसका यह अहं यज्ञोपवीत के अधिकारों वेदमन्त्रों के उच्चारण सम्बन्धी मतभेदों जाति-पाँति छुआछूत और चौके-चूल्हे की व्यवस्था में सीमित हो गया था। हिन्दुओं को जजिया कर देना पड़ता था। तीर्थस्थानों के मन्दिर तोड़े जा रहे थे और उनकी जगह मस्जिदें खड़ी की जा रही थीं। वे ही राजपूत जो कभी साम्राज्य के दृढ़ स्तम्भ थे अब अनादृत हो रहे थे। शाहजहाँ के शासन-काल के उत्तरार्ध में मुसलमानों की हिन्दू विरोधी जो नीति उभरने लगी थी धर्मान्ध औरंगजेब के शासन-काल में वह और भी तीव्रता के साथ उभरकर सामने आयी। हिन्दुओं के मेले और उत्सव निषिद्ध घोषित कर दिये गये थे उनके पुस्तकालय जला दिये जाते थे और विद्यालय नष्ट कर दिये जाते थे।

विजयी और शासक होने के कारण मुसलमान हिन्दू मात्र को अपने से हीन समझते थे किन्तु विलास ईर्ष्या द्वेष कलह, अनैतिकता जैसे अवगुणों के कारण मुसलमान भी पतनोन्मुख थे। शिया और सुन्नी एक दूसरे को फूटी आँख न देख सकते थे।

इन परिस्थितियों ने विलास और अनैतिकता की खूब वृद्धि की। वस्तुतः वैभव और विलास का चोली-दामन का साथ है। धन-ऐश्वर्य की अधिक वृद्धि प्रायः मनुष्य को विलासी बना देती है और जब विलास निर्बाध गति से आगे बढ़ता है तब उसके प्रवाह में नैतिकता बह ही जाती है। राजनीतिक एवं आर्थिक परिस्थितियों की विषमता का सामना न कर सकने के कारण मध्यम वर्ग भी भोग-विलास में ही सुख-चैन खोज रहा था। जहाँ तक उच्च वर्ग का प्रश्न है अमीरों सामन्तों और जागीरदारों के सम्मुख मुगल-दरबार का ठाटबाट और विलासी जीवन का आदर्श उपस्थित था ही। मुगल-सेना के युद्ध में जाने पर भी जहाँ वेश्याओं का दल साथ-साथ चलता हो वहाँ युद्ध का वातावरण न बनने पर आश्चर्य ही क्या? कामिनी कांचन और कादम्ब का ही भर कर

उपभोग उस युग का परम पुरुषार्थ था। राजा, रईस, सामन्त सभी इसी रंग में सराबोर थे। उनके दरबारों में भी सुरा, सुन्दरी के साथ शृङ्गारिकता मग्न नृत्य कर रही थी। औरंगज़ेब की कट्टर और दम्भी धर्मपरायणता भी विलासिता के इस प्रवाह को रोकने में समर्थ न हो सकी। उसकी मृत्यु के बाद तो कोई कुछ कहने-सुनने वाला ही न रहा, अतः धार्मिक मान्यताओं का उपहास करते हुए हिन्दू, मुसलमान सभी शराब का जाम या पानी की तरह धन व मौज उड़ाने लगे।

औरंगज़ेब के उत्तराधिकारियों में सिंहासन के लिए अनेक युद्ध और षड्यन्त्र हुए। इन प्रयत्नों में छल, कपट और कृतघ्नता का जो ताण्डव हुआ उसका जनता पर बड़ा ही अनैतिक प्रभाव पड़ा। सब के लिए येनकेन प्रकारेण निज स्वार्थ साधन ही एक मात्र कर्तव्य-कर्म बन गया और कर्तव्यनिष्ठा, स्वामिभक्ति, त्याग इत्यादि की भावनाएँ हृदय से तिरोहित हो गयीं।

देश के भावी कर्णधारों अर्थात् शाहज़ादों, राजकुमारों अथवा अमीर-उमरावों के पुत्रों की समुचित शिक्षा की कोई व्यवस्था न थी, फलतः वे अपनी किशोरावस्था में ही बिगड़ जाते थे। इनका लालन-पालन दासियों द्वारा होता था और उन्हीं के कुसंस्कारों का इन पर प्रभाव पड़ता था। यही कारण था कि बड़े होने पर जब ये शासन-सूत्र सँभालते तब किसी-न-किसी वेश्या अथवा रखैल के चंगुल में भी फँस जाते थे। ये स्त्रियाँ इनकी इतनी मुँह लगी होती थीं कि बड़े-से-बड़े सामन्त का अपमान कर देना इनके बाएँ हाथ का खेल था।

नैतिकता के अभाव और विलासिता की वृद्धि से आत्मबल क्षीण हो जाता है, और आत्मविश्वास का अभाव लोगों को अकर्मण्य एवं घोर भाग्यवादी बना देता है। उस युग में समाज की यही मनःस्थिति थी, परिणामतः सभी का ज्योतिष पर आवश्यकता से अधिक विश्वास जम गया था। बिना शकुन-विचार के कोई बात ही नहीं होती थी। यह इस बात का प्रमाण है कि आत्मबल के ह्रास के कारण उस समय कितनी घोर निराशा व्याप्त हो गयी थी। जब तक व्यक्ति कर्तव्यनिष्ठ रहता है तब तक उसे अपने आप पर भरोसा रहता है और वह ज्योतिष या भाग्य को ही सब कुछ नहीं मान बैठता, किन्तु जब वह चारों ओर से हताश हो जाता है तब भाग्यवाद ही उसके भग्न हृदय का एकमात्र सम्बल रह जाता है।

निम्न वर्ग की दशा तो शोचनीय थी ही, वर्ण व्यवस्था भी मिट चुकी थी। जिसे जो काम मिलता, वर्ण की चिन्ता छोड़कर वह उसी को करते हुए उदर

पूर्ति में तत्पर हो जाता था। अपार करों के बोझ, राजपूती डाकुओं की लूट से प्रजा की दशा दयनीय थी जिस पर अकाल और महामारी ने तो लोगों को और भी निचोड़ डाला था।

राजा रईस सामन्त इत्यादि रंगरेलियों में मस्त थे। अपनी विलास-वृत्ति को और भी अधिक उत्तेजना प्रदान करने की लालसा से ही वे ललित कलाओं के प्रेमी एवं कवियों गायकों अथवा अन्य कलाकारों के आश्रयदाता बन गये थे। कवि और गायकों से भी यह बात छिपी न थी। वे यह भी जानते थे कि विलास की जिस सीमा तक ये सामन्त पहुँच चुके हैं, तथा जिस विलासी वातावरण से ये लोग निरन्तर परिवेष्ठित हैं उसे देखते हुए शृङ्गारिकता की कितनी बड़ी मात्रा—कितना गहरा नशा—अपनी कला के प्याले में डालकर उन्हें पिलाना है। एक तो कला वैसे ही शृङ्गारिकता के पड़ोस में बसती है फिर गिलोय और नीम चढ़ी! अत अपनी रोटी कमाने के लिए कवियों और गायकों को अपनी कला द्वारा पूर्ण शृङ्गार की मन्दाकिनी प्रवाहित करने में कोई संकोच न रहा।

कवियों के सम्बन्ध में चाहे यह बात उतनी दृढ़ता से न कही जा सके किन्तु गायक तो प्रायः निम्न वर्ग के ही व्यक्ति थे जो अपनी कला के कारण राज-दरबार तक जा पहुँचते थे। इस प्रकार इन्हें उच्चवर्ग के व्यक्तियों के निकट सम्पर्क में आने का अवसर मिलता रहता था। निम्नवर्ग के संस्कारों के कारण ये लोग अतीव हीन भाव से सेवकों के समान दरबार में उपस्थित रहते थे किन्तु उच्चवर्ग के सम्पर्क में आने से इनमें दम्भ और अहंकार बढ़ जाता था फलतः अपने ही (निम्न) वर्ग के व्यक्तियों से ये इस प्रकार मिलते थे मानों वे उनसे बहुत अधिक ऊँचे हैं। इस प्रकार इनकी मनोवृत्ति बड़ी ही विचित्र हो गयी थी फिर भी इनकी कला का आदर करने वाला उच्चवर्ग ही था। निम्न वर्ग के पास न तो इतना धन था और न इतना कला-ग्राही मस्तिष्क जो इन्हें धन या आदर प्रदान कर सकता किन्तु उच्चवर्ग से इन्हें पर्याप्त धन मिलता था। शाहजहाँ के दरबारी गायक जगन्नाथ और दीरंग खाँ तो चाँदी से तोले गये व साथ ही प्रत्येक को ४५० रुपये पुरस्कार में भी मिले थे।[1]

---

१ द्रष्टव्य—आचार्य भातखण्डे कृत ए शॉर्ट हिस्टोरीकल सर्वे ऑफ दि म्यूजिक ऑफ अपर इण्डिया,
पृष्ठ—२६ संस्करण १९३४

दैनिक स्फूर्ति एवं कर्तव्यपरायणता के अभाव में हिन्दू और मुसलमान दोनों ही की प्रतिभा एवं बौद्धिकता का इस युग में क्षिप्र गति से ह्रास हुआ। सदियों की राजनीतिक पराधीनता के कारण हिन्दुओं में अपनी हीनता का भाव बहुत बढ़ गया था। बाह्य जीवन में स्वस्थ अभिव्यक्ति एवं व्यक्तित्व के विकास क्षेत्र के अवरुद्ध रहने से उनकी अभिव्यंजना अस्वस्थ कामुकता में सन्निविष्ट थी। फलतः सूर जैसे कलाकारों में भक्ति के साथ जो शृङ्गारिकता लिपटी चली आती थी उसे तो ग्रहण कर लिया गया किन्तु सूर की कला का अनुसरण उपेक्षित रह गया।

मुसलमानों के बौद्धिक ह्रास का एक कारण उनकी संकुचित तथा अहंकारी मनोवृत्ति भी थी। औरंगजेब की नीति के कारण मुसलमान अरब को ही अपनी जन्मभूमि समझने लगे थे। भारत को अपना विजित देश और यहाँ के निवासियों को अपना दास मानकर उनपर मनमाने अत्याचार करना एवं उनकी धन सम्पत्ति पर अपना जन्मसिद्ध अधिकार समझना उनकी दृष्टि में सर्वथा न्यायोचित था। उनकी दृष्टि में अरब और फारस की संस्कृति के सम्मुख भारत की संस्कृति तुच्छ थी। इस अहम्मन्यता ने व्यक्तित्व विकास की ओर उनका ध्यान ही नहीं जाने दिया। उनके विचार से तो जो पैदा ही शासन करने के लिए हुआ है उसे शिक्षा-दीक्षा, कर्तव्यनिष्ठा और कर्मठता की आवश्यकता ही क्या है? ये बातें तो उन लोगों के लिए थीं जिन्हें जीवन के संघर्ष में पिस कर अपनी रोटी कमाने की चिन्ता हो।

धार्मिक स्थिति

राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक विषमताओं के साथ सम्बन्धित बौद्धिक ह्रास के इस युग में धर्म की नींव भी उखड़ चुकी थी। नीति और विवेक धर्म का मूलाधार है, किन्तु जहाँ जनता का बौद्धिक धरातल ही निम्नतम स्तर पर पहुँच चुका हो वहाँ विवेक और तत्त्व-दर्शन की भला क्या आशा की जा सकती है? अस्वस्थ बौद्धिक चेतना के कारण लोग आँख बन्द कर अन्ध विश्वासों एवं रूढ़ियों का अनुसरण करते हुए धर्म के बाह्याडम्बर से अपने मन को भुलावा दे रहे थे। पण्डित और मौलवी धर्म के ठेकेदार बन बैठे थे तथा अशिक्षित लोग इनसे बात-बात में सम्मति लेना परमावश्यक मानते थे। कुछ अन्य लोग निर्गुण सन्त परम्परा के अनुयायी थे जो बाह्याडम्बर की उपेक्षा करके आन्तरिक उदारता अपनाये हुए थे।

जहाँ तक पण्डितों और मौलवियों का प्रश्न है ये लोग अपने अपने धर्म शास्त्रों को साक्षात् ईश्वर की वाणी मानकर उसपर पूरी आस्था रखते थे। कुरान को हिफ्ज कर लेना या वेदों को कण्ठाग्र कर लेना इनके लिए गौरव की बात थी। धर्मशास्त्रों की आज्ञाओं का ये लोग अक्षरशः पालन करते थे किन्तु इन लोगों ने जीवन के सामयिक प्रवाह के साथ प्राचीन धार्मिक मान्यताओं का समन्वय कभी नहीं किया। पूर्वो-पूर्व निर्धारित मान्यताएँ—जो उस प्राचीन काल में उपादेय भी अवश्य रही होंगी—तत्कालीन सामयिक प्रवाह से बहुत पीछे छूट चुकी थीं। धर्म जिस आत्मिक शान्ति को सहज ही प्रदान करता है वह न पण्डितों को मिल रही थी और न मौलवियों को। धार्मिक उदारता के अभाव के कारण यदि एक के लिए कुरान ही सब कुछ थी तो दूसरे के लिए वेद-पुराण को छोड़कर शेष सब कुछ गर्हित था।

अशिक्षित लोग जादू, टोना मन्त्र तन्त्र गण्डा ताबीज इत्यादि पर पूर्ण विश्वास रखते थे। व्रत तीर्थ उपवास इत्यादि के द्वारा इन्हें परलोक-प्राप्ति की आशा दृढ़ हो जाती थी। सन्त और पीर तो जैसे इस लोक में भवसागर से पार उतारने और लौकिक कष्टों से सर्वथा मुक्ति दिलाने वाले ठेकेदार ही थे। पीरों के तकियों पर स्त्री-पुरुष अपनी मनोकामनाओं की निश्चित पूर्ति की दृढ़ आशा लेकर पहुँचते थे और लौटते थे वहाँ के धूर्तों द्वारा भ्रष्ट होकर ठगे जाकर। प्रचार राम भक्ति का भी था और कृष्ण-भक्ति का भी किन्तु अनुभव मस्तिष्क के अभाव के कारण जनता भक्ति के नाम बाह्य स्वरूप को ही ईश-गुण-समझ सकती थी। भक्ति-भावना की उस वास्तविकता को समझना समाज के लिये कठिन था जिसके आधार पर सूर और तुलसी जैसे कवियों ने उसे काव्य से भी कहीं अधिक ऊँचा पद प्रदान किया था। राम-भक्ति की अपेक्षा कृष्ण-भक्ति युग-मनोवृत्ति के अधिक अनुकूल थी। उसमें जो माधुर्य तथा लोकरंजनकारी तत्त्व था वह उस युग की शृंगारिता के कहीं अधिक अनुकूल पड़ा। भक्ति का विलासपरक स्वरूप उस युग में इतना रुचिकर बना कि आगे चलकर राम-भक्ति में भी शृङ्गारिक भावनाओं का पुट दृष्टिगोचर हुआ।[1] रीतियुगीन मनोवृत्ति राधा-कृष्ण की इस शृङ्गारिक उपासना के बहाने वस्तुतः अपनी विलासिता एवं इन्द्रियासक्ति की तृप्ति के लिए धर्मानुमोदित नैतिकता की आड़ ले रही थी। मानव स्वभावतः

---

१ द्रष्टव्य — आचार्य शुक्ल कृत 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' पृष्ठ—१७१–२०१ संस्करण संवत् १९९९

शृङ्गारोन्मुख है। विषय-वासना की ओर उसकी सहज रुचि है। धर्म इस मनोवृत्ति को नियन्त्रित करना चाहता है, किन्तु जब धर्म की ही दुहाई देकर शृङ्गारिक मनोवृत्ति को तृप्त करने की एक मोहक युक्ति हाथ लग जाय तब समाज—और वह भी अशिक्षित समाज—शृङ्गारिक उपासना का मोह संवरण नहीं कर सकता।

चैतन्य माध्व निम्बार्क इत्यादि सम्प्रदायों के अनुयायियों की भी यही दशा थी। चैतन्य सम्प्रदाय के कारण भक्ति-भावना में परकीया भाव समाहित हुआ किन्तु शीघ्र ही उसका आध्यात्मिक स्वरूप तिरोहित हो गया एवं उसमें पार्थिव आकर्षण व्याप्त हो गया। कविगण भी राधा-कृष्ण के नाम का बहाना लेकर कृष्ण-काव्य को कृष्ण-भक्ति तक ही सीमित न रख कर ऋतुवर्णन नख शिख अष्टयाम एवं नायिका-भेद में उसका विस्तार करने लगे। वल्लभ सम्प्रदाय के लोग गोसाईं जी (गुरु) को कृष्ण का स्थानापन्न मान कर पूजते थे। गोपी-भाव की उपासना को बल मिलने के कारण स्त्रियों द्वारा इन गोसाईंयों का पूजन अनाचार में सहायक हुआ। भक्तों के द्वारा प्रचुरता से धन-दान किये जाने के कारण ये लोग सम्पत्तिशाली और घोर विलासी बनकर जनता को लूट ही नहीं रहे थे भ्रष्ट भी कर रहे थे किन्तु अशिक्षित जनता की आस्था फिर भी इनमें बनी हुई थी। मठ और मन्दिर देव-दासियों के घुंघरुओं से मुखरित थे। अपने हृदय की विलास-प्रियता को भगवान् के सिर थोप कर मदान्ध मुक्त काम होकर रस-मग्न थे। धर्म का यह आचार सर्वथा अस्वस्थ था।

कबीर, नानक दादू इत्यादि निर्गुण ज्ञानाश्रयी शाखा के अनुयायियों का दल पूर्ण संगठित था। इस दल की आस्था हिन्दुओं के स्थूल ब्रह्मवाद और मुसलमानों के एकेश्वरवाद के समन्वय पर आधृत थी। अवतारवाद का विरोध करते हुए ये लोग अविभाज्य रूप से ईश्वर को एक मानते थे। ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य शूद्र हिन्दू, मुसलमान आदि में भी ये भेद नहीं करते थे। धर्म के बाह्याडम्बर के ये विरोधी थे अतः मन्दिर, मस्जिद रोजा नमाज, व्रत, उपवास तीर्थ इत्यादि में इनकी आस्था न थी। संसार की ऐहिकता से तटस्थ रह कर ये लोग आत्मशुद्धि एवं तत्त्व चिन्तन आन्तरिक भक्ति और त्याग को महत्त्व देते थे। यद्यपि इनमें भिन्न-भिन्न पन्थ थे किन्तु स्थूल सिद्धान्त सभी के एक थे।

मुसलमानों में भी इस प्रकार के पन्थ थे जिन्हें सिलसिला कहा जाता है। ये सिलसिले हिन्दुओं के उपर्युक्त पन्थों के समान थे तथा इनकी बहुत सी बातें

पन्थों जैसी ही थीं। उदाहरणार्थ दोनों ईश्वर को एक मानते थे और गुरु अथवा पीर पर भी दोनों की समान श्रद्धा थी। दोनों को ईश्वर के प्रेम और संसार के ऐहिक सुखोपभोग के त्याग की आकांक्षा थी। दोनों ही हिन्दू और मुसलमानों के पारस्परिक वैमनस्य को नष्ट कर देना चाहते थे। अस्तु रीतिकालीन इन्हीं विविध परिस्थितियों के आलोक में उस युग की कला का अध्ययन अधिक युक्तियुक्त हो सकता है।

कला प्रवृत्ति

इस नामरूपात्मक जगत का जो प्रतिबिम्ब भावुक मानव पर पड़ता है उसे वह अपनी कल्पना और हृदय-रस से सम्पृक्त कर अनेक रूपों में अभिव्यक्त करता रहता है। कभी चित्र खींचकर कभी कुछ गुनगुना कर, कभी मूर्ति गढ़कर तो कभी कविता रचकर वह अपनी ऐसी ही अनुभूतियों का व्यक्तीकरण करता है तथा मानसिक तृप्ति प्रदान करने वाली ऐसी अभिव्यक्ति की ही संज्ञा कला है। पर युग-चित्त-वृत्तियों का गहरा प्रभाव इन कलात्मक अभिव्यंजनाओं पर पड़ता है। साहित्य और संगीत दोनों ही प्रमुख ललित कलाएँ हैं तथा रीतिकालीन काव्य एवं संगीत का पारस्परिक सम्बन्ध तो प्रस्तुत प्रबन्ध का प्रतिपाद्य ही है, अतः साहित्य एवं संगीत सम्बन्धी तत्कालीन चित्त-वृत्ति के समुचित अन्वेषण के लिए प्रसंगवशात् रीतिकालीन सभी ललित कलाओं की तत्कालीन दशा का अनुशीलन यहाँ उचित प्रतीत होता है।

वास्तु कला तथा मूर्ति कला

रीतिकाल के पूर्वार्ध में मुगल-साम्राज्य के ऐश्वर्य के चरमोत्कर्ष के साथ ललित कलाएँ भी अपने उत्कर्ष के शिखर पर आ पहुँची थीं। कला की कमनीय कल्पना ताजमहल इस बात का साक्षिप्त प्रमाण है कि शाहजहाँ के युग में वास्तु-कला कितनी समुन्नत हो चुकी थी। आगरे की मोती मस्जिद तथा दिल्ली का लालकिला तत्कालीन युग-प्रवृत्ति के साकार प्रतीक हैं। कमनीयता मनोरमता और आलंकारिकता इस युग के स्थापत्य की ऐसी विशेषताएँ हैं जो तत्कालीन संगीत साहित्य चित्रकला इत्यादि सभी ललित कलाओं में परिलक्षित होती हैं। अकबर-युगीन कलागत मनोवृत्ति में विशालता वि समासक्ति की परिचा दृष्टिगत होती है उसके स्थान पर यहाँ सौन्दर्य के साथ कोमलता सूक्ष्मता और रमात्मकता का समावेश परिलक्षित होता है।

किन्तु शाहजहाँ ने यदि ताजमहल जैसी कलाकृति का निर्माण किया था तो अनेक पुरातन मन्दिरों को विध्वंस भी कर दिया था। उसकी मृत्यु के पश्चात् औरंगजेब की धार्मिक असहिष्णुता तो और भी नृशंस रूप में प्रकट हुई। न जाने कितने मंदिरों को तोड़-फोड़ कर उसने मस्जिदें खड़ी कीं। औरंगजेब को ललित कलाओं के प्रति कोई आकर्षण न था मानो उसे कला मात्र से द्वेष और लालित्य मात्र से चिढ़ थी। संगीत को उसने दफनाया मूर्तियाँ उसने तोड़ीं, चित्रकारी को उसने मिटाया परिणामतः उसकी बर्बरता काल-भाल पर कलंक-कलुष बन कर स्थायी हो गयी। औरंगजेब के निधन के पश्चात् तो मुगल-साम्राज्य का भव्य प्रासाद भरभरा कर बैठने ही लग गया था। उसके उत्तराधिकारियों के पास इतना धन था ही नहीं कि वे स्थापत्य में कोई रुचि लेते। मनोवृत्ति नितान्त स्थूल-शृङ्गारिक हो जाने के कारण जो कुछ धन था भी उसे वे वैयक्तिक तथा सुखोपभोग में व्यय करके स्थूल भौतिक सुखों का अधिक से अधिक उपभोग कर डालना चाहते थे। इसीलिए उनके द्वारा कोई उल्लेखनीय इमारत न बनी। शाह आलम द्वितीय ने युवराज में जो इमारतें बनवायीं उन पर जैन-वास्तु-कला की पूरी छाप है। लखनऊ के नवाबों की इमारतों में भी कोई उल्लेखनीय बात नहीं है। अधिक से अधिक आसफुद्दौला के बड़े इमामबाड़े का नाम लिया जा सकता है जो अपनी विशालता के कारण प्रसिद्ध है किन्तु इसमें भी पूर्ववर्ती मुगल-इमारतों की नकल ही अधिक दिखायी देती है।

मूर्ति एवं वास्तु-कला के इस ह्रास-काल में मराठों, सिक्खों और राजपूतों के द्वारा स्थापत्य को थोड़ा-बहुत सम्बल अवश्य मिला। मराठों के मन्दिर

१ औरंगजेब की बनवायी हुई इमारतों में अधिकांश मस्जिदें तो मन्दिरों को तोड़कर बनी हैं। उनमें एक प्रकार की बर्बरता कठोरता, तथा उजड्डपन का निदर्शन होता है शाहजहाँ के समय के सुन्दर स्थापत्य को उसने ऐसा नष्ट किया है, मानों उसकी चाल बिगड़ गयी हो। उसकी इमारतों में काशी के गंगा तट पर बनी वह मस्जिद है, जो विन्दु-माधव के मन्दिर को तोड़कर बनायी गई थी। यह अब भी वहाँ "माधवराय का धौरहरा" के पुराने नाम से पुकारी जाती है। दक्षिण में उसने अपनी बेगम का मकबरा बनवाने में ताज की नकल की, पर उसमें कुछ भी सफलता नहीं मिली।"

डा० श्याम सुन्दर दास कृत 'हिन्दी भाषा और साहित्य,' पृष्ठ-२४५

निर्माण में चाहे पुरानी शैली का अनुकरण मात्र हो किन्तु उनके बनवाये हुए घाटों में विशालता और भारीपन के जो विशेषताएँ उपलब्ध हैं वे उनकी उस महत्वाकांक्षा का प्रतिनिधित्व करती हैं जिसने उन्हें अपनी स्वतन्त्र सत्ता प्रतिपादित करने की प्रेरणा प्रदान की थी। बनारस के सिन्धिया और भोंसला घाट इस कथन के ठोस प्रमाण हैं। राजपूताने में आम्बेर स्थित राजमहल तथा दीग में सूरजमल के भवनों में अलंकृत-सौन्दर्य-वैशिष्ट्य का निदर्शन हुआ किन्तु सामूहिक रूप से विचार करने पर इस काल में न तो स्वतन्त्र प्रतिभा का परिचय मिलता है और न अनुभूतिमूलक वह मनोरम भावाभिव्यक्ति जिसकी निरलंकृत शोभा पर बुद्धि से आँख-मिचौनी खेलता हुआ मन चुपचाप मुग्ध हो जाया करता है।

अपने धार्मिक विचारों के कारण मुसलमानों के लिए मूर्ति-पूजा कुफ्र है अतः मुगल-शासन-काल में तक्षण-कला की जितनी उपेक्षा हुई उतनी सम्भवतः और किसी कला की नहीं किन्तु हिन्दुओं में मूर्ति-पूजा का प्रचार बराबर बना रहा। मन्दिर-निर्माण के साथ उनके लिए मूर्ति-निर्माण आवश्यक था। मन्दिर बनता ही किसी न किसी मूर्ति की स्थापना के लिए है फलतः तक्षण कला को मुगल-शासकों द्वारा तो राज्याश्रय न मिला किन्तु हिन्दुओं के स्थापत्य के साथ मूर्तिकला बनी अवश्य रही।

राजनीतिक सामाजिक धार्मिक अथवा अन्य किसी परिस्थिति के फलस्वरूप जब दो जातियों का पारस्परिक सम्पर्क स्थापित होता है तब दोनों ही पर एक दूसरे का सांस्कृतिक प्रभाव पड़ना अवश्यम्भावी है। मुसलमान चाहे अरब और फ़ारस से आये हों किन्तु जब वे यहाँ आकर बस गये और स्थापत्य के लिये उन्हें कारीगरों की आवश्यकता हुई तब अनेक कारीगर अरब और फ़ारस से नहीं आये थे। भारत के कारीगरों से ही उन्हें बहुत कुछ काम लेना पड़ा। फलतः उनकी वास्तु-कला में भी भारतीय संस्कृति की छाप—चाहे वह आंशिक रूप में ही क्यों न हो—अवश्य पड़ी। इसीलिए ताजमहल जैसी कला-कृति की भव्यता ऐसी दिखायी देती है मानो किसी ने एक मनोरम मूर्ति ही गढ़ दी हो। फिर भी मूर्तिकला इस काल में प्रायः विस्मृत सी रही। नेपाल के हिन्दू राजाओं-द्वारा मूर्ति-कला को थोड़ाबहुत आश्रय मिला तथा गुजरात और उड़ीसा में भी इस कला का निर्वाह होता रहा तथापि मौलिकता का अभाव इस कला में भी बुरी तरह खटकता है। दीप्तिमान भाव-वैशिष्ट्य न होने के कारण इस काल की मूर्तिकला में निष्प्राण परम्परा-पालन के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

चित्रकला

भारत में मुगलों के शासन के साथ भारतीय एवं फारसी चित्रकला का पारस्परिक आदान प्रदान हुआ। आरम्भ में निश्चय ही फारसी शैली का प्राधान्य रहा किन्तु जहाँगीर के युग तक आते-न-आते वह प्रभाव प्राय तिरोहित सा हो गया। फारसी चित्रकला इस काल में आकर भारतीय चित्रकला में सर्वथा घुलमिल गयी फलत उसमें ऐसी स्वाभाविकता व्याप्त हो गयी जिस से जहाँगीर का युग मुगल-शैली की चित्रकला का स्वर्ण युग बन गया किन्तु जहाँगीर के साथ ही इस चित्रकला की आत्मा भी मर गयी।

शाहजहाँ को चित्रकला से उतना प्रेम न था जितना वास्तु-कला से फलत शाहजहाँ के काल में चित्रकला में वह हार्दिकता न दिखायी दी जो जहाँगीर-युगीन चित्रकला का प्राण थी। बेल-बूटे फूल-पत्ते नक्काशी और कारीगरी सब भी थी पर कमी थी भावमत्ता की, जो सभी ललित कलाओं की मार्मिक विशेषता है। यह इस बात का उत्तम प्रमाण है कि रीतियुगीन वे प्रवृत्तियाँ जो इस काल में सभी ललित कलाओं के ह्रास का कारण बनी—चित्रकला पर भी अपनी काली छाया डाल रही थीं। शाहजहाँ के दरबारी शिष्टाचार एवं राजसी मर्यादाओं के कारण चित्रकार दरबार के आन्तरिक जीवन में उस प्रकार भाग न ले सके जिस प्रकार गायक एवं कविगण लेते थे फलत चित्रकारों की कला राजसी वैभव को अलंकृत करने में ही अधिक व्यय हुई।

शाहजहाँ के पश्चात् औरंगजेब का वह युग आया जिसमें सभी कलाओं की उपेक्षा हो गयी। जिस औरंगजेब ने संगीत को दफन करवा दिया था उसी ने दफनाए हुए अकबर के मकबरे से चित्रकारी को भी मिटवा दिया। उसके दरबार में चित्रकला की यदि गुंजाइश थी तो मात्र शबीह की। उसने अपने चित्र बनवाये थे—पर शायद इसलिए कि वह अपने आगामी वंशजों के लिए एक यादगार छोड़ जाना चाहता था। अपने उन कुटुम्बियों के भी वह बारम्बार चित्र बनवाता था, जिन्हें उसने नजरबन्द कर रखा था, जिससे वह यह देख सके कि घुल-घुल कर मरने वाले ये कुटुम्बी अब मौत के कितने निकट पहुँच चुके हैं।

दिल्ली राज-कोष में अर्थाभाव और औरंगजेब की भीषण असहिष्णुता के कारण अन्य कलाकारों के समान चित्रकार भी रईसों अमीरों और नवाबों के दरबारों में बिखर गए। यह युग ही दिल्ली-दरबार से कलाकारों के विकेन्द्री

करण का था फलतः मुगल-चित्रकला की दिल्ली कलम लखनऊ कलम इत्यादि नामों से स्थानीय विशेषताओं से युक्त विभिन्न शैलियों का प्रादुर्भाव हुआ किन्तु मौलिकता किसी में न थी। इन दरबारों के उन्मुक्त विलासपूर्ण वातावरण के रंगों में जो शृङ्गारिक चित्र रंगे उनमें अन्तःपुर की रंगीनी विशेष उठी थी।

रीतिकालीन चित्रकला का एक रूप यह भी था जो मुसलमान अधिपतियों के संरक्षण से दूर रहकर जनता की चित्त-वृत्ति से निकट सम्बन्ध स्थापित करता हुआ लोकप्रिय बन गया था। यह था राजपूत-शैली का वह रूप जो दरबार की संकुचित सीमा में आबद्ध न रह कर लोक-जीवन से जीवन पाकर हरा भरा हो रहा था। राजपूत शैली (राजस्थानी) में राग रागिनियों के अनेक भावपूर्ण चित्र बने जो इस शैली में अंकन का मुख्य विषय बन गये थे। इस के अतिरिक्त बारह मासे नायिका-भेद तथा कृष्ण-लीला भी इस शैली के विषय थे।

अकबर और जहाँगीर के शासन-काल में बुन्देलों का अभ्युदय आरम्भ हो गया था फलतः आगे चलकर उनकी चित्रकला में भी जीवन और उल्लास का उत्कर्ष हुआ। बुन्देलखण्डी शैली में केशव की अनेक कविताओं का आधार लेकर सुन्दर चित्र बने। इसके अतिरिक्त नायिका भेद और राग-रागिनियों के चित्र तो इस युग के चित्रकारों के प्रिय विषय थे ही। देव बिहारी और मतिराम की भावपूर्ण रचनाओं को लेकर दतिया दरबार में भी इसी शैली के चित्र बनाये गये किन्तु इन स्थानों के दूर पड़ जाने के कारण इन शैलियों का हिन्दी-क्षेत्र की अन्य ललित कलाओं से उल्लेखनीय सम्पर्क स्थापित न हो सका।

काव्य और संगीत कला

अन्य ललित कलाओं की भाँति रीतिकाल में काव्य और संगीत में भी मौलिकता का ह्रास दिखायी देता है। इन दोनों कलाओं पर प्रस्तुत प्रबन्ध में अन्यत्र विस्तार से विचार किया गया है अतः प्रसंग के आग्रह से यहाँ कतिपय तथ्यों का संकेत मात्र ही अलम् होगा।

रीतिकालीन काव्य के मुख्य विषय नायिका भेद षट्ऋतु-वर्णन नख-शिख वर्णन इत्यादि थे। अलंकार-मोह और पाण्डित्य प्रदर्शन की प्रवृत्ति के कारण सूर और तुलसी की भक्ति-गंगा अब शृङ्गारिकता और विलास की धारा बन कर उमड़ रही थी। इस युग के आचार्य कवियों में भी मौलिकता का अभाव था। ठीक यही बात तत्कालीन संगीत में भी दृष्टिगोचर होती है। मौलिकता

से रहित उस युग का संगीत भी स्वामी हरिदास तानसेन इत्यादि की गम्भीर ध्रुपद-शैली को छोड़कर ख्याल-गायकी में परिवर्तित हो गया था। इस काल में ठुमरी-शैली की शृङ्गारिकता संगीत को रीतियुगीन कलाओं के और भी निकट पहुँचा देती है।

निष्कर्ष

प्रस्तुत विवेचन के आधार पर निष्कर्षस्वरूप जो बातें उपलब्ध होती हैं वे निम्नलिखित हैं

१ रीतिकाल में सभी ललित कलाओं का ह्रास हुआ। औरंगजेब का शासनकाल इस सम्बन्ध में विशेषतः द्रष्टव्य है।

२ सभी ललित कलाओं में भावमयता और जीवन की उष्णता का अभाव रहा और इस कमी को पूर्ति के लिए अतिशय अलंकरण की प्रवृत्ति जाग उठी।

३ तत्कालीन युग की शृङ्गारिक मनोवृत्ति काव्य के समान ही वास्तु-कला चित्रकला और संगीत में भी परिलक्षित होती है। कवि, गायक शिल्पी चित्रकार सभी अपने-अपने आश्रयदाताओं की विलासी मनोवृत्ति के अनुकूल अपनी अपनी कला का प्रयोग कर रहे थे फलतः उस युग की वैयक्तिकताहीन कला सर्जना में मात्र शृङ्गारिक उत्तेजना रह गयी थी।

४ इस काल की सभी ललित कलाओं में मौलिकता का अभाव दृष्टिगोचर होता है। कविगण यदि आचार्यत्व की धुन में संस्कृत के पिछले वेवे के कवियों के लक्षणग्रन्थों का अन्धानुकरण कर रहे थे तो संगीत में भी भरत के 'नाट्य शास्त्र' और शार्ङ्गदेव के 'संगीत रत्नाकर' में प्रतिपादित सिद्धान्तों की अपूर्ण अनुकृति भर रह गयी थी। संगीतज्ञों की यह मनोवृत्ति उस युग के रीतिबद्ध कवियों के समानान्तर है। रीतिमुक्त कविता के समानान्तर वह संगीत है जो घनानन्द जैसे कवियों के रस सिक्त पदों में दृष्टिगोचर होता है। दरबारी मर्यादा की कठोरता में आबद्ध चित्रकला भी मौलिकताविहीन हो गयी थी किन्तु जो चित्रकला इस बंधन से मुक्त थी वह जन-जीवन से सम्पर्क स्थापित कर फल-फूल रही थी।

५ नारी शृङ्गार की साक्षात् मूर्ति है, अतः इस युग की ललित कलाएँ भी जैसे नारीमय हो उठी थीं। तत्कालीन स्थूल शृङ्गारिक मनोवृत्ति का यह गहरा प्रभाव है। काव्य में स्त्रियों के अंग-प्रत्यंग की शोभा को लेकर नख-शिख की भी भरकर चर्चा हुई। नायिका-भेद में नारी की उस मनोदशा को भी

अभिव्यक्ति हुई जो सहज नैसर्गिक होते हुए भी लज्जा के अवगुण्ठन में छिपी रहती है और संस्कारगत कुण्ठाओं के कारण अभिव्यक्त नहीं हो पाती। संगीत में गीत ऐसे थे जिनके शब्द मानों किसी स्त्री के मुख से ही निकल रहे हों। संगीत की सशक्त शैली के स्थान पर टप्पा और ठुमरी जैसी शैलियाँ प्रचलित हो गयी थीं जिनकी स्त्रैणता स्वतः सापेक्ष है। चित्रकला में नारी की रसीली आँखों और अंगों का उभार आ गया था तथा वास्तु-कला में नारी की गोराई संगमरमर में आभासित थी। ताज मानों शाहजहाँ की प्रेयसी के सौन्दर्य का मूर्त रूप है, उसकी प्रियतमा के मूल्यवान आभूषणों की अनुकृति ही ताज की नक्काशी की बारीकियों में झलक उठी है।

परिच्छेद-५

रीतिकालीन संगीत

रीतिकालीन संगीत

(ऐतिहासिक पार्श्व)

परिच्छेद-५

(क)

हिन्दी-साहित्य का रीतिकाल वस्तुतः कला-युग था अतः इस काल में संगीत के क्रियात्मक रूप में कलात्मक सूक्ष्मताओं का सन्निवेश तो हुआ परन्तु उसके शुष्क शास्त्रीय विवेचन में लोगों की उतनी रुचि न हो सकी। यही कारण है कि इस युग में संगीत सम्बन्धी उत्कृष्ट ग्रन्थ अधिक न लिखे जा सके।

हिन्दी-साहित्य में रीतिकाल का आरम्भ शाहजहाँ के शासनकाल से माना जाता है। जहाँगीर के लगभग बाईस वर्ष राज्य करने के पश्चात् १६२७ ई० से १६२८ ई० तक शाहजहाँ का राज्य-काल माना है। शाहजहाँ के दरबार के उल्लेखनीय गायक जगन्नाथ (कविराज) लालखाँ (गुणसमुद्र) तथा दोरंग खाँ थे।

अहोबल

इस युग का महत्वपूर्ण ग्रन्थ 'संगीत पारिजात' है जिसे अहोबल ने लिखा था। इस ग्रन्थ का आगे चलकर १७२४ ई० में वासुदेव के पुत्र दीनानाथ द्वारा फारसी में अनुवाद भी हुआ।

भारतीय संगीत के ऐतिहासिक अध्ययन में 'संगीत पारिजात' अतीव उपयोगी ग्रन्थ है। इसका कारण यह है कि सबसे पहले अहोबल ने ही तार की लम्बाई से वीणादण्ड पर स्वरों का मान निर्धारित किया। उनकी इस प्रक्रिया का अनुसरण करके आज भी वीणादण्ड पर शुद्ध एवं विकृत स्वरों की स्थापना की जा सकती है तथा इस प्रकार हिन्दी के रीतिकालीन युग के स्वरों का नादात्मक स्वरूप एवं उनकी सहायता से तत्कालीन रागों की नादात्मक रूपरेखा को समझने में सहायता ली जा सकती है। यद्यपि अहोबल की इस प्रक्रिया को परवर्ती विद्वानों ने विशेष महत्त्व नहीं दिया एवं उसका अनुसरण भी आग्रहपूर्वक नहीं किया परन्तु आज के युग में यह बात ऐतिहासिक दृष्टि से अहोबल की एक महत्वपूर्ण देन बन गयी है। आगे चल कर श्रीनिवास ने भी अहोबल

रीतिकालीन संगीत

(ऐतिहासिक आमेय)

परिच्छेद-५

(क)

हिन्दी-साहित्य का रीतिकाल वस्तुतः कला-युग था अतः इस काल में संगीत के क्रियात्मक रूप में कलात्मक सूक्ष्मताओं का समावेश तो हुआ परन्तु उसके सूक्ष्म शास्त्रीय विवेचन में लोगों की उतनी रुचि न हो सकी। यही कारण है कि इस युग में संगीत सम्बन्धी उत्कृष्ट ग्रन्थ अधिक न लिखे जा सके।

हिन्दी-साहित्य में रीतिकाल का आरम्भ शाहजहाँ के शासनकाल से माना जाता है। जहाँगीर के लगभग बाईस वर्ष राज्य करने के पश्चात् १६२७ ई० से १६५८ ई० तक शाहजहाँ का शासन-काल माना जाता है। शाहजहाँ के दरबार के उल्लेखनीय गायक जगन्नाथ (कविराज) लालखाँ (गुणसमुद्र) तथा दीरंग खाँ थे।

अहोबल

इस युग का महत्वपूर्ण ग्रन्थ 'संगीत पारिजात' है जिसे अहोबल ने लिखा था। इस ग्रन्थ का आगे चलकर १७२४ ई० में वासुदेव के पुत्र दीनानाथ द्वारा फ़ारसी में अनुवाद भी हुआ।

भारतीय संगीत के ऐतिहासिक अध्ययन में 'संगीत पारिजात' अतीव उपयोगी ग्रन्थ है। इसका कारण यह है कि सबसे पहले अहोबल ने ही तार की लम्बाई से वीणादण्ड पर स्वरों का स्थान निर्धारित किया। उनकी इस प्रक्रिया का अनुसरण करके आज भी वीणादण्ड पर शुद्ध एवं विकृत स्वरों की स्थापना की जा सकती है तथा इस प्रकार हिन्दी के रीतिकालीन युग के स्वरों का भावात्मक स्वरूप एवं उनकी सहायता से तत्कालीन रागों की वास्तविक रूपरेखा को समझने में सहायता ली जा सकती है। यद्यपि अहोबल की इस प्रक्रिया को परवर्ती विद्वानों ने विशेष महत्व नहीं दिया एवं उसका अनुसरण भी आग्रह पूर्वक नहीं किया परन्तु आज के युग में यह बात ऐतिहासिक दृष्टि से अहोबल की एक महत्वपूर्ण देन बन गयी है। आगे चल कर श्रीनिवास ने भी अहोबल

का अनुसरण करते हुए वीणादण्ड पर शुद्ध और विकृत स्वरों का स्पष्टीकरण किया है, परन्तु अहोबल का यह कहना कि "मैंने इस मार्ग का निर्देश उन लोगों के लिए किया है जो स्वर-ज्ञान से विहीन हैं। स्वर-स्थापन का मूल कारण तो स्वर-संवादित्व का ज्ञान ही है" स्पष्टतः इंगित करता है कि अहोबल की दृष्टि में इस विधि का विशेष महत्त्व नहीं था। वस्तुतः जिसे स्वर-ज्ञान ही नहीं है उसका भला संगीत-कला से क्या सम्बन्ध हो सकता है? और जिसे स्वर-ज्ञान है उसके लिए षड्ज-पंचम-भाव या षड्ज-मध्यम भाव द्वारा स्वर-स्थापन कर लेना क्या बड़ी बात है। परन्तु अहोबल और श्रीनिवास की स्वर-स्थापन प्रक्रिया उस युग के स्वरों के स्पष्टीकरण में आज कितनी महत्त्वपूर्ण सहायता प्रदान करती है, यह संगीतज्ञों से छिपा नहीं है।

अहोबल के रागाध्याय में यद्यपि उन्तीस स्वरों का उल्लेख है, किन्तु व्यवहार केवल बारह ही स्वरों का हुआ है। वर्तमान भारतीय संगीत में भी बारह ही स्वर प्रयुक्त होते हैं। अहोबल ने अपने बारह स्वरों की सहायता से 'पारिजात' में एक सौ-बाईस रागों को स्पष्ट किया है। 'पारिजात' का शुद्ध ग्राम दाक्षिणात्य पद्धति का खरहरप्रिया मेल अथवा वर्तमान भारतीय संगीत-पद्धति का काफी ठाठ है।

हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति का मूल आधारभूत ग्रन्थ अहोबल का 'संगीत पारिजात' ही है। हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति के बारह स्वरों में से सा रे ग॒ म प ध नि॒ सं (काफी ठाठ के) सात स्वर वे ही हैं जो अहोबल द्वारा व्यवहृत हैं। शेष रे॒ ग म॑ ध॒ नि का आधार 'संगीत पारिजात' नहीं है। इन पाँच स्वरों को पाश्चात्य मेजर स्केल के अनुरूप स्वीकार कर लिया गया है तथा शुद्ध धैवत की आन्दोलन संख्या प्रति सैकिण्ड ४०१ मान ली गयी है। फिर भी यह ध्यान रखना चाहिए कि गायक स्वरों की आन्दोलन-संख्या का ध्यान रखकर उनका व्यवहार नहीं करते। राग गायन की प्रत्यक्ष क्रिया में राग में प्रयुक्त होने

---

१ स्वरज्ञानविहीनेभ्यो मार्गोऽयं दर्शितो मया।
स्वरसंवादिताज्ञानं स्वरस्थापनकारणम्॥

अहोबल पण्डित प्रणीत 'संगीत पारिजात'
(स्वरस्थान लक्षण) श्लोक संख्या १२६

(मैंने यह मार्ग उन लोगों के लिए स्वीकार किया है जिनका स्वर ज्ञान पक्का नहीं है। स्वर-स्थापना करने में स्वर-संवादिता-ज्ञान यह तत्त्व स्वीकार किया गया है।)

वाला प्रत्येक स्वर अपने आस-पास के स्वरों से प्रभावित होकर स्वयमेव ही अपने युक्तियुक्त स्थान और अपनी विशिष्ट प्रकृति को कुशल संगीतज्ञ के सम्मुख सुस्पष्ट कर देता है। यह कौन नहीं जानता कि भैरव पूरिया मारवा इत्यादि रागों में कोमल ऋषभ प्रयुक्त होता है, परन्तु संगीत के पारखी विद्वानों से इन रागों में कोमल ऋषभ की विशिष्ट सत्ता भी कभी छिपी नहीं रही।

'संगीत पारिजात' के लिखे जाने के आस-पास ही हृदयनारायणदेव द्वारा 'हृदय कौतुक' एवं 'हृदय प्रकाश' नामक दो ग्रन्थ लिखे गये। हृदयनारायणदेव ने भी अहोबल के समान वीणा के तारों पर स्वर का स्पष्टीकरण किया है। परन्तु हृदयनारायणदेव के प्रादुर्भाव काल का निश्चय न होने से यह कहना कठिन है कि हृदयनारायण ने अहोबल का अनुसरण किया अथवा अहोबल ने हृदयनारायण का।[१]

---

१ "Ahobala in his Sangeet parijata also describes the Swaras in terms of the lengths of the sounding string as we shall see hereafter But do not know whether he got that idea from Hradaya's book. Some scholars on the contrary suspect that Hradaya took the idea from Ahobala There is no reliable evidence on the point, but there are two facts which may lead some colour to the last mentioned suspicion. Hradaya in his Koutuka omits to fix the position of his Shudha and Vikrit Swaras in terms of the lengths of the strings And secondly the Sangeet Parijata is a much more elaborate work than the Hridaya Prakash All will depend therefore upon the question whether or not the Parijat was written before the Prakasha.

— A comparative study of some of the leading music systems of the 15th, 16th, 17th & 18th centuries by Pandit V N Bhatkhande Page 24

(जैसा कि हमें आगे चलकर मालूम होगा, अहोबल ने अपने 'संगीत पारिजात' में तार की लम्बाई के रूप में भी स्वरों का वर्णन किया है। पर हमें ज्ञात नहीं कि अहोबल ने यह कल्पना हृदय की पुस्तक से ली है या नहीं। कुछ विद्वानों का तो यह विचार है कि हृदय ने ही अहोबल से यह कल्पना ली है। इस विषय में कोई विश्वसनीय प्रमाण उपलब्ध नहीं है पर दो बातें ऐसी हैं जिनसे उपर्युक्त सन्देह की कुछ पुष्टि होती है। हृदय ने अपने 'कौतुक' में तार की लम्बाई के रूप में शुद्ध और विकृत स्वरों की स्थिति निश्चित नहीं

व्यंकटमखी

दाक्षिणात्य विद्वान व्यंकटमखी पण्डित ने १६६० ई० में कर्नाटकी संगीत पर 'चतुर्दण्डिप्रकाशिका' नामक ग्रन्थ लिखा। इस ग्रन्थ में भी शुद्ध बारह ही स्वरों का प्रयोग हुआ है। व्यंकटमखी पण्डित ने गणित द्वारा एक सप्तक में से ७२ ठाटों तथा एक ठाट से ४८४ रागों का निर्माण हो सकना सिद्ध किया है। परन्तु व्यवहार उन्होंने १९ ठाटों का ही किया। शेष ठाट रंजकत्व के अभाव में ग्रहण न हो सके। आजकल ठाट-पद्धति ही अधिक प्रचलित होने के कारण व्यंकटमखी पण्डित का महत्त्व और भी बढ़ जाता है।

औरंगजेब

१६५८ ई० में शाहजहाँ की मृत्यु हुई और उसके भाइयों से कुछ काल तक युद्ध करके औरंगजेब दिल्ली का बादशाह बना। औरंगजेब की धर्मान्धता और कट्टरता के कारण संगीत को बहुत ही बुरे दिन देखने पड़े। उसके दरबार से संगीत का सर्वथा बहिष्कार हो गया, अतः मुगलकाल में संगीत का जो कुछ उत्कर्ष होना था वह शाहजहाँ के युग तक ही होकर रह गया।

मुहम्मद साहब के आदेशानुसार औरंगजेब के लिए संगीत हराम था। संगीत के जलसे पुलिस द्वारा भंग कर दिये जाते थे और वाद्ययन्त्र जला दिये जाते थे।[1] एक बार जुम्मे की नमाज पढ़ने मस्जिद जाते समय औरंगजेब ने

की है और दूसरी बात यह है कि 'संगीत पारिजात' 'हृदय प्रकाश' से बहुत अधिक विस्तृत ग्रन्थ है। अतः सारी बातें इस प्रश्न पर निर्भर हैं कि 'पारिजात' 'प्रकाश' से पहले लिखा गया था नहीं।)

[1] Aurangzeb did his best to suppress music and dancing altogether in accordance with the example of the Mohamedan Prophet who was born without an ear for music and therefore hastily ascribed the invention of harmony to the Devil. The musicians of India were certainly noted for a manner of life which ill accorded with Aurangzeb's strict ideas and their concerts were not celebrated for sobriety. The Emperor determined to destroy them and severe edict was issued. Raids of the police dissipated their harmonious meetings and their instruments were burnt. One Friday as Aurangzeb was going to the mosque he saw an immense crowd of singers following a bier and rending the air with their cries and lamentations. They seemed to be burying some great

एक भीड़ को जनाजा ले जाते हुए देखा । औरंगजेब को जब यह पता चला कि यह संगीत-कला का जनाजा है तो उसने कहा कि इसे इतना गहरा दफन करना कि फिर इसकी आवाज कभी सुनायी न दे । औरंगजेब कट्टरता से इस्लाम धर्म को मानता था इसी कारण वह संगीत का विरोधी भी था किन्तु चाहे वह अपनी धार्मिक मनोवृत्ति के कारण संगीत का विरोध भले ही करता हो उसकी आन्तरिक अभिरुचि सम्भवतः इतनी दृढ़ता से संगीत के विरुद्ध न थी । प्रसिद्ध इतिहासकार यदुनाथ सरकार ने हीराबाई के सौन्दर्य और संगीत से प्रभावित होकर औरंगजेब का उससे विवाह करने की जिस घटना का उल्लेख किया है वह उपर्युक्त कथन के प्रमाणस्वरूप उपस्थित की जा सकती है । एक

Prince The Emperor sent to inquire the cause of the demonstration and was told it was the funeral of Music slain by his orders and wept by her children I approve their piety said Aurangzeb let her be buried deep and never be heard again."

— Rulers of India Series. Aurangzeb by Stanley Lane Poole Page 101

(मुस्लिम पैगम्बर मुहम्मद साहब की मिसाल पर चलते हुए औरंगजेब ने गायन और नृत्य को कुचलने का भरसक प्रयत्न किया । मुहम्मद साहब संगीत पसन्द नहीं करते थे इसीलिए उन्होंने अलबदायी में संगीत को शैतान से पैदा ठहरा दिया । भारत के गायक निश्चय ही ऐसी जीवन-पद्धति के लिए प्रसिद्ध थे जो औरंगजेब के कट्टर विचारों से मेल नहीं खाती थी अतः संयम और सावधानी से काम लेते हुए गायक संगीत समारोह नहीं करते थे । सम्राट् ने उन्हें नष्ट करने का दृढ़ संकल्प कर रखा था और उसने कठोर आदेश जारी किये थे । पुलिस छापा मार कर संगीत सभाएँ भंग कर देती थी और वाद्य-यंत्र जला देती थी । एकबार जुम्मे की नमाज के लिए मस्जिद जाते हुए औरंगजेब ने शोकातुर संगीतज्ञों की एक भारी भीड़ को एक जनाजे के साथ जाते देखा । मालूम होता था कि भीड़ किसी शाहजादे को दफनाने जा रही है । शहंशाह ने इस प्रदर्शन का कारण जानने के लिए अपने आदमी भेजे और बाद में उसे पता चला कि यह संगीत का जनाजा है जिसे शाही आदेशानुसार कत्ल कर दिया गया है और जिसके बच्चे रो रहे हैं । औरंगजेब ने कहा "मैं उनकी धर्मनिष्ठा की सराहना करता हूँ । इस जनाजे को इतना गहरा दफनाया जाए कि फिर उसकी आवाज कानों तक न पहुँच सके ।)

बार तो औरंगजेब जैनाबादी के हाथ से शराब पीने को भी तैयार हो गया था।१ अतः स्पष्ट है कि चाहे धार्मिक कट्टरता के कारण उसे संगीत को हराम

---

१ "Besides the above four there was another woman whose supple grace, musical skill, and mastery of blandishment, made her the heroine of the only romance in the puritan Emperor's life. Hirabai surnamed Zainabadi was a young slave-girl in the keeping of Mirkhalil who had married a sister of Aurangzeb's mother. During his viceroyalty of the Deccan, the prince paid a visit to his aunt at Burhanpur. There while strolling in the park of Zainbad on the other side of Tapti, he beheld Hirabai unveiled among his aunt's train ——— Hirabai was standing under a tree holding a branch with her right hand and singing in low tone. Immediately after seeing her the prince helplessly sat down there and then stretched himself at full length on the ground in a swoon. ——— one day she offered him a cup of wine and pressed him to drink it. All his entreaties and excuses were disregarded and the helpless lover was about to take the forbidden drink when the sly enchantress snatched away the cup from his lips."

— History of Aurangzeb by J. N. Sirkar Page 65-68 Vol. I Edition 1912

(इन चारों के अतिरिक्त एक और भी ललना थी जो अपनी कमनीयता, संगीत-पटुता, मृदुभाषिता एवं व्यवहार कुशलता से धर्मनिष्ठ सम्राट् के जीवन की एकमात्र प्रणय-लीला की नायिका बन बैठी थी। यह युवती एक दास-कन्या थी जिसका नाम हीराबाई उर्फ जैनाबादी था। यह मीरखलील के संरक्षण में पल रही थी। मीरखलील औरंगजेब के मौसा थे। जब शाहजादा औरंगजेब दक्खन (दक्षिण) के सूबेदार थे तो एक बार वे अपनी मौसी से मिलने बुरहानपुर गये। वहाँ एक दिन ताप्ती नदी के दूसरी ओर जैनाबाद के उद्यान में टहलते हुए उनकी दृष्टि हीराबाई पर पड़ी। उस समय हीराबाई औरंगजेब की मौसी की अनुचारिकाओं के साथ थी। हीराबाई एक वृक्ष के नीचे खड़ी थी। वह दायें हाथ से डाल पकड़े धीमी आवाज में गा रही थी। उसे देखते ही शाहजादा असहाय अवस्था में वहीं बैठ गये और फिर लेट गये यहाँ तक कि मूर्छित भी हो गये।   एक दिन हीराबाई ने उन्हें शराब-भरा प्याला दिया और पीने के लिए बाध्य किया। शाहजादे की सारी मिन्नत मारत्न और बहाने बेकार गये बेचारे प्रेमी की निषिद्ध पेय गले से नीचे उतारने ही को थे कि चतुर जादूगरनी ने होठों से प्याला छीन लिया।)

बहना पड़ता हो, परन्तु उसका हृदय भी संगीत के प्रति आकृष्ट हुए बिना नहीं रह सका था। संगीत के जिस जनाजे को बहुत गहरा दफनाने का औरंगजेब ने आदेश दिया था वह जनाजा वस्तुतः औरंगजेब की संगीत-विरोधी नीति का एक मूक प्रतिवाद मात्र था और औरंगजेब सम्राट् औरंगजेब अपनी आज्ञा के इस मूक विरोध को भी नहीं सह सका था। इसीलिए उसने संगीत को गहरा दफना देने की आज्ञा दी थी परन्तु दफनाये जाने पर भी संगीत फिर उठ खड़ा हुआ। वस्तुतः संगीत मानव-हृदय को इतने निकट से स्पर्श करता है कि मनुष्य स्वभावतः संगीत का विरोधी कभी हो ही नहीं सकता।

भावभट्ट

औरंगजेब के युग में एक ही संगीत-शास्त्री का नाम उल्लेखनीय है और वह है भावभट्ट। भावभट्ट बीकानेर के राजा कर्णसिंह के पुत्र अनूपसिंह के दरबार में थे। इनकी लिखी प्रसिद्ध पुस्तकें 'अनूप संगीत विलास', 'अनूप रत्नाकर' और 'अनूपांकुश' हैं। आचार्य भातखण्डे ने 'ए शार्ट हिस्टोरिकल सर्वे ऑफ दी म्यूज़िक ऑफ अपर इण्डिया' के पृष्ठ—१० पर भावभट्ट के पिता जनार्दन भट्ट को शाहजहाँ के दरबार का गायक माना है, किन्तु इस सम्बन्ध में उनकी मान्यता अनुमान पर ही आधृत है। उनकी धारणा है कि सम्भवतः जगन्नाथ (कविराज) और जनार्दन भट्ट एक ही व्यक्ति के दो नाम हैं। यह सर्वथा सम्भव है कि शाहजहाँ की मृत्यु के पश्चात् औरंगजेब के दरबार में संगीत का बहिष्कार हो जाने के कारण दिल्ली-दरबार छोड़ कर जनार्दन भट्ट या उनके पुत्र भावभट्ट ने बीकानेर के दरबार में आश्रय प्राप्त किया हो। दिल्ली दरबार में संगीत का विकेन्द्रीकरण हो जाने के कारण उस युग के संगीतज्ञ राजाओं और नवाबों के दरबारों में बिखर गये थे।

भावभट्ट को अनुष्टुप चक्रवर्ती संगीत राय की उपाधि प्राप्त हुई थी, परन्तु उनकी पुस्तकों को देखकर एक बार यह सोचना पड़ता है कि भावभट्ट इस पदवी को धारण करने की कहाँ तक योग्यता रखते थे। सम्भवतः भावभट्ट को जो गौरव मिला था वह उन्हें अपने क्रियात्मक संगीत के कारण ही प्राप्त हुआ होगा। 'अनूप-विलास' के स्वराध्याय की अधिकांश सामग्री शार्ङ्गदेव कृत 'संगीत रत्नाकर' का अनुकरण मात्र है। मौलिकता के अभाव में उनकी पुस्तकों को उनके द्वारा सम्पादित रचनाएँ कहना अधिक युक्तियुक्त होगा।

'अनूप संगीत विलास' के रागाध्याय में रीतिकालीन कवित्त-सवैया

पद्धति को अपनाते हुए भावभट्ट ने कहीं-कहीं रागों का ध्यानों द्वारा भी वर्णन किया है। १

मुहम्मद शाह रंगीले

औरंगजेब की आज्ञा से गहराई में दफनाया गया संगीत मुहम्मदशाह के युग में पुनः अंगड़ाई लेकर उठ खड़ा हुआ। किन्तु अठारहवीं शताब्दी में यद्यपि संगीत की पुनर्जागृति के चिह्न दृष्टिगोचर होते हैं परन्तु उसमें वह गम्भीरता न आ सकी जो इस युग के पूर्ववर्ती संगीत की आधार-शिला थी। ध्रुपद के स्थान को ख्याल गायकी ने ग्रहण कर लिया था। स्वयं मुहम्मदशाह ने अनेक ख्यालों की रचना की।२ इनके बनाये हुए ख्याल आज भी संगीतज्ञ गाते

---

१ "जो हरवारि सो शुद्ध कहावे मलार मिलायके नटसहि जानो।
आमेलरि बिलावलिके मिले मेघमिले तें धनाश्री जानों।
होत सहानो मिले कल्याण के पूरिया केदारिगौरीसुहानो।
मंगल अष्टक सोहि कहावत भाव कहे लखेकम जानो॥

शुद्धकल्याण हुसेनिकानड़ामिलेबिन केदारानत हैं।
सोरठि और बंगालतितों मिले हरवसमेघयोमानत हैं।
कर्नाटगौर जो कर्नाट मेघ हैतो पूर्विमेद बखानत हैं।
पूरबना प्रहर्वतमो ख्यालवि मेल मिलायविगानत हैं।

'अनूप संगीत विलास' से आचार्य भातखण्डे द्वारा 'ए कम्पेरेटिव स्टडी ऑफ सम ऑफ दी म्यूजिक सिस्टम्स ऑफ दी फिफ्टीन्थ सिक्सटीन्थ, सेवनटीन्थ एण्ड एटीन्थ सेंचुरीज' के पृष्ठ-७१ पर उद्धृत

२ उदाहरणार्थ —अंमावता रंगीला रे बलमा तुम बिन मैना
कारी बदरिया मेघ ना सुहावे।
उमंड घुमंड घन आवे मैगन भर लगावे
तरसावे सदा रंगीले को मुहम्मदशाह
चमक बीज डरावे ॥

* * *

है। इन ख्यालों में प्राय: "सम्मद सा पिया सदा रंगीले" यह पंक्ति कहीं-न कहीं जुड़ी हुई दिखायी देती है। मुहम्मदशाह का दरबार इन दिनों सदारंग और अदारंग के ख्यालों से मुखरित था। सदारंग और अदारंग के ख्याल भी वर्तमान संगीतज्ञों द्वारा बड़े आदर से गाये जाते हैं। इसी युग में शोरीमियाँ ने टप्पा-शैली प्रचलित की।

भारत में मुसलमानी राज्य ग्यारहवीं शताब्दी से प्रारम्भ होता है। इधर मुहम्मदशाह के पश्चात् धर्मे-धर्मे अंग्रेजों का शासन आरम्भ होने लगता है, अतः ग्यारहवीं शताब्दी से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध तक के संगीत को ऐतिहासिक दृष्टि से मुसलमानी शासन-काल का संगीत कहा जा सकता है। हिन्दूकाल के संगीत में ग्यारहवीं शताब्दी से मुसलमानी संगीत का मिश्रण होने लगा था। इस मिश्रण के कारण रीतिकाल में आते-आते मूल भारतीय संगीत में तात्त्विक परिवर्तन दृष्टिगोचर होने लगते हैं। जिस प्रकार रीतिकालीन हिन्दी-साहित्य अपने पूर्ववर्ती साहित्य से सर्वथा भिन्न है उसी प्रकार इस युग का संगीत भी अपने पूर्ववर्ती संगीत से सर्वथा पृथक दृष्टिगोचर होता है। रीतिकाल में ध्रुपद के स्थान पर ख्याल और टप्पागायकी का प्रचलन एवं इन दोनों से ध्रुपद-गायन-शैली का अन्तर इस पार्थक्य को सर्वथा स्पष्ट कर देता है। जिस प्रकार इस काल के हिन्दी-साहित्य में अतिशय शृङ्गारिकता अलंकारों का मोह तथा हृदयपक्ष के स्थान पर कलापक्ष का प्राधान्य हो गया था, उसी प्रकार इस युग का संगीत भी अपने शुद्ध-गम्भीर, धीर-प्रशान्त रूप को छोड़कर चपल अलंकृत और शृङ्गाररसात्मक हो गया था। प्रस्तुत प्रबन्ध में भारतीय संगीत की ध्रुपद ख्याल टप्पा ठुमरी इत्यादि शैलियों का विवेचन करते समय इस तथ्य को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है।

बोल रे पपीहरा अब घन गरजे।
घन घन कर कर आई बदरिया
बरसन लागी सदा रंगीले
प्रेमवशा कामिनी की कौन बेर
मोरा जियरा लरजे।।

आचार्य भातखण्डे कृत 'हिन्दुस्तानी संगीत-पद्धति क्रमिक पुस्तक मालिका' भाग-४, पृष्ठ-१०१, २६० संस्करण सन् १९५२

श्रीनिवास

अठारहवीं शताब्दी का महत्वपूर्ण ग्रन्थ श्रीनिवास कृत 'राग तत्त्व विबोध' है। लेखक ने इस पुस्तक में अपने निवासस्थान, वंश-परिचय अथवा ग्रन्थ-प्रणयन काल के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा है, अतः अन्तःसाक्ष्य के आधार पर यद्यपि इस पुस्तक का रचना-काल निर्धारित नहीं किया जा सकता किन्तु श्रीनिवास ने 'संगीत पारिजात' से बहुत कुछ सामग्री लेकर 'राग तत्त्व विबोध' की रचना की है, इसलिए श्रीनिवास का समय अहोबल के पश्चात् ही माना जा सकता है।

'राग तत्त्व विबोध' के आधार पर यह कहा जा सकता है कि उस काल में संगीत बारह स्वरों पर आधृत था। श्रीनिवास यद्यपि बाईस श्रुतियों का विरोध नहीं करता, परन्तु वह बारह स्वरों के द्वारा राग-स्पष्टीकरण करके शेष दस श्रुतियों को अलंकृत रूप में यथास्थान स्वयमेव लग जाने की घोषणा करता है। १

प्रताप सिंह देव

प्रताप सिंह देव ने जयपुर पर सन् १७७९ से सन् १८०४ तक राज्य किया। अपने दरबार के संगीत-पण्डितों को प्रेरणा प्रदान करके प्रताप सिंह देव ने 'संगीत-सार' नामक ग्रन्थ का सम्पादन कराया था। श्रीसिकन्दा के मत्रत में इस ग्रन्थ के सम्पादकों ने जगह-जगह 'संगीत रत्नाकर,' 'संगीत दर्पण' 'संगीत पारि

---

१ "श्रुतयो द्वादशैवात्र स्वरस्थानतयोदिताः ।
उक्तेभ्योऽतिरिक्ताः सर्वास्स्वरस्थानतयोज्झिताः ॥
न श्रुतिस्वरसंभूतप्रस्तारोत्पन्न भेदतः ।
श्रुतेर्भेदाद्रागाः कल्पनीया मनीषिभिः" ॥
आचार्य भातखण्डे कृत 'हिन्दुस्तानी संगीत-पद्धति
संस्करण सन् १९३१

(स्वर स्थान के भेद से श्रुतियाँ बारह ही हैं। ऊपर बतायी हुई बारह श्रुतियों के अतिरिक्त सब श्रुतियाँ स्वर स्थान से पृथक् हैं। श्रुति स्थित स्वरों से उत्पन्न प्रस्तार, उससे प्राप्त भेद से पैदा होने वाले रागों की कल्पना विद्वानों को नहीं करनी चाहिए।)

सार' 'रागमाला' 'अनूप विलास' इत्यादि ग्रन्थों में उदाहरण उपस्थित किये हैं, परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि इन ग्रन्थों के रचयिता भी ये भेद भलीभाँति हृदयंगम नहीं कर सके थे। इस ग्रन्थ में जो रागलक्षण दिये हुए हैं वे अवश्य उपादेय हैं, क्योंकि इनके आधार पर उस युग में व्यवहृत होने वाले रागों की रूपरेखा के अध्ययन में सहायता प्राप्त होती है।

उन्नीसवीं शताब्दी के इस ग्रन्थ में एक बात और महत्त्वपूर्ण है और वह यह कि इसका मूल पाठ विकृत प्रतीत होता है।

मुहम्मद रज़ा

सन् १८१३ ई० में पटना के रईस मुहम्मद रज़ा ने 'नगमाते आसफ़ी' नामक ग्रन्थ की रचना की। उन्नीसवीं शताब्दी में यह रचना अपना विशिष्ट स्थान रखती है। मुहम्मद रज़ा ने भरतमत, हनुमान मत, कल्लीनाथ मत तथा सोमेश्वरमत की आलोचना की है तथा इन मतों को अपने युग के सर्वथा प्रतिकूल घोषित किया है। 'नगमाते आसफ़ी' की विशेषता यह है कि उसमें पूर्ववर्ती संगीत एवं तत्कालीन प्रचलित संगीत में परस्पर बलात् सम्बन्ध स्थापित करने का कोई प्रयास नहीं किया गया है। मुहम्मद रज़ा ने अपने पूर्ववर्ती संगीत के उन्हीं सिद्धान्तों को अपनी रचना में स्थान दिया है जो उन दिनों भी क्रियात्मक संगीत में प्रयुक्त हो रहे थे। जो सिद्धान्त पुराने पड़ चुके थे तथा जिनका महत्त्व केवल ग्रन्थों तक ही सीमित रह गया था उनका सर्वथा परित्याग करके अपने युग के प्रचलित संगीत के आधार पर उसने अपने ग्रन्थ में मान्यताएँ स्थापित कीं। अतः एक ओर तो 'नगमाते आसफ़ी' में मौलिकता आ गयी है दूसरी ओर वर्तमान संगीत का मुहम्मद रज़ा के युग के संगीत से सीधा सम्पर्क भी स्थापित हो गया है।

मुहम्मद रज़ा ने शिवमत, हनुमान मत आदि का विरोध उनकी तत्कालीन अव्यावहारिक राग-रागिनी-पद्धति के कारण ही किया था। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि मुहम्मद रज़ा को राग रागिनी-पद्धति ग्राह्य नहीं थी। 'नगमाते आसफ़ी' में उनका व्यक्तिगत दृष्टिकोण राग रागिनी-पद्धति पर ही आधृत है। भारतीय संगीत की परिवर्तनशीलता के कारण प्राचीन राग रागिनियों में उस समय तक पर्याप्त अन्तर आ गया था अतः प्राचीन परम्परा के राग-रागिनियों की एकजातीयता बहुत कुछ नष्ट हो गयी थी। मुहम्मद रज़ा ने भैरव, मालकौंस, हिन्डोल, श्री, मेघ और नट, ये छः राग माने हैं। 'नगमाते आसफ़ी' के

इस वर्गीकरण में राग रागिनियों में जो एकजातीयता है उसे आज भी एक सीमा तक ग्रहण किया जा सकता है। उदाहरणार्थ 'नगमाते आसफी' के मत राग की छायानट, हमीर, कल्याण, केदार, बिहागड़ा और यमन ये छः रागनियाँ हैं। आजकल भी छायानट, हमीर, केदार, यमन इत्यादि कल्याण ठाठ के राग माने जाते हैं, अतः 'नगमाते आसफी' की विचारधारा से आज की सांगीतिक विचारधारा का बहुत कुछ तारतम्य स्थापित हो जाता है।

'नगमाते आसफी' की एक महत्त्वपूर्ण बात यह भी है कि पुराने ग्रन्थों में से सर्वप्रथम इसी में 'बिलावल' को स्पष्ट रूप से शुद्ध ठाठ माना गया है। यही बिलावल ठाठ आज के संगीत का आधार बिन्दु है।

कृष्णानन्द व्यास

सन् १८४१ ई० में हीरानन्द के पुत्र कृष्णानन्द व्यास ने 'संगीत राग-कल्पद्रुम' नामक एक विस्तृत ग्रन्थ का सम्पादन किया। यह ग्रन्थ भारतीय संगीत का विशाल कोष कहा जा सकता है। यह चार खण्डों में प्रकाशित हुआ था। कृष्णानन्द व्यास का शुद्ध ठाठ भी बिलावल ही प्रतीत होता है।

व्यास ने 'संगीत रत्नाकर', 'संगीत दर्पण' और 'राग माला' के स्वराध्यायों एवं रागाध्यायों को आधार माना है। इसके बाद तत्कालीन उपलब्ध सभी ध्रुपद, ख्याल इत्यादि को बिना स्वरलिपि दिये संगृहीत कर लिया है। यह संग्रह गीतों की दृष्टि से उपादेय है किन्तु स्वरलिपि के अभाव में क्रियात्मक संगीत की दृष्टि से इन गीतों की तत्कालीन बन्दिश (गेयता) पर प्रकाश नहीं पड़ता। इसमें कोई सन्देह नहीं कि 'कल्पद्रुम' में संगृहीत बहुत से ख्याल और ध्रुपद आज भी क्रियात्मक संगीत में प्रचलित हैं, तथापि यह निश्चयात्मक रूप से नहीं कहा जा सकता कि उनकी बन्दिश जैसी आज है वैसी ही कृष्णानन्द के युग में भी थी।

वाजिदअली शाह

रीतिकालीन विलासिता और रसिकता का उत्कट रूप लखनऊ के नवाबों में स्पष्ट दृष्टिगोचर हुआ। वाजिदअली शाह लखनऊ के अन्तिम नवाब थे। ठुमरी-गायन के प्रचार का श्रेय इन्हीं को प्राप्त है। अलंकरण और रसीलेपन की जो प्रवृत्ति इस शैली में विद्यमान है वह संगीत-कला की रीतिकालीन महत्त्वपूर्ण विशेषता है।

अंगरेजी शासनकाल

प्रस्तुत प्रबन्ध का रीतिकाल से ही विशेषरूप से सम्बन्ध होने के कारण भारतीय संगीत के ऐतिहासिक विकास का यहाँ इतना ही विवेचन पर्याप्त है किन्तु ऐतिहासिक पूर्णता की दृष्टि से अत्यन्त संक्षेप में वर्तमान प्रचलित संगीत पर भी विचार किया जा सकता है।

अंगरेजों ने भारतीय संगीत को अर्ध-सभ्य समझा और भारतीयों ने पाश्चात्य संगीत को नितान्त अपनाया अतः संगीत को जो प्रश्रय देशी राजाओं और मुसलमान बादशाहों से प्राप्त हुआ वह अंगरेजों के युग में न मिल सका।

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में संगीत की दशा शोचनीय थी। धीरे धीरे गाना बजाना मीरासियों का काम समझा जाने लगा परन्तु कतिपय संगीत-प्रेमियों के प्रयत्न से पुन इसे प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। सर एस० एम० टैगोर ने 'यूनिवर्सल हिस्ट्री ऑफ म्यूजिक' नामक पुस्तक लिखी जिसमें राग-रागिनी पद्धति को स्वीकार किया गया। श्री कृष्णधन बनर्जी कृत 'गीत सूत्रसार' भी उल्लेखनीय ग्रन्थ है। बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में आचार्य भातखण्डे और अमर गायक पण्डित विष्णु दिगम्बर के प्रयत्नों से संगीत की पर्याप्त उन्नति हुई। आचार्य भातखण्डे की पुस्तकें वर्तमान संगीत के अध्ययन में विशेषरूप से सहायक हैं।

इस वर्गीकरण में राग रागिनियों में जो एकजातीयता है उसे आज भी एक सीमा तक ग्रहण किया जा सकता है। उदाहरणार्थ 'नगमाते आसफी' के नट राग की छायानट हमीर, कल्याण केदार, बिहागड़ा और यमन ये छः रागनियाँ हैं। आजकल भी छायानट हमीर, केदार, यमन इत्यादि कल्याण ठाठ के राग माने जाते हैं अतः 'नगमाते आसफी' की विचारधारा से आज की सांगीतिक विचार धारा का बहुत कुछ तारतम्य स्थापित हो जाता है।

'नगमाते आसफी' की एक महत्वपूर्ण बात यह भी है कि पुराने ग्रन्थों में से सर्वप्रथम इसी में 'बिलावल' को स्पष्ट रूप से शुद्ध ठाठ माना गया है। यही बिलावल ठाठ आज के संगीत की आधार शिला है।

कृष्णानन्द व्यास

सन् १८४२ ई० में हीरानन्द के पुत्र कृष्णानन्द व्यास ने 'संगीत राग-कल्पद्रुम' नामक एक विस्तृत ग्रन्थ का सम्पादन किया। यह ग्रन्थ भारतीय संगीत का विशाल कोष कहा जा सकता है। यह चार खण्डों में प्रकाशित हुआ था। कृष्णानन्द व्यास का शुद्ध ठाठ भी बिलावल ही प्रतीत होता है।

व्यास ने 'संगीत रत्नाकर' 'संगीत दर्पण' और 'राग माला' के स्वराध्यायों एवं रागाध्यायों को आधार माना है। इसके बाद तत्कालीन उपलब्ध सभी ध्रुपद ख्याल इत्यादि को बिना स्वरलिपि दिये संगृहीत कर लिया है। यह संग्रह गीतों की दृष्टि से उपादेय है किन्तु स्वरलिपि के अभाव में क्रियात्मक संगीत की दृष्टि से इन गीतों की तत्कालीन बन्दिश (बैयता) पर प्रकाश नहीं पड़ता। इसमें कोई सन्देह नहीं कि 'कल्पद्रुम' में संगृहीत बहुत से ख्याल और ध्रुपद आज भी क्रियात्मक संगीत में प्रचलित हैं तथापि यह निश्चयात्मक रूप से नहीं कहा जा सकता कि उनकी बन्दिश वैसी आज है वैसी ही कृष्णानन्द के युग में भी थी।

वाजिदअली शाह

रीतिकालीन विलासिता और रसिकता का उत्कट रूप लखनऊ के नवाबों में स्पष्ट दृष्टिगोचर हुआ। वाजिदअली शाह लखनऊ के अन्तिम नवाब थे। ठुमरी-गायन के दरबार का श्रेय इन्हीं को प्राप्त है। अलंकरण और रसीलेपन की जो प्रवृत्ति इस शैली में विद्यमान है वह संगीत-कला की रीतिकालीन महत्त्वपूर्ण विशेषता है।

प्रतिष्ठित कलाकार ख़याल-गायक ही हैं। जहाँ तक राग रागिनी का प्रश्न है ख़याल और ध्रुपद में कोई अन्तर नहीं है परन्तु ख़याल की प्रकृति ध्रुपद की शैली की अपेक्षा चपल है। ख़यालों में तानों, सटकों, मुरकियों एवं अन्य चमत्कारिक प्रयोगों का आधिक्य होता है। रीतिकाल में यही गायन-शैली प्रमुख बन गयी थी।

ख़याल के गीत अधिकांशतः शृङ्गारिक होते हैं। प्रायः शब्दावली ऐसी होती है जिसमें किसी स्त्री की ओर से शृङ्गार के संयोग अथवा वियोग पक्ष की अभिव्यक्ति होती है। रीतिकाल में जिस प्रकार कविता शृङ्गार रसात्मक एवं अलंकार प्रधान हो गयी थी ठीक उसी प्रकार उस युग का संगीत भी नितान्त शृङ्गारिक एवं चमत्कार प्रधान बन गया था। रीतिकाल में कवि और गायक दोनों की दशा समान थी। जिन कारणों से उस युग के कवि को अपने आश्रयदाताओं की प्रसन्नता के लिए शृङ्गारिक और चमत्कारपूर्ण कविताएँ रचनी पड़ीं उन्हीं कारणों से तत्कालीन संगीतज्ञ को शृङ्गारपरक और कलाबाज़ी-सम्पन्न शैली को अपनाना पड़ा। सुरा सुन्दरी और संगीत उस युग के नरेशों के विलास के प्रमुख उपकरण थे। उनकी शृङ्गारिक अभिरुचि की तुष्टि में ठुमरी और ख़याल-शैलियाँ सक्षम थीं परन्तु संगीत की आत्मा का गम्भीर स्वरूप ध्रुपद-शैली में ही सुरक्षित था अतः रीतिकालीन संगीतज्ञ ध्रुपद की गरिमा भूल न सके। ख़याल की अपेक्षा कम ही सही किन्तु ध्रुपद का प्रचार उस युग में भी था अवश्य। आज भी यद्यपि जन-रुचि के परिवर्तन से ध्रुपद-शैली बहुत कुछ लुप्त सी हो गयी है परन्तु फिर भी ख़याल-गायक ध्रुपद के महत्त्व को मुक्तकण्ठ से स्वीकार करते हैं।

हिन्दी-साहित्य में जिस प्रकार खड़ीबोली का सूत्रपात अमीरखुसरो के युग में ही हो गया था और वे ही इसके प्रथम आचार्य थे उसी प्रकार ख़याल गायकी के प्रथम गुरु होने का गौरव भी उन्हीं को प्राप्त है। आगे चलकर जौनपुर के सुल्तान हुसैन शर्की ने इस शैली का परिष्कार किया। कालान्तर में पंचम सेन मालवा के अधिपति बाजबहादुर, सूरज खाँ, गुलाम रसूल मुहम्मद शाह सदारंग अदारंग इत्यादि के द्वारा इस शैली का परिष्कार, उन्नयन एवं प्रचार हुआ। ख़याल के दो प्रकार हैं (१) बड़ा ख़याल तथा (२) छोटा ख़याल। छोटे ख़यालों की प्रकृति अपेक्षाकृत चपल होती है।

रीतिकालीन संगीत की प्रमुख शैलियों का शास्त्रीय अध्ययन

(ख)

रीतिकाल में कल्पना का महत्व अत्यधिक बढ़ गया था। इस युग के कवियों के वाक्य-विन्यास में कारीगरी है और है एक-एक शब्द की झनकार जो अपने शब्दचमत्कार से पाठकों को आह्लादित कर देती है।

उपर्युक्त मनोवृत्ति को ध्यान में रखते हुए यदि तत्कालीन संगीत पर विचार किया जाय तो वह भी ध्रुपद-कला-गरिमा को खोता हुआ कल्पना की उड़ान और चमत्कार प्रदर्शन में उसी प्रकार परिवर्तित होता दृष्टिगोचर होता है जैसे सूर और तुलसी की कला बिहारी और देव की कला में परिवर्तित दिखायी देती है। ध्रुपद गायकी के ह्रास के समानान्तर ख्याल गायकी का अभ्युत्थान और प्रचार होता जा रहा था। ख्याल वस्तुतः फारसी भाषा का शब्द है जिसका शाब्दिक अर्थ विचार, ध्यान या कल्पना है। ख्याल की इस गायकी में तानों का विशेष महत्व है परन्तु ध्रुपद में तान सर्वथा निषिद्ध है। परिणामतः राग की शुद्धता का निर्वाह जैसा ध्रुपद में होता है वैसा ख्याल में नहीं। तानों के आग्रह से ही ख्याल गायकी में कतिपय रागों के स्वरूप का परिवर्तन भी हुआ। उदाहरणार्थ आसावरी पहले कोमल रिषभ से गायी जाती थी किन्तु ख्याल-गायकी में ध्रुपद-शैली की इस आसावरी का निर्वाह करते हुए तानों में कोमल रिषभ लगाना कठिन प्रतीत हुआ अतएव ख्याल-गायकों ने अपनी तान बाजी के कारण शुद्ध रिषभ को मान्यता प्रदान किया और आसावरी शुद्ध रिषभ से गाने लगे।[१] शास्त्रीय संगीत-शैलियों में ध्रुपद के पश्चात् ख्याल का ही महत्व माना जाता है अतः सर्वप्रथम यहाँ इसी शैली पर विचार करना समीचीन होगा।

ख्याल

त्रिवट, चतुरंग इत्यादि ख्याल-शैली में अन्तर्भुक्त हो जाते हैं। आज के शास्त्रीय संगीत में ख्याल सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण शैली है। वर्तमान युग के ९०

---

१ कोमल रिषभ की आसावरी आजकल एक स्वतन्त्र राग बन गया है।

प्रतिष्ठित कलाकार खयाल-गायक ही हैं। जहाँ तक राग-रागिनी का प्रश्न है खयाल और ध्रुपद में कोई अन्तर नहीं है परन्तु खयाल की प्रकृति ध्रुपद की शैली की अपेक्षा चपल है। खयालों में तानों, खटकों मुरकियों एवं अन्य आलंकारिक प्रयोगों का आधिक्य होता है। रीतिकाल में यही गायन-शैली प्रमुख बन गयी थी।

खयाल के गीत अधिकांशतः शृङ्गारिक होते हैं। प्रायः शब्दावली ऐसी होती है जिसमें किसी स्त्री की ओर से शृङ्गार के संयोग अथवा वियोग पक्ष की अभिव्यक्ति होती है। रीतिकाल में जिस प्रकार कविता शृङ्गार रसात्मक एवं अलंकार प्रधान हो गयी थी ठीक उसी प्रकार उस युग का संगीत भी नितान्त शृङ्गारिक एवं अलंकार प्रधान बन गया था। रीतिकाल में कवि और गायक दोनों की दशा समान थी। जिन कारणों से उस युग के कवि को अपने आश्रयदाताओं की प्रसन्नता के लिए शृङ्गारिक और चमत्कारपूर्ण कविताएँ रचनी पड़ीं उन्हीं कारणों से तत्कालीन संगीतज्ञ को शृङ्गारपरक और कलापक्ष-सम्पन्न शैली को अपनाना पड़ा। सुरा सुन्दरी और संगीत उस युग के नरेशों के विलास के प्रमुख उपकरण थे। उनकी शृङ्गारिक अभिरुचि की तुष्टि में ठुमरी और खयाल-शैलियाँ सक्षम थीं परन्तु संगीत की आत्मा का गम्भीर स्वरूप ध्रुपद-शैली में ही सुरक्षित था अतः रीतिकालीन संगीतज्ञ ध्रुपद की गरिमा भूल न सके। खयाल की अपेक्षा कम ही सही किन्तु ध्रुपद का प्रचार उस युग में भी था अवश्य। आज भी यद्यपि जन-रुचि के परिवर्तन से ध्रुपद-शैली बहुत कुछ लुप्त सी हो गयी है परन्तु फिर भी खयाल-गायक ध्रुपद के महत्व को मुक्तकण्ठ से स्वीकार करते हैं।

हिन्दी-साहित्य में जिस प्रकार खड़ीबोली का सूत्रपात अमीरखुसरो के युग में ही हो गया था और वे ही इसके प्रथम आचार्य थे उसी प्रकार खयाल गायकी के प्रथम गुरु होने का गौरव भी उन्हीं को प्राप्त है। आगे चलकर जौनपुर के सुल्तान हुसैन शर्क़ी ने इस शैली का परिष्कार किया। कालान्तर में पंचम सेन मालवा के अधिपति बाजबहादुर, सूरज खाँ गुलाम रसूल मुहम्मद शाह सदारंग अदारंग इत्यादि के द्वारा इस शैली का परिष्कार, उन्नयन एवं प्रचार हुआ। खयाल के दो प्रकार हैं (१) बड़ा खयाल तथा (२) छोटा खयाल। छोटे खयालों की प्रकृति अपेक्षाकृत चपल होती है।

चतुरंग

चतुरंग की स्थूल रूपरेखा छोटे खयाल के अनुसार होती है। रीतिकालीन चमत्कार-प्रदर्शन की रुचि इस शैली में भी स्पष्ट दिखायी देती है। इस प्रकार के गीतों में चार अंग होते हैं, इसीलिए इसे चतुरंग कहा जाता है। खयाल तराना सरगम और तिरवट (मृदंग के बोल) इन चारों की सहायता से इसकी रचना होने से चतुरंग का वैचित्र्य तो बढ़ जाता है किन्तु इसका हृदय-पक्ष कुछ निर्बल पड़ जाता है।

तराना

खयाल-गायक तराना गाने में भी प्रवीण होते हैं। इस शैली के गीतों की संगीतात्मक रूपरेखा खयालों के समान ही होती है। जो तराने बड़े खयाल की शैली पर रचे जाते हैं उन्हें 'खयाल-नामा तराना' कहते हैं। अधिकांश गायक जो तराने गाते हैं उनका रूप विन्यास छोटे खयाल के अनुरूप होता है। लय का चमत्कार एवं द्रुत तानों का प्रयोग इस शैली की मार्मिक विशेषता है। तराने में शब्द-योजना नहीं होती। ना, दा, रे, तानी, तोम, योदानी इत्यादि अर्थहीन शब्दों से ही इसका निर्माण होता है, फलतः इस शैली में चमत्कार प्रदर्शन का ही बाहुल्य रहता है।

टप्पा

रीतिकालीन प्रचलित शैलियों में टप्पा-शैली विशेषतः उल्लेखनीय है। ध्रुपद और खयाल-शैलियों से टप्पा-शैली अधिक हलकी है, फलतः इसकी तुलना में खयाल-शैली कहीं अधिक गम्भीर प्रतीत होती है। टप्पे के सम्बन्ध में यह भी उल्लेखनीय है कि टप्पे प्रत्येक राग में नहीं गाये जाते। प्रायः काफी, भैरवी, खमाज अथवा पीलू जैसे रागों में ही टप्पे गाये जाते हैं। टप्पे की प्रकृति क्षुद्र एवं गति चपल होती है अतः टप्पे में गीत-रचना करते समय इन बातों का ध्यान रखना आवश्यक हो जाता है। जिन रागों में टप्पे गाये जाते हैं उनका विस्तार भी अपेक्षाकृत संक्षिप्त होता है। यह तथ्य भी इस बात का एक प्रमाण है कि रीतिकाल में भारतीय संगीत गम्भीर रागों, गम्भीर तालों, सधे स्वरों के निर्वाह, स्वरस्थैर्य तथा भक्ति एवं वीर भावों को छोड़ता हुआ चपलता प्रधान स्वर-संयोग, कण्ठ-स्वर की शृङ्गारपरक कोमलता, चपल और शृङ्गार रसात्मक

मर्यादित तथा अलंकृत शिल्प-विधान में परिवर्तित हो गया था। इसका यह युग धीर-गम्भीर विराट्-स्वरूप अवश्य भुला था जो ध्रुपद अथवा धमार भी क्लासिक संगीत का सहज गुण था।

सम्भवत टप्पा पहले पंजाब में ऊँट हाँकने वाले गाया करते थे।[1] उस समय यह सर्वथा अपरिष्कृत रूप में था। मुहम्मदशाह रंगीले के युग में शोरी द्वारा इस का परिष्कार हुआ। छोटी-छोटी मनोरम तानों से इसकी रूपरेखा को अलंकृत करके शोरी ने इसे अतीव रोचक बना दिया। एक ओर अलंकरण की यह प्रवृत्ति तथा दूसरी ओर टप्पे के गीतों में 'हीररांझा' के प्रेमोद्गारों की अभिव्यक्ति टप्पे की गायकी और नायकी को सर्वतोभावेन रीतिकालीन वातावरण के अनुकूल बना देती है। राधा-कृष्ण के बहाने से शृङ्गार और अलंकरण की ऐसी ही मनोवृत्ति तत्कालीन काव्य रचना में भी स्पष्टतः परिलक्षित होती है।

कहा जाता है कि शोरी मियाँ ने टप्पे का आविष्कार किया था किन्तु राजा सुरेन्द्र मोहन टैगोर ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'यूनिवर्सल हिस्ट्री ऑफ म्यूज़िक' में शोरी को मुहम्मदशाह रंगीले क युग की एक गायिका माना है तथा उसके पति गुलामनबी को टप्पे के गीतों का रचयिता कहा है जो टप्पे क गीतों में अपनी पत्नी शोरी के नाम को संयुक्त कर देता था[2] अतः गुलामनबी को ही टप्पे का आदि गुरु मानना समीचीन है। प्रायः टप्पे के गीतों की भाषा पंजाबी मिश्रित हिन्दी होती है।

ठुमरी

अवध के नवाब वाजिदअली शाह के युग में संगीत की एक अतिशय चपल रंगीन एवं शृङ्गारिक शैली का प्रचलन हुआ जो अतीव लोकप्रिय होते हुए भी प्राचीन संगीत के गाम्भीर्य के परिवर्तित रूप की एक ऐतिहासिक कड़ी है।[3]

---

१ द्रष्टव्य–'हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति' का हिन्दी अनुवाद (भातखण्डे संगीत शास्त्र) प्रथम भाग, पृष्ठ-२६, प्रथम संस्करण

२ द्रष्टव्य–'हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति' का हिन्दी अनुवाद (भातखण्डे संगीत-शास्त्र) प्रथम भाग पृष्ठ-६१, प्रथम संस्करण

३ 'अवध के नवाब वाजिद अली शाह ने ठुमरी नामक गान-शैली की परिपाटी चलाई। यह संगीतप्रणाली का अन्यतम रंगीन और शृङ्गारिक रूप है। इस समय अकबर के समय के ध्रुपद की गम्भीर परिपाटी मुहम्मदशाह द्वारा अनुमोदित ख़याल की चपल शैली, उन्हीं के समय में आविष्कृत टप्पे की रस मय और कोमल गायकी तथा वाजिद अली शाह के समय की रंगीली रसीली

ठुमरी की अतिशय शृङ्गारिकता, सौन्दर्य एवं स्वरवैचित्र्य के कारण यह शैली वेश्याओं द्वारा विशेष रूप से गृहीत हुई। बहुत कुछ इसी कारण से उच्च कोटि के कलावंत या ध्रुपद-गायक ठुमरी प्रायः नहीं गाते। तथापि यह एक अनुभूत सत्य है कि ध्रुपद और ख्याल की अपेक्षा ठुमरी कहीं अधिक मधुर है। कण-स्वर का माधुर्य, वर्जितापन और सुगमता, निकटवर्ती विभिन्न रागों के मार्मिक स्थलों का कौशलपूर्ण समन्वय, आलाप के छोटे-छोटे टुकड़ों और इनकी तथा छोटी तानों या मुरकियों से अलंकरण, कल्पना की मार्मिक एवं ऊँची उड़ान, शब्द एवं स्वर-संयोग से उत्पन्न भावुकता तथा उसकी सर्वथा स्त्रैण प्रकृति ने ठुमरी में जन-रंजन की अपार क्षमता समाहित कर दी। किन्तु इसमें भी सन्देह नहीं कि इस शैली द्वारा पूर्ववर्ती संगीत की गम्भीरता और स्निग्धता का उसी अनुपात से ह्रास भी हुआ। प्राचीन भारतीय संगीत के प्रतिनिधित्व का दावा ठुमरी नहीं कर सकती। उसकी तुलना में तो ठुमरी एक सुनहला स्वप्न, एक झिलमिल झलक और एक ऐसी मनोरम भ्रान्ति है जो अपनी झिलमिल तथा अपने अलंकृत सौन्दर्य से एक तृषा तो उत्पन्न करती है किन्तु प्यास नहीं बुझाती।

ठुमरी की उत्पत्ति का रहस्य अभी तक अज्ञात सा ही है। यों तो वाजिद अली शाह तथा अवध के नवाबों के दरबार से अभी से ठुमरी का सम्बन्ध जोड़ा है परन्तु उस समय ठुमरी का दरबार में प्रवेश इस तथ्य का ज्वलन्त प्रमाण है कि ठुमरी का यह स्वरूप सर्वथा प्रौढ़ था। इसे ठुमरी का प्रारम्भिक एवं अपरिष्कृत रूप सरलता से स्वीकार नहीं किया जा सकता। सम्भवतः ठुमरी जनता में पहले से ही प्रचलित थी किन्तु जब इसे राज-दरबार में गाये जाने का गौरव प्राप्त हुआ तब समाज में भी इसकी प्रतिष्ठा बढ़ी तथा राज-दरबार के कुशल गायकों के हाथों में पड़कर यह शैली मंज-सँवर कर और भी सुन्दर बन गयी। अनुमानतः अवध प्रान्त के लोक गीतों में से ही किसी धुन ने विकसित होते-होते ठुमरी का रूप धारण कर लिया होगा और कुशल गायकों के हाथों में पड़ने से इसमें शास्त्रीय रागों की झलक आ गयी होगी। इस प्रकार

ठुमरी अपने-अपने आश्रयदाताओं की मनोवृत्ति की ही परिचायक नहीं, लोक की प्रौढ़ रुचि में किस क्रम से पतन हुआ, उसका इतिहास भी है।"

डा० श्यामसुन्दर दास कृत 'हिन्दी भाषा और साहित्य,' पृष्ठ-२६१, प्रथम संस्करण

एक ओर तो इसमें लोक गीतों जैसा उद्दाम आवेग आ मिला और दूसरी ओर कुशल गायकों के द्वारा कलात्मक वैचित्र्य एवं चमत्कार व्याप्त हो गया। फलतः एक ऐसी अभिनव शैली की सृष्टि हुई जो ध्रुपद के पौरुष और गम्भीरता को बहुत पीछे छोड़ गयी तथा खयाल-गायकों की जटिल तान-क्रिया में भी मुक्त होकर चांचल्य, सौन्दर्य, सुकुमारता, स्वर-माधुर्य, लोच इत्यादि की विशेषताओं के कारण अपना सर्वथा स्वतन्त्र रूप भी घोषित करने में समर्थ हुई। इसके गीतों में उन्मुक्त शृङ्गार के वर्णन हुए। गम्भीर, बुलन्द और दमदार कण्ठ-स्वर के स्थान पर मिठास, कोमलता और आर्द्रता से युक्त शब्दोच्चार एवं स्वरोच्चार को महत्त्व प्राप्त हुआ। साथ ही ठुमरी-गायक या गायिकाओं के मुख पर मन्दम् की छाप रसिकता भी खिल उठी।

ठुमरी के साथ तबले की जो संगत की जाती है, वह उसकी कोमलता एवं सुकुमारता को उसी प्रकार स्पष्ट कर देती है जिस प्रकार ध्रुपद गाते समय मेघ-ध्वनि के समान गम्भीर घोषयुक्त मृदंग-वादन ध्रुपद की परुषता एवं गम्भीरता को स्पष्ट कर देता है। ठुमरी के साथ तबले की संगत में लय-बाँट के कामों या बड़ी-बड़ी परनों की आवश्यकता नहीं होती। यहाँ तो विभिन्न सम्मियों और छोटे-छोटे मुखड़ों के द्वारा ही तबले की संगत उपयोगी सिद्ध होती है। ठुमरी में प्रयुक्त होने वाली तालों की प्रकृति भी गम्भीर न होकर चपल होती है। दीपचन्दी, पञ्जाबी, तिताला, दादरा, कहरवा जैसी चलती हुई तालों एवं चंचल प्रकृति के खमाज, पीलू, काफी, भैरवी, तिलंग, झिंझोटी, देस, भैरवी जैसे रागों में ही प्रायः ठुमरी गायी जाती है।

गज़ल और त्रिवट

रीतिकालीन प्रमुख गीत-शैलियाँ ये ही हैं। इनके अतिरिक्त त्रिवट, गज़ल इत्यादि कतिपय अन्य शैलियाँ भी उस युग में प्रचलित थीं। इनमें भी चमत्कार और स्थूल शृङ्गारिकता का ही प्राधान्य है। त्रिवट में मृदंग इत्यादि के बोलों को रागबद्ध करके चमत्कार का उद्रेक किया जाता है और गज़ल तो सर्वथा शृङ्गारपरक है ही। गज़ल में शृङ्गारिक शब्द-योजना का प्राधान्य होने के कारण संगीत की स्वरात्मक अभिव्यक्ति अपेक्षाकृत क्षीण हो जाती है।

ठुमरी की अतिशय शृङ्गारिकता सौम्य एवं स्वरवैचित्र्य के कारण यह शैली वेश्याओं द्वारा विशेष रूप से गृहीत हुई। बहुत कुछ इसी कारण से उच्च कोटि के ख्याल या ध्रुपद-गायक ठुमरी प्रायः नहीं गाते। तथापि यह एक अनुभूत सत्य है कि ध्रुपद और ख्याल की अपेक्षा ठुमरी कहीं अधिक मधुर है। कण्ठ-स्वर का माधुर्य दर्दीलापन और सूक्ष्मता निकटवर्ती विभिन्न रागों के मार्मिक स्थलों का कौशलपूर्ण समन्वय आलाप के छोटे-छोटे टुकड़ों और इनकी तथा छोटी तानों या मुरकियों से अलंकरण कल्पना की मार्मिक एवं ऊँची उड़ान छन्द एवं स्वर-संयोग से उद्भूत भावुकता तथा उसकी सर्वथा स्त्रैण प्रकृति ने ठुमरी में जन-रंजन की अक्षय क्षमता समाहित कर दी किन्तु इसमें भी सन्देह नहीं कि इस शैली द्वारा पूर्ववर्ती संगीत की गम्भीरता और स्निग्धता का उसी अनुपात से ह्रास भी हुआ। प्राचीन भारतीय संगीत के प्रतिनिधित्व का दावा ठुमरी नहीं कर सकती। उसकी तुलना में तो ठुमरी एक सुनहला स्वप्न एक झिलमिल झलक और एक ऐसी मनोरम भ्रान्ति है जो अपनी मिठास तथा अपने अलंकृत सौन्दर्य से एक तृषा तो उत्पन्न करती है किन्तु प्यास नहीं बुझाती।

ठुमरी की उत्पत्ति का रहस्य अभी तक अज्ञात सा ही है। यों तो वाजिद अली शाह तथा अवध के नवाबों के दरबार से सभी ने ठुमरी का सम्बन्ध जोड़ा है परन्तु उस समय ठुमरी का दरबार में प्रवेश इस तथ्य का आत्मसम्मान प्रमाण है कि ठुमरी का वह स्वरूप सर्वथा प्रौढ़ था। इसे ठुमरी का प्रारम्भिक एवं अपरिपक्व रूप सरलता से स्वीकार नहीं किया जा सकता। सम्भवतः ठुमरी जनता में पहले से ही प्रचलित थी किन्तु जब इसे राज-दरबार में गाये जाने का गौरव प्राप्त हुआ तब समाज में भी इसकी प्रतिष्ठा बढ़ी तथा राज-दरबार के कुशल गायकों के हाथों में पड़ने से यह शैली मंज-सँवर कर और भी सुन्दर बन गयी। अनुमानतः अवध प्रान्त के लोक गीतों में से ही किसी धुन ने भिन्न-भिन्न होते-होते ठुमरी का रूप धारण कर लिया होगा और कुशल गायकों के हाथों में पड़ने से इसमें शास्त्रीय रागों की झलक आ गयी होगी। इस प्रकार

ठुमरी अपने-अपने आश्रयदाताओं की मनोवृत्ति की ही परिचायक नहीं लोक की मूढ़ रुचि में जिस क्रम से पतन हुआ, उसका इतिहास भी है।"

डा० श्यामसुन्दर दास कृत 'हिन्दी भाषा और साहित्य'
पृष्ठ-२६१ प्रथम संस्करण

एक ओर तो इसमें लोक गीतों जैसा उद्दाम आवेग आ मिला और दूसरी ओर कुशल गायकों के द्वारा कलात्मक वैचित्र्य एवं चमत्कार व्याप्त हो गया फलतः एक ऐसी अभिनव शैली की सृष्टि हुई जो ध्रुपद के पौरुष और गम्भीरता को बहुत पीछे छोड़ गयी तथा ख्याल-गायकों की जटिल तान-क्रिया से भी मुक्त होकर चांचल्य सौन्दर्य सुकुमारता स्वर-माधुर्य लोच इत्यादि की विशेषताओं के कारण अपना सर्वथा स्वतन्त्र रूप भी घोषित करने में समर्थ हुई। इसके गीतों में उन्मुक्त शृङ्गार के वर्णन हुए गम्भीर बुलन्द और वजनदार कण्ठ-स्वर के स्थान पर मिठास कोमलता और आर्द्रता से युक्त शब्दोच्चार एवं स्वरोच्चार को महत्व प्राप्त हुआ साथ ही ठुमरी-गायक या गायिकाओं के मुख पर अन्तस् की चरम रसिकता भी खिल उठी।

ठुमरी के साथ तबले की जो संगत की जाती है वह उसकी कोमलता एवं सुकुमारता को उसी प्रकार स्पष्ट कर देती है जिस प्रकार ध्रुपद गाते समय मेघ-ध्वनि के समान गम्भीर घोषयुक्त मृदंग-वादन ध्रुपद की परुषता एवं गम्भीरता को स्पष्ट कर देता है। ठुमरी के साथ तबले की संगत में लय-बाँट के कामों या बड़ी-बड़ी परनों की आवश्यकता नहीं होती। यहाँ तो विभिन्न लग्गियों और छोटे-छोटे मुखड़ों के द्वारा ही तबले की संगत उपयोगी सिद्ध होती है। ठुमरी में प्रयुक्त होने वाली तालों की प्रकृति भी गम्भीर न होकर चपल होती है। दीपचन्दी अद्धा त्रिताल दादरा कहरवा जैसी चलती हुई तालों एवं चंचल प्रकृति के खमाज पीलू, काफी आसी तिलंग झिंझोटी देस भैरवी जैसे रागों में ही प्राय ठुमरी गायी जाती है।

गजल और त्रिवट

रीतिकालीन प्रमुख गीत-शैलियाँ ये ही हैं। इनके अतिरिक्त त्रिवट गजल इत्यादि कतिपय अन्य शैलियाँ भी उस युग में प्रचलित थीं। इनमें भी चमत्कार और स्थूल शृङ्गारिकता का ही प्राधान्य है। त्रिवट में मृदंग इत्यादि के बोलों को रागबद्ध करके चमत्कार का उद्रेक किया जाता है और गजल तो सर्वथा शृङ्गारपरक है ही। गजल में शृङ्गारिक शब्द-योजना का प्राधान्य होने के कारण संगीत की स्वरात्मक अभिव्यक्ति अपेक्षाकृत क्षीण हो जाती है।

अभंग, भजन इत्यादि

रीतिकाल में भजन-कीर्तन-शैली भी प्रचलित थी किन्तु इसका महत्त्व वैसा ही है जैसा इस युग की निर्गुण अथवा सगुण भक्ति धारा का है। जिस प्रकार वीरकाव्यधारा अथवा भक्ति-धारा इस युग की मुख्य काव्याभिरुचि से अलग है उसी प्रकार इस युग में भजन-शैली भी तत्कालीन सामान्य संगीतात्मक प्रवृत्ति से पृथक थी। जयदेव के 'गीत गोविन्द' से चली आती हुई पर क्रमशः विद्यापति और सूर पर अपना प्रभाव डालती हुई भजन-कीर्तन की रूप रेखा में परिवर्तित हो गयी थी। चैतन्य सम्प्रदाय के कारण वृन्दावन में उन दिनों भजन-कीर्तन का बोलबाला था। महाराष्ट्र तुकाराम के अभंगों से मुखरित था। जन्माष्टमी रामनवमी जैसे अवसरों पर सूर तुलसी और मीरा के पद गाये जाते थे किन्तु निम्बार्क चैतन्य राधावल्लभीय इत्यादि सम्प्रदायों में राधा की महत्ता स्थापित हो जाने के कारण धर्म के शृङ्गारपरक रूप का प्रभाव इन शैलियों पर भी पड़ा। फलतः सूर तुलसी के युग में प्रचलित उदात्त पद शैली अब भक्ति में सहज आ जाने वाली शृङ्गारिकता को लेकर भजन-कीर्तन का स्वरूप अपना चुकी थी। भौतिक पराभव से युक्त एवं नैतिक बल से क्षीण तत्कालीन हिन्दू-जनता अब इसी माध्यम से अपनी धार्मिकता को अभिव्यक्त करके निराश मन को बहलाने का प्रयत्न कर रही थी।

इस अध्ययन के निष्कर्ष स्वरूप यह कहा जा सकता है कि

१ रीतिकालीन संगीत ध्रुपद-शैली के आलाप-प्रधान गम्भीर स्वरूप को छोड़ता हुआ तानों के चमत्कृत चातुर्य से सम्पन्न ख्याल तराना टप्पा चतुरंग इत्यादि शैलियों को अपनाने लगा था।

२ रीतिकालीन शृङ्गारिकता के अनुकूल ठुमरी शैली भी इस युग में पर्याप्त विकसित हुई।

३ उपर्युक्त दोनों बातें अनायास ही अध्येता का ध्यान इस तथ्य की ओर आकृष्ट कर देती हैं कि जिस प्रकार रीतिकालीन कविता में शृङ्गार प्रियता और चमत्कार-प्रदर्शन की अभिरुचि व्यापक हो चुकी थी उसी प्रकार उस युग के संगीत में भी यही मनोवृत्ति क्रियमाण थी।

४ ख्याल ठुमरी टप्पा इत्यादि शैलियों का विशेष प्रचार मुसलमानी शासन-काल में ही हुआ अतः सामान्यतः यही समझा जाता है कि ये शैलियाँ प्रधानतः मुसलमानों की ही देन हैं।

१ रीतिकाल में भक्तिकालीन काव्य की पद-शैली भी प्रचलित थी जिसे संगीत में भजन-शैली के नाम से अभिहित किया जाता है। राधा वल्लभीय निम्बार्क इत्यादि सम्प्रदाय के कवियों द्वारा इस युग में माधुर्य-भावना की आड़ लेकर ऐसे पद लिखे जा रहे थे जो रीतिकालीन शृङ्गारिक मनोवृत्ति के अनुकूल थे और जनता भजन के रूप में इन पदों को अपनाकर धर्म-साधन और मनोरंजन एक साथ ही कर रही थी।

परिच्छेद ६

रीतिकालीन काव्य और सांगीतिक प्रवृत्तियाँ
तथा
उनका पारस्परिक सम्बन्ध

रीतिकालीन काव्य और सांगीतिक प्रवृत्तियाँ
तथा
उनका पारस्परिक सम्बन्ध

परिच्छेद-६

ऐतिहासिक दृष्टि से विक्रमी संवत् १७० से १९०० तक का समय हिन्दी साहित्य में रीतिकाल के नाम से अभिहित है। इस युग के कवियों में आचार्यत्व की स्पृहा और शृङ्गारिकता का मोह व्यापक रूप से विद्यमान था। कवियों के इस विशिष्ट दृष्टिकोण ने कविता-कामिनी के बाह्य सौन्दर्य तथा उसके शरीर के अलंकरण को इतना अधिक महत्त्व दिया कि वह औचित्य का अतिक्रमण कर जाने के कारण किसी सीमा तक भार रूप ही बना। रीतिकाल की इन प्रवृत्तियों को लेकर कतिपय आलोचकों ने इस युग को शृङ्गार काल[1] अथवा अलंकार-काल[2] जैसे नामों से स्मरण करना अधिक समीचीन समझा है किन्तु अधिकांश विद्वान इसे रीतिकाल के नाम से सम्बोधित करना ही अधिक संगत मानते हैं।[3]

---

१ "रीतिकाल कहने से इनकी रचनाओं के विभाजन का कोई मार्ग नहीं मिलता। पर शृङ्गार काल कहने से स्पष्ट विभाग दिखायी पड़ते हैं, अतः इसे वर्णन-प्रणाली के विचार से रीतिकाल न कहकर वर्ण्य के विचार से शृङ्गार काल कहना अधिक सुविधाजनक प्रतीत होता है।

पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र कृत 'वाङ्मय विमर्श'
पृष्ठ-२४३, तृतीय संस्करण

२ द्रष्टव्य—'मिश्रबन्धु विनोद'
पृष्ठ १४३, प्रथम संस्करण

३ "आगे चलकर यह प्रथा इतनी प्रचलित हुई कि बिना रीतिग्रन्थ लिखे कवि-कर्म पूरा नहीं समझा जाने लगा। हिन्दी-साहित्य के इस काल को हम इसीलिए रीतिकाल कहते हैं।"

डा० श्यामसुन्दर दास कृत 'हिन्दी भाषा और साहित्य'
प्रथम संस्करण, पृष्ठ-३२४

रीति

संस्कृत 'रीति' शब्द सम्प्रदाय विशेष से सम्बद्ध है। वामन ने इस शब्द का प्रयोग करते हुए विशिष्ट पद रचना को रीति कहा था।[1] किन्तु हिन्दी-रीतिकाल में रीति-सम्प्रदाय का अनुसरण कभी नहीं हुआ। सम्भवतः रीतिकाल का कवि यह जानता तक न था कि उसका युग कभी रीतिकाल के नाम से पुकारा जायगा। रीतिकालीन कवियों का ध्यान प्रौढ़ विवेचन और खण्डन-मण्डन से तटस्थ रहकर काव्य-कला की परिपुष्टि और रचना सम्बन्धी नियमों की स्थापना में अधिक व्यस्त था। अतः हिन्दी में रीति शब्द जिस व्यापक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है उसे हिन्दी का अपना प्रयोग मान लेना सर्वथा युक्तियुक्त है,[2] क्योंकि *हिन्दी ने इस शब्द से अपने साम्प्रदायिक अर्थ का परित्याग करके सामान्य अर्थ* ग्रहण कर लिया है। आचार्यत्व के व्यामोह में पड़े हुए इस काल के कवि की अन्तःप्रवृत्ति कविता करने या लिखने की रीति के विषय में क्रियाशील दृष्टिगत होती है। यही रीतिकालीन कवियों का रीति-निरूपण है और यही है उनका आचार्यत्व।

तीन प्रकार के कवि

काव्य रचना का मार्ग प्रशस्त करने के उद्देश्य को लेकर इस युग में जो कवि हुए उन्हें सहज ही तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। एक ओर तो चिन्तामणि देव सूरति मिश्र श्रीपति दास प्रतापसाहि कुलपति मिश्र जैसे कवि थे जिन्हें लक्षणकार या आचार्य कवि कहा जा सकता है, दूसरी ओर बिहारी प्रीतम बेनी रसनिधि पजनेस दीनदयालगिरि इत्यादि थे जिन्होंने रीति गुण दोष काव्य-लक्षण काव्य-प्रयोजन अलंकार, नायिका-भेद शब्द शक्ति इत्यादि के निरूपण से दूर रहकर कविताएँ लिखीं किन्तु जिनकी रचनाएँ निस्सन्देह रीतिबद्ध ही हैं। रीति-परम्परा से अनभिज्ञ पाठक के लिए तो इनकी रचनाओं का पूर्णतः रसास्वादन भी सम्भव नहीं है। घनानन्द ठाकुर, बोधा आलम इत्यादि कवि रीतिमुक्त काव्यधारा के अन्तर्गत आते हैं। इनकी रचनाओं में काव्य रीति का निरूपण तो है ही नहीं साथ ही ये किसी परम्परागत

---

१ "विशिष्ट पद-रचना रीतिः" 'काव्यालंकार सूत्र' १।२।७।

२ द्रष्टव्य—'रीति काव्य की भूमिका'

काव्य सिद्धान्तों के पचड़े में भी नहीं पड़े। ये प्रधानतया कवि अपने हृदय की निर्बंध अभिव्यक्ति में तत्पर थे।

आचार्य कवि (रीति-बद्ध)

रीति-निरूपण करने वाले आचार्य कवियों के ग्रन्थ प्रधानतः तीन विभिन्न शैलियों में हैं।[१] प्रथम श्रेणी के ग्रन्थों में सम्पूर्ण काव्यांगों का विवेचन किया गया है जैसे चिन्तामणि कृत 'कवि-कुल-कल्पतरु' और 'काव्य-विवेक' देव कृत 'काव्य रसायन' कुमार मणि भट्ट का 'रसिक रसाल' प्रताप साहि का 'काव्य विलास' इत्यादि। इन ग्रन्थों में मम्मट कृत 'काव्य प्रकाश' की निरूपण-शैली का अनुसरण हुआ है। इस में सन्देह नहीं कि इस काल के कवियों ने काव्य-शास्त्र का गम्भीर अध्ययन किया था किन्तु एक तो उस युग में गद्य का सम्यक् विकास न हो सकने के कारण इन्हें विषय के यथाविधि निरूपण और सूक्ष्म विवेचन की सुविधा उपलब्ध न हो सकी दूसरे ये लोग आवश्यकता से अधिक संस्कृत के आतंक में आ गए थे। फलतः हिन्दी में संस्कृत-काव्य-शास्त्र की संक्षिप्त रूपरेखा तो आ गयी किन्तु पूर्ववर्ती हिन्दी-साहित्य के अनुशीलन के आधार पर हिन्दी के काव्य-शास्त्र का स्वतन्त्र आधार खड़ा न हो सका। लक्ष्य के आधार पर ही लक्षण का विवेचन होता है किन्तु रीतिकाल का कवि संस्कृत से लक्षणों को लेकर हिन्दी में उनके लिए लक्ष्य निर्माण में संलग्न हो उठा और यही वह भूल थी जिसने लक्ष्य काव्य और लक्षणग्रन्थों के सामञ्जस्य को बिगाड़ दिया।

आचार्यत्व की आकांक्षा से लिखे हुए दूसरी श्रेणी के ग्रन्थ वे हैं जिनका प्रतिपाद्य रस-विवेचन है किन्तु रस के नाम पर इनमें चर्चा प्रायः शृङ्गार रस की ही हुई है। शृङ्गार के अतिरिक्त अन्य रसों का विवेचन अनुपात में कम है। प्रायः या तो शास्त्रानुमोदितता के आग्रह से इन ग्रन्थों में इतर रसों का वर्णन हो गया

---

१ द्रष्टव्य (क) पण्डित विश्वनाथ प्रसाद मिश्र कृत 'वाङ्मय विमर्श' (साहित्य का इतिहास शृङ्गार काल)

(ख) डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी कृत 'हिन्दी साहित्य' रीति काव्य (संस्कृत के अलंकार-शास्त्र का प्रभाव)

है या फिर नव रसों की बात मात्र उठाकर और किसी प्रकार जोड़तोड़ लगाकर अन्य रसों को शृङ्गार में अन्तर्भुक्त कर लिया गया है।[1]

शृङ्गार रस के विवेचन में इन आचार्यों ने मुख्यतः भानुदत्त की 'रस तरंगिणी' को अपना आधार बनाया। कुछ व्यापक दृष्टि से विचार करने वाले हिन्दी-आचार्यों ने 'काव्य प्रकाश' 'साहित्य-दर्पण' 'रस गंगाधर' और 'नाट्य-शास्त्र' का भी सहारा लिया। सूरति मिश्र चिन्तामणि एवं श्रीपति प्रताप साहि इत्यादि ऐसे ही आचार्य हैं। केशवदास की 'रसिकप्रिया' तोषकृत 'सुधा-निधि' कुलपति रचित 'रस रहस्य' सुखदेव मिश्र प्रणीत 'रसार्णव' इत्यादि का प्रतिपाद्य रस-विवेचन ही है। इन पुस्तकों में रसों के स्थायी भाव आलम्बन विभाव उद्दीपन विभाव, संचारी भाव इत्यादि के लक्षण और उदाहरण उपस्थित किये गए हैं।

इसी वर्ग के अन्तर्गत उन पुस्तकों को भी रखा जा सकता है जिनका विषय नायिकाभेद रहा है। नायिकाभेद वस्तुतः शृङ्गार रस के आलम्बनों का सूक्ष्म और सरल विवेचन है, अतः शृङ्गार रस पर लिखने वाले हिन्दी-आचार्यों का मन नायिका भेद में पर्याप्त रमा। चिन्तामणि कृत 'शृङ्गार-मंजरी' देव लिखित 'सुख सागर तरंग' एवं 'जाति-विलास' भिखारीदास कृत 'शृङ्गार-निर्णय' आदि ग्रन्थों का प्रतिपाद्य नायिका भेद ही है। हिन्दी-आचार्यों से पूर्व भरत के 'नाट्यशास्त्र' के बाईसवें अध्याय में तथा रुद्रभट्ट के 'शृङ्गार तिलक' में नायिका-भेद की चर्चा हो चुकी थी। कुछ परिस्थितियों के कारण हिन्दी के रीतिकाल में यह विषय पुनः विशेष रूप से लोकप्रिय हो गया। इस युग में राजदरबारों का विलासपूर्ण रंगीन वातावरण हृदय को धड़का देने वाली सूक्तियों के ही उपयुक्त रह गया था अतः रीतिकालीन नायिका-भेद का आधार काव्य-शास्त्र उतना नहीं है जितना काम-शास्त्र। वस्तुतः इसी दरबारी वातावरण ने उस युग में शृङ्गारिकता को एक प्रभावपूर्ण साहित्यिक प्रवृत्ति बना दिया था। राजदरबारों में कवि विलास का जो वैभव देखता था उसी के उल्लेखक चित्र भी उतारने लगता था। कवि की कल्पना के रंग से रंग कर ये चित्र और

---

१ "नव हू रस को भाव, बहु तिनके भिन्न विचार,
सबको केशवदास हरि, नायक है शृङ्गार।
'केशव ग्रन्थावली' (सम्पादक विश्वनाथ प्रसाद मिश्र)
(रसिक प्रिया) १ १६

भी भड़कीले हो जाते थे। वाह ! वाह ! भी ऐसी ही कविता पर मिलती थी अतः तत्कालीन कवियों में शृङ्गारिक कविता के निर्माण में स्पर्धा उत्पन्न हो गयी थी। यही कारण है कि इस युग में प्रायः सभी कवियों का मन शृङ्गारिक रचनाओं में ही अधिक रमा तथा आगे चलकर यह युग ही शृङ्गारकाल के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस काल के आचार्यकवियों ने भी शृङ्गार रस को प्रधानता प्रदान कर अन्य रसों का चलता वर्णन करके ही संतोष कर लिया।

तीसरी श्रेणी में वे ग्रन्थ आते हैं जिनमें मात्र अलंकारों के लक्षण एवं उदाहरण लिखे गये। करनेस रचित कर्णाभरण एवं 'श्रुति भूषण' जसवन्त सिंह कृत 'भाषाभूषण' मतिराम का 'ललित ललाम' जैसे ग्रन्थ इसी वर्ग में आते हैं। इन अलंकार ग्रन्थों में अधिकतर जयदेव के 'चन्द्रालोक' और अप्पय दीक्षित के 'कुवलयानन्द' का आधार ग्रहण किया गया है परन्तु उदाहरण प्रायः स्वतन्त्र हैं। इस शैली के ग्रन्थों में सबसे महत्वपूर्ण रचना जसवन्त सिंह कृत 'भाषा भूषण' है। इसी रचना के अनुसरण पर आगे चलकर सूरति मिश्र, भूपति, शम्भुनाथ मिश्र, बैरीसाल, पद्माकर इत्यादि ने क्रमशः 'अलंकार माला', 'कंठाभूषण', 'अलंकार दीपक', 'भाषा भरण', पद्माभरण इत्यादि ग्रन्थों की रचना की।

रीतिकालीन आचार्यों ने जो अलंकार-ग्रन्थ लिखे उनमें शब्दालंकारों की उपेक्षा और अर्थालंकारों की महत्ता स्पष्ट परिलक्षित होती है। इसका मूल कारण 'चन्द्रालोक' का अनुसरण है। जयदेव के 'चन्द्रालोक' में शब्दालंकारों को महत्ता नहीं मिली है, अतः रीतियुगीन कवियों के अलंकारों में भी अपने आप शब्दालंकारों की उपेक्षा हो गयी किन्तु यह स्थापना उनकी वास्तविक रुचि का प्रतिनिधित्व नहीं करती। वस्तुतः रीतियुगीन कवि शब्दों की कारीगरी में सम्राट रहे थे और निश्चय ही उन्हें शब्द क्रीड़ा अतीव प्रिय थी।

आचार्यत्व का अभाव

हिन्दी में रीति-ग्रन्थों का प्रणयन करने वाले जो आचार्य-कवि हुए उनमें आचार्यत्व की वास्तविक प्रतिभा का अभाव था। आचार्यत्व के लिए जिस सूक्ष्म, गहन और *सांगोपांग व्याख्या की आवश्यकता है उसका हिन्दी आचार्यों* के रीति ग्रन्थों में अकाल ही है। हिन्दी के काव्य-शास्त्री वस्तुतः आचार्य नहीं कवि थे। रीति-ग्रन्थों का प्रणयन तो उन्होंने अपने युग के कवि-धर्म-पालन के हेतु ही किया था। उस काल में वही उच्च कोटि का विद्वान् कवि समझा जाता था जो फड़कती हुई कविताएं रचने के अतिरिक्त शास्त्रीय ग्रन्थों का भी

प्रणयन करता था अतः आचार्यत्व की स्पृहा ने अनेक कवियों को रीति-ग्रन्थों के निर्माण की प्रेरणा दी परन्तु सच्चे अर्थों में आचार्य कहलाने वाले चिन्तामणि देव सूरति मिश्र श्रीपति दास प्रताप साहि रसिक गोविन्द जैसे कुछ सात कवियों को छोड़कर रीतिकाल के पूरे दो सौ वर्षों की अवधि में और कोई अधिकारी आचार्य-कवि नहीं हुआ। इन कवियों ने रस भाव ध्वनि अलंकार, गुण दोष रीति पिंगल इत्यादि काव्य के सभी आवश्यक अंगों का अपेक्षाकृत गम्भीरतापूर्वक निरूपण किया है।

इस युग के काव्य-शास्त्रियों की विवेचना चाहे संस्कृत काव्य-शास्त्रों पर आधृत हो किन्तु उनके उदाहरण प्रायः स्वरचित ही हैं। संस्कृत-साहित्य के उत्तर काल के कवियों ने भी लक्षणों के स्वरचित उदाहरण देने प्रारम्भ कर दिये थे किन्तु साथ ही वे अन्य कवियों की रचनाओं को भी निर्धारित लक्षणों के उदाहरण स्वरूप निस्संकोच ग्रहण कर लेते थे। ऐसा करने से उनका ध्यान लक्षणों की ओर बना रहता था फलतः उनकी विवेचना-शक्ति कुण्ठित न हुई। किन्तु स्वरचित उदाहरण मात्र उपस्थित करने के कारण हिन्दी-कवियों की विवेचन-क्षमता विकसित न हो सकी। दूसरों की कृतियों के गुण-दोष-विवेचन में लक्षणों की सूक्ष्म विशेषताओं पर ध्यान केन्द्रित रहता है, किन्तु अपनी रचना में लक्षण की ओर उतना ध्यान नहीं रहता जितना लक्ष्य की ओर। इसके अतिरिक्त कवि अपनी रुचि के अनुकूल विषय पर तो सुन्दर रचना कर लेता है किन्तु जो विषय रुचि के प्रतिकूल होते हैं उनकी उपेक्षा कर बैठता है अतः रीतिकालीन कवियों ने उन विषयों के लक्षणों की भी उपेक्षा की जो उनकी रुचि के अनुकूल नहीं थे। सच तो यह है कि रीतिकालीन कवियों में विचार रूप से सिद्धान्त-निरूपण का पूरा आवेश था ही नहीं। वे कवित्व-शक्ति से तो सम्पन्न थे परन्तु आचार्यत्व के गौरवपूर्ण पद के अधिकारी नहीं। इसी कारण उनके द्वारा रस और अलंकारों के हृदयहारी उदाहरण प्रचुर रूप में निर्मित हुए, परन्तु काव्यांगों का सैद्धान्तिक विवेचन सम्यक रूप से न हो सका। वरन् उदाहरणों की सर्जना में तो य कवि अपने पूर्ववर्ती उन संस्कृत कवियों को भी बहुत पीछे छोड़ गये जिनके शास्त्रीय ग्रन्थों का आधार लेकर वे काव्यांगों के निरूपण में संलग्न हुए थे।[१]

---

१ लक्षण रीति-ग्रन्थों के कर्ता भावुक सहृदय और निपुण कवि थे। उनका उद्देश्य कविता करना था न कि काव्यांगों का शास्त्रीय पद्धति पर निरूपण

मौलिकता का अभाव

रीतिकाल में संस्कृत-काव्य-शास्त्र के ग्रन्थ अपनी दुरूहता और सूक्ष्म ऊहापोह के कारण सामान्यतः दुर्बोध हो गये थे। इधर कवि-कर्म करने वालों के लिए काव्य-शास्त्र का थोड़ा बहुत ज्ञान अनिवार्य था अतः इन आचार्यों ने अपने पूर्ववर्ती संस्कृत के काव्य शास्त्रियों की मान्यताओं के आधार पर अपने ग्रन्थों की रचना तो की परन्तु मौलिकता के अभाव में ये लोग कोई नूतन उद्भावना न कर सके। नूतनता का तो प्रश्न ही क्या है यदि ये लोग मूल ग्रन्थों के सूक्ष्म विवेचन का सम्यक्रूपेण अध्ययन करके उनका बोधगम्य सुन्दर अनुवाद ही प्रस्तुत कर डालते तब भी बड़ी बात होती किन्तु इस युग की मनोवृत्ति रसिकता का आदर करती थी काव्यशास्त्रीय सूक्ष्मातिसूक्ष्म भेदों उपभेदों के विवेचन और निरूपण का नहीं। यह भी एक कारण है जिससे काव्य-मर्मज्ञ होते हुए भी इस युग के विद्वान् गम्भीर पर्यालोचन की ओर उन्मुख न हो सके। यद्यपि इन लोगों ने परिवर्तन परिशोधन और नवीन उद्भावनाओं के लिए काफी हाथ पैर मारे हैं परन्तु इस ओर तीव्र अभिरुचि न होने से उन्होंने संस्कृत-काव्य शास्त्र का यथोचित गम्भीर अध्ययन नहीं किया अतः उनके ग्रन्थ भी निर्भ्रान्त न रहे। उनका उद्देश्य शास्त्र-चर्चा था ही नहीं वे तो इसी बहाने अपनी कला का प्रदर्शन मात्र कर रहे थे। हिन्दी के इन आचार्यों की तथाकथित नवीन उद्भावनाएँ या तो संस्कृत की अपेक्षाकृत कम प्रसिद्ध पुस्तकों से गृहीत होने के कारण नवीन सी प्रतीत होती हैं या वे प्रायः भ्रामक हैं। देव का 'छल संचारी नवीन उद्भावना नहीं उसका आधार भानुदत्त की रस तरंगिणी' है।[1] छल

करना। अतः उनके द्वारा बड़ा भारी कार्य यह हुआ कि रसों (विशेषतः शृङ्गार रस) और अलंकारों के बहुत ही सरस और हृदयग्राही उदाहरण अत्यन्त प्रचुर परिमाण में प्रस्तुत हुए। ऐसे सरस और मनोहर उदाहरण संस्कृत के सारे लक्षण-ग्रन्थों से चुनकर इकट्ठे करें तो भी उनकी इतनी अधिक संख्या न होगी।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल कृत 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास'
पृष्ठ–२९६ संस्करण सं० १९९९

१ द्रष्टव्य–
(क) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल कृत 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' पृष्ठ२९२ संस्करण संवत् १९९९
(ख) पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र कृत 'वाङ्मय-विमर्श' पृष्ठ २५३–२५४ तृतीय संस्करण

को सरलतापूर्वक पदहित्ता के अन्तर्गत लिया जा सकता है। देव ने अपनी विस्तार भेद की रुचि से प्रेरित होकर 'भाव-विलास' में शृङ्गार के लौकिक अलौकिक प्रभृति भेद और भक्ति के प्रेम भक्ति, शुद्ध भक्ति और शुद्ध प्रेम इत्यादि के जो भेद उपस्थित किये हैं वे भी पूर्ववर्ती ग्रन्थों पर आधृत हैं। यही नहीं रीतिकालीन कवियों का भाव-विवेचन भी संतोषजनक नहीं है। दास द्वारा वर्णित दस नवीन हाव 'साहित्य दर्पण' में गिनाये गये नायिकाओं के १८ स्वभावज अलंकारों से चुन लिये गये हैं तथा चिन्तामणि केशव देव कुछ नायिकाभेद विस्तार और निरूपण भी पूर्ववर्ती संस्कृत ग्रन्थों पर आधृत है।

शृङ्गार रस और नायिका-भेद के अतिरिक्त इस युग के कवियों का दूसरा प्रिय वर्ण्य-विषय अलंकार है किन्तु अलंकार जैसे गम्भीर विषय के लिए जिस विश्लेषणात्मक तात्विक विवेचन की आवश्यकता होती है उस ओर इनका ध्यान ही न था। यहाँ भी वे संस्कृत के आचार्यों के ऋणी बने रहे।१ आश्चर्य है कि जिस विषय पर उनका स्वयं पूर्ण अधिकार नहीं था उसी पर वे बमदुष्ट लेखनी चला रहे थे। अप्रस्तुत विधान का प्राण वस्तुतः व्यंजना में ही निहित है किन्तु अनेक रीतिकालीन कवियों के उदाहरणों में अलंकारों के तात्पर्य की यथावत् प्राण-प्रतिष्ठा न हो सकी। केशव जैसे कवि भी इस भूल से नहीं बच सके। उन्होंने अलंकारों के जो दो भेद सामान्य और विशेष किये हैं२ वे चाहे हिन्दी

---

१ 'बिना परिश्रम के संस्कृत का पुष्ट खजाना हिन्दी वालों के हाथ लग गया। फिर वे परिश्रम क्यों करते? पर संस्कृत के प्रभाव से उनकी स्वतन्त्र उद्भावना अति कुण्ठित हो गयी। यही अवस्था रीति ग्रन्थों के प्रणयन में हुई। संस्कृत के आचार्यों की रस अलंकार आदि विषयों की पुस्तकें हिन्दी वालों के सामने थीं। बहुत से कवियों ने तो उन्हीं पुस्तकों के अनुवाद छायानुवाद भावानुवाद अनुवादाभास प्रस्तुत किए और कुछ ने उसी ढाँचे पर स्वयं कुछ रचनाएँ कीं।

डॉ० कृष्णशंकर शुक्ल कृत 'आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास' पृष्ठ-२०-२१ द्वितीय संस्करण

२ 'कविन कहे कवितान के, अलंकार द्वै रूप।
एक कहै साधारणौ, एक विशिष्ट स्वरूप ॥ २

'प्रिया प्रकाश'-पाँचवाँ प्रभाव' पृष्ठ-६० (कविप्रिया की टीका-लाला भगवान दीन)

पाठकों को नवीन प्रतीत हों, परन्तु हैं वे वस्तुतः संस्कृत के पूर्व ध्वनि काव्य की विचार-धारा पर आधृत। संस्कृत के इस काल के कवियों ने काव्य को सुशोभित करने वाले समस्त धर्मों को अलंकार के अन्तर्गत स्वीकार कर लिया था।१ केशव कृत सामान्य अलंकारों का वर्णन जैन आचार्य अमरसिंह कृत 'काव्य कल्पलता-वृत्त' तथा केशव मिश्र के 'अलंकार शेखर' का अनुवाद है। 'कविप्रिया' के नवें प्रभाव से पन्द्रहवें प्रभाव तक की सामग्री का अधिकांश या तो दण्डीकृत 'काव्यादर्श' से या फिर रुय्यक कृत 'अलंकार सूत्र' से गृहीत है।२

रीतिबद्ध कवि

रीतिबद्ध कवियों को आचार्य कवियों की तरह काव्यांगों के निरूपण की आकांक्षा न थी किन्तु इनकी दृष्टि से काव्यांग ओझल कभी नहीं हुए। वस्तुतः इस वर्ग के कवि रीतिकालीन लक्षणकारों से तत्त्वतः भिन्न नहीं हैं। यदि इनमें कोई अन्तर था तो केवल यह कि लक्षणकार स्पष्टतः पहले लक्षणों का उल्लेख करके उनके उदाहरण स्वरूप कविता लिखते थे परन्तु ये कवि लक्षणों के पचड़े में न पड़कर समयानुसार अपनी रुचि और मनोवृत्ति के अनुकूल कविता लिख डालते थे। उस युग में निर्मित लक्षण-ग्रन्थों के प्रचार के कारण जन रुचि लक्षणों की ओर आकृष्ट हो गयी थी अतः लक्षण-ग्रन्थ न लिखने पर भी ये कवि इस बात का ध्यान रखते थे कि उनकी रचनाएँ रस अलंकार, नायिका भेद इत्यादि की शास्त्रीय परिपाटी के अनुरूप रहें। रीति-परम्परा के अनुरूप न

---

१ काव्यं ग्राह्यमलंकारात् सौन्दर्यमलंकारः।
  स दोष गुणालंकारहानादानाभ्याम् ॥
  आचार्य वामन कृत 'काव्यालंकार सूत्र'
  १ १ १ - १
  २ १ १ - २
  ३ १ १ ३

२ "दण्डी और रुय्यक आदि अलंकार-संप्रदाय के उन आचार्यों के मतानुयायी थे जो अलंकारों को ही काव्य की आत्मा स्वीकार करते थे। केशवदास की रचनाओं पर इस सम्प्रदाय की गहरी छाप देख पड़ती है।"
  डा० श्यामसुन्दर दास कृत 'हिन्दी भाषा और साहित्य'
  पृष्ठ-३२१ प्रथम संस्करण

होने पर उनकी रचना का समुचित आदर होने में सन्देह हो सकता था।१ अतः इस वर्ग के कवियों का ध्यान लक्षणों से हट नहीं सका। बिहारी मतिराम नेवाज रसनिधि आदि प्रसिद्ध कवि इसी वर्ग के अन्तर्गत आते हैं।

रीतिमुक्त कवि

रीतिकाल के जिन कवियों ने रीति-ग्रन्थों की रचना न करके अन्य प्रकार की रचनाएँ की हैं उन्हें आलोचकों ने रीतिमुक्त अथवा स्वच्छन्द काव्यधारा के कवि माना है।२ आचार्य शुक्ल ने इस वर्ग में उन कवियों को रखा है जिन्होंने लक्षण ग्रन्थ न लिखकर शृङ्गार रस की फुटकर कविताएँ, नीति या भक्ति-ज्ञान-सम्बन्धी पद्य या फिर प्रबन्ध काव्य लिखे।

रीतिमुक्त कवियों की विशेषताएँ इस काल के अन्य कवियों से सर्वथा पृथक हैं। घनानन्द द्विजदेव बोधा आलम-शेख और ठाकुर जैसे प्रेम के स्वच्छन्द गायकों में वियोग की अन्तर्दशाओं तथा प्रेम की विभिन्न अन्तर्वृत्तियों का जैसा हृदयहारी और अनुभूतिप्लावित वर्णन मिलता है वैसा इस युग के अन्य कवियों में दुर्लभ है। इनकी कविताओं में काव्यशास्त्र के नियमों का बन्धन नहीं हृदय का बन्धन है। जीवन की वास्तविक अनुभूतियों के अभाव में कवित्व नीरस हो जाता है किन्तु प्रेम के इन स्वच्छन्द गायकों में कल्पना की ऊँची-से-ऊँची उड़ान विद्यमान होने पर भी वह भावभूमि कहीं भी ओझल नहीं हुई जिसके तिरोहित हो जाने पर कविता सहृदय-हृदय-रंजन में असमर्थ हो जाती है। इनकी रचनाओं

---

१ 'अब कवि के लिए यह आवश्यक सा हो गया था कि वह जो कुछ भी लिखे उसे रीति परम्परा में ढाल कर लिखे। उसे रस अलंकार नायिकाभेद ध्वनि आदि के वर्णन के सहारे ही और किसी वस्तु का वर्णन करना होता था। सफल कवि वही समझा जाता था जो कि लक्षण ग्रन्थों का निर्माण करे। राज दरबारों में भी उदाहरणों पर विवाद होते थे। किसी भी छन्द के वर्णन में यह कौन नायिका है? यह प्रश्न अनिवार्य था अतः कवि लोग इसी के सहारे चलते थे।'

डा० भगीरथ मिश्र कृत 'हिन्दी काव्य शास्त्र का इतिहास'
पृष्ठ-११२ प्रथम संस्करण

२ द्रष्टव्य—पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र कृत 'घन आनन्द ग्रन्थावली'
पृष्ठ-१९ संस्करण सं० २००९

में सच्चे प्रेम की कसक का जो गहराई विद्यमान है वह किसी बंधी-बंधायी प्रेम पद्धति में कभी नहीं मिल सकती। यद्यपि इन प्रेम-विभोर गायकों की रचनाओं में भी उक्ति-वैचित्र्य का एकान्त अभाव नहीं है किन्तु उनमें भावप्रवणता इतनी अधिक है कि वह वैचित्र्य ऊपर से लादा हुआ प्रतीत नहीं होता।

शृङ्गारिक प्रवृत्ति

आचार्यत्व के अतिरिक्त रीतिकालीन साहित्य की एक अन्य प्रमुख प्रवृत्ति शृङ्गारिकता है। उस युग के साहित्य में जिस जीवन की व्याख्या की है वह जन-साधारण का जीवन नहीं अमीर-उमराव, राजा-रईस और सामन्तों का विलास-वैभव से मधुर रंगीन जीवन है। यद्यपि इस शृङ्गारिकता में दाम्पत्य भाव की ही प्रधानता मिलती है परन्तु प्रायः नायक की ओर से एकनिष्ठता का अभाव होने के कारण प्रेम की उज्ज्वलता के स्थान पर वासना की मलीनता ही अधिक दृष्टिगत होती है। रति को उद्दीप्त करने वाले विभावों के ऐसे सजीव चित्र जो सहज ही मन को आवेग के साथ झकझोर दें रीतिकालीन कविता में भरे पड़े हैं। रति भाव की वृद्धि में प्रकृति का साहचर्य भी सहायक होता है इसीलिए प्रकृति-चित्रण एवं षटऋतुवर्णन को भी उन्होंने अपनी कविता का विषय बना लिया। नायक और नायिका के संयोग शृङ्गार एवं विप्रलम्भ-नायिका-भेद, नख-शिख-वर्णन, दूतियों की कल्पना और पूर्वराग, मान, प्रवास इत्यादि के निरूपण में भी तत्कालीन कवियों की शृङ्गारिक प्रवृत्ति विस्पष्ट है।

विभिन्न काव्य रूप

यदि काव्य-रूपों की दृष्टि से विचार किया जाय तो सामान्यतः रीतिकालीन सभी कवियों का ध्यान मुक्तक काव्य की ओर अधिक दिखाई देता है। यद्यपि इस युग में कथात्मक प्रबन्ध अथवा वर्णनात्मक प्रबन्धों का भी एकान्त अभाव नहीं है, किन्तु युग-मनोवृत्ति प्रबन्ध-काव्यों के अनुकूल न होने के कारण मुक्तकों का जैसा प्रचार रहा वैसा इतर काव्य-रूपों का न हो सका। ये मुक्तक रचनाएँ कवित्त-सवैया शैली में भी हुई और परम्परागत पद-शैली में भी।

विभिन्न भाव धाराए

भाव की दृष्टि से रीतिकालीन रचनाओं में निम्नांकित पाँच भाव-धाराएँ परिलक्षित होती हैं

१– तत्त्वज्ञान सम्बन्धी काव्य
२– भक्ति सम्बन्धी काव्य
३– नीति सम्बन्धी काव्य
४– वीर काव्य
५– प्रेम काव्य

सुखदेव मिश्र का 'अध्यात्म प्रकाश' नागरीदास का 'वैराग्य सार' लक्ष्मण सिंह कृत 'अध्यात्म रामायण' महाराज विश्वनाथसिंह कृत 'ध्यानमंजरी' और परतत्त्व देव कृत 'तत्त्व दर्शन पचीसी' ब्रह्मदर्शन पचीसी तथा 'आत्मदर्शन पचीसी' महाराज जसवन्तसिंह कृत 'अपरोक्ष सिद्धान्त' 'अनुभव प्रकाश' 'आनन्द विलास' 'सिद्धान्त बोध' 'सिद्धान्त सार' इत्यादि रचनाएँ तत्त्वज्ञान सम्बन्धी ही हैं। इन कृतियों में रचयिताओं का मूल उद्देश्य तत्त्वज्ञान की चर्चा है, काव्य रचना नहीं फलतः इन्हें पढ़ने पर बोधवृत्ति तो तृप्त होती है किन्तु रस-व्यंजना के अभाव में हृदय अतृप्त ही रह जाता है। अलंकारों का प्रयोग इन रचनाओं में भी मिलेगा किन्तु उनका उपयोग प्रायः तत्त्व के स्पष्टीकरण में ही हुआ है।

इस युग के भक्ति-काव्य की परम्परा हिन्दी-साहित्य के भक्तिकाल से जोड़ी जा सकती है किन्तु भावों की अभिव्यक्ति प्रायः पूर्ववर्ती भक्त कवियों की पुनरावृत्ति मात्र है। रमणीयता तो इन रचनाओं में भी है, परन्तु मौलिक प्रतिभा का अभाव होने से उक्तियाँ पिटी-पिटी सी अवश्य प्रतीत होती हैं। ये रचनाएँ प्रायः कृष्ण-भक्ति पर आधृत हैं और इनमें शृङ्गार का पुट भी निश्चय ही है। सोमनाथ कृत 'कृष्ण लीलावती' रसिक गोविन्द कृत 'युगल रस माधुरी' तथा 'रामायण सूचनिका' मञ्चन कृत 'जानकी जू का विवाह' गुरु गोविन्दसिंह कृत 'चण्डी चरित्र' ग्वाल की 'यमुना लहरी' तथा 'भक्त भावन' घनानन्द के गेय पद तथा अन्य रचनाएँ, [illegible] नागरीदास की समूह से अधिक छोटी-मोटी पुस्तकें चाचा हित वृन्दावन दास के गेय पद कृष्णदास की 'माधुर्य लहरी' तथा भारतेन्दु जी के पिता गिरिधर दास की अनेक रचनाएँ इस युग के संगीतपरक भक्ति-काव्य के उदाहरण स्वरूप उपस्थित की जा सकती हैं।

रीतिकाल की नीति काव्य धारा का सम्बन्ध नरहरि रहीम इत्यादि पूर्ववर्ती कवियों से स्थापित होता है। वृन्द की 'वृन्द सतसई' राम का 'वैराग्य शतक' गुरु गोविन्दसिंह कृत 'सुनीति प्रकाश' तथा गिरिधर, बाबा दीनदयाल गिरि आदि की फुटकर रचनाएँ इसी वर्ग में आयेंगी। इस वर्ग के कवियों ने [illegible] पर्यायोक्ति दृष्टान्त इत्यादि के प्रयोग से जो वाग्वैदग्ध्य प्रधान सूक्तियाँ

लिखीं वे अतीव लोकप्रिय हुईं। दीनदयाल गिरि जैसे कवियों की वे उक्तियाँ तो पर्याप्त सरस भी हैं जो जीवनानुभूति से सिक्त हैं।

इस युग में जो वीर काव्य लिखा गया वह वस्तुतः युग प्रवृत्ति के प्रतिकूल था। अनेक कवियों को बाध्य होकर अपने आश्रयदाताओं का यशोवर्णन करना पड़ता था किन्तु ऐसी झूठी प्रशस्तियाँ निरर्थक ही सिद्ध हुईं। हाँ वीर रस को लेकर लोकनायकों का जो शौर्यवर्णन हुआ अथवा जो पौराणिक काव्य लिखा गया वह पर्याप्त सफल रहा। इस युग में वीर रसात्मक प्रबन्ध काव्य भी लिखे गये और स्फुट रचनाएँ भी। भूषण का काव्य तो इस युग का वीर काव्य है ही इसके अतिरिक्त सबलसिंह चौहान कृत 'महाभारत' कुलपति मिश्र का 'द्रोणपर्व' तथा 'संग्राम सार' लाल कवि का 'छत्रप्रकाश' जोधराज का 'हमीर रासो' चन्द्र शेखर वाजपेयी कृत 'हमीर हठ' पद्माकर कृत 'हिम्मत बहादुर विरुदावली' इत्यादि को भी विस्मृत नहीं किया जा सकता।

इस युग के स्वच्छन्द प्रेम काव्य के रचयिताओं में अनुभूति की रमणीयता की मार्मिक अभिव्यक्ति मिलती है। मात्र रमणीय उपकरणों के द्वारा अपनी उक्तियों में रसोद्रेक करने का प्रयास इन कवियों ने नहीं किया। इनकी सरस उक्तियों में जिस चुभती हुई वक्रता के दर्शन होते हैं उसका आधार हृदय की टीस है। भावों की गहराई के कारण ही इनकी भाषा स्वयमेव भावानुवर्तिनी होकर सूक्ष्म भावनाओं की अभिव्यंजना में सफल हो सकी है अतः इनकी रचनाओं में संगीत-गुण का भी यथास्थान समावेश हो गया है। आलम घनानन्द बोधा ठाकुर द्विजदेव इत्यादि कवि इसी वर्ग में आयेंगे। यद्यपि शृङ्गारिकता रीतिकाल की एक मुख्य प्रवृत्ति है किन्तु इन प्रेमोन्मत्त कवियों का शृङ्गार वह शृङ्गार नहीं है जो काव्य में मात्र वाणी विलास बनकर रीतिकालीन अनेक कवियों की रचनाओं में मुखर हुआ। यह उन लोगों का शृङ्गार है जिन्होंने अपने हृदय की आँखों से प्रेम की पीर को देखा था। इसी कारण इन कवियों की रचनाओं में हृदय की निश्छलता विद्यमान है कृत्रिम विरह की हाय हाय नहीं।

रीतिकालीन काव्य की मुख्य भाव-धाराएँ तथा ऊपर कही हुई मुख्य प्रवृत्तियों के आधार पर ही रीतिकालीन काव्य और संगीत के पारस्परिक सम्बन्ध का मूल्यांकन करना समीचीन है। यहाँ इतना कह देना असंगत न होगा कि उपर्युक्त भाव-धाराओं में से कोई भी भाव धारा ऐसी नहीं है जो संगीत में गृहीत न हो सके। जहाँ तक रीतिकालीन शृङ्गारिक प्रवृत्ति का सम्बन्ध

है उसका प्राबल्य संगीत में भी दृष्टिगोचर होता है। यदि शिल्प विधान की दृष्टि से विचार किया जाय तो कविता का चाहे जो रूप हो उसमें किसी-न किसी अंश में कलापरक—विशेषतः संगीत कला की—विशेषताओं का समावेश हो ही जाता है। सम्भवतः यह कवि की शक्ति के बाहर की बात है कि वह अपनी काव्य-कला को इतर कलाओं की विशेषताओं से सर्वथा असम्पृक्त रख सके। वस्तुतः अभिव्यंजना की जो चरम सामता इतर कलाओं के सृजन की सूत्रधारिणी है वही काव्य का भी निर्माण करती है। यही कारण है कि पाश्चात्य काव्य शास्त्रियों ने कला के व्यापक अर्थ में काव्य को भी समेट लिया है।१ इधर भारतीय काव्य-शास्त्रियों ने कला शब्द को संकीर्ण अर्थ में ग्रहण

---

१ (क) Poetry and picture are arts of a like nature and both are busy about imitation. It was excellently said of Plutarch—poetry was speaking picture and picture a mute poesy.

Loci—critici by Saintsbury page 114
Edition—1031

(काव्य कला और चित्रकला एक ही प्रकार की कलाएं हैं और दोनों ही का व्यापार अनुकरण है। प्लूटार्क की यह उक्ति सुन्दर है—कविता बोलती तस्वीर है और तस्वीर मौन कविता।)

(ख) "It might be argued that there is no need to insist on the necessity for Art as an element of poetry. If all the other elements are there we might say Art is there also. The test may be this: is the total effect pleasurable whether the theme in itself be beautiful or grotesque, joyful or sad? It is the special function of Art to see that pleasure will result."

The study of Poetry—by A. R. Entwistle B. A.
Page 12 Edition November 1033

(यह दलील भी दी जा सकती है कि इस बात पर ज़ोर कला की आवश्यकता नहीं है कि कला कविता का आवश्यक तत्व हो। यदि अन्य सभी तत्व मौजूद हों तो हम कह सकते हैं कि कला भी वहां है। कसौटी यह हो सकती है कि क्या सम्पूर्ण प्रभाव आनन्ददायक है क्या विषय को स्वतः सुन्दर अथवा अद्भुत आह्लादजनक अथवा विषादमय होना चाहिये? कला का यह विशेष धर्म है कि उससे आनन्द की उत्पत्ति हो।)

(ग) "(Poetry is) the art of producing pleasure by the just expression of imaginative thought and feeling in metrical Language."

An introduction to the study of Literature
by Courthope Page 84

(काल्पनिक विचारों के यथार्थ प्रकाशन और छंद की भाषा से आनंद की सृष्टि करने की कला को कविता कहते हैं।)

करते हुए काव्य को विभिन्न कलाओं से पृथक माना है।१ इसका प्रधान कारण यही है कि काव्येतर कलाओं में अभिव्यक्ति का बाह्य कौशल ही अधिक परिलक्षित होता है, किन्तु काव्य का आधार उसका अन्तर्तत्व है। अन्तर्तत्व की अभिव्यक्ति एक सीमा तक ही सहज स्वाभाविक है सर्वांश में नहीं। इस सीमा के आगे बढ़ते ही अभिव्यंजना-कौशल की भी अपेक्षा होने लगती है।

कलाकार का व्यक्तित्व वस्तुतः विविध रूपों में विभक्त रहता है। उसका एक रूप तो वह है जो कला निरपेक्ष है। अपने इस रूप में कलाकार सामान्य मानव से भिन्न नहीं है। वह घर-गृहस्थी के झंझटों को सुलझाता है और रोटी-दाल का समुचित प्रबन्ध करता है। उसका दूसरा व्यक्तित्व वहाँ दिखाई देता है जहाँ [illegible] जीवनानुभूति के मार्मिक क्षणों में तल्लीन होकर कला-सर्जना में तत्पर होता है। इस मनोदशा में कवि की—कलाकार की—अनुभूतिमयी प्रतिभा अपने कल्पना-जगत् में अतीत के भावों का साक्षात्कार करके मानो उनका पुनः मानसिक प्रत्यक्षीकरण करने लगती है। कवि की यह भावना ही उसकी कृति का उत्स है। कलाकार का तीसरा रूप वह है जब वह स्वयं ही प्रथम आलोचक बनकर अपनी नवनिर्मित कृति को परखने लगता है। यहीं उसका कलात्मक व्यक्तित्व प्रबलतर हो उठता है फलतः वह अपनी कलात्मकता के समावेश से कृति में कान्ति और मसृणता की भक्ति भर स्थापना करता है। यहीं कविता में संगीत के तत्व भी उभरने लगते हैं।

इन तीनों रूपों में से सम्प्रति प्रथम व्यक्तित्व छोड़ा जा सकता है। कला सर्जना में उपयोगी कलाकार का दूसरा व्यक्तित्व अपनी कल्पना के बल से मानसिक पुनरावर्तन २ द्वारा जीवनानुभूति को साकार ही नहीं करता प्रत्युत अपनी अभिव्यक्ति को अपनीय रूपाकार भी प्रदान करता है। एकान्ततः कला की दृष्टि से यह प्रारम्भिक रूप भले ही त्रुटिपूर्ण रहे परन्तु उसमें कलात्मकता होती अवश्य है अर्थात् अभिव्यक्ति के साथ ही कला का थोड़ा बहुत रूप आने लगता है। कलाकार अपनी रचना के शिल्प-विधान को ध्यान में रखकर इन त्रुटियों का मार्जन करके कृति को पुष्ट और आकर्षक रूप प्रदान करता है। यों तो अनुभूति सर्व सुलभ है किन्तु जन-साधारण की अनुभूति निश्चय ही मूक होती है। इसके विप

१ भामह ने 'काव्यालंकार' में काव्य के भेद गिनाते हुए कला-प्रधान-काव्य को एक स्वतंत्र भेद माना है।

(द्रष्टव्य—भामह कृत 'काव्यालंकार प्रथम परिच्छेद पृष्ठ-१३, १८)

२ Mental Repetition.

रीत कवि की अनुभूति कलात्मक रूप ग्रहण करके मुखर हो उठती है और उसे देख-सुनकर जन-साधारण भी यह समझने लगते हैं कि उसकी अपनी अनुभूति का वास्तविक स्वरूप क्या और कैसा है।

कवि जब अपनी कृति की सृष्टि के पश्चात् अथवा उसमें कलात्मक निखार करने लगता है तब अनुभूति के प्राण का अभिव्यंजना के सुन्दर शरीर में सम्यक रूप से स्थापन हो जाता है। इन सब प्रारम्भिक आवश्यकताओं की पूर्ति के पश्चात् ही कवि की कविता प्रमाता के सम्मुख आती है और तब वह आश्चर्य चकित होकर देखता है कि कवि ने अपना एक शब्द भी बिना नापे-समझे प्रयुक्त नहीं किया है। कवि का संगीतात्मक छन्द-चयन, उसका आलंकारिक विधान अथवा शब्द-विन्यास-कौशल निश्चय ही भावानुभूति को सुन्दरतम रूप प्रदान करने में सहायक होता है। यही कारण है कि न तो मात्र आन्तरिक सौन्दर्य की महत्ता स्थापित करके बाह्य सौन्दर्य की एकान्ततः उपेक्षा की जा सकती है और न अभिव्यंजना चमत्कार को ही सब कुछ मानकर अन्तर्पक्ष की अवहेलना हो सकती है।१

कविता अन्य कलाओं से बहुत अधिक अनुप्राणित है।२ सबसे अधिक प्रभाव

१ "कवि की अनुभूति को उसके परिणाम में हम अभिव्यक्त देखते हैं और अभिव्यक्ति के अस्तित्ववाले सम्बन्ध को जोड़ने के लिए हम चाहें तो कला का नाम ले सकते हैं और कला के प्रति अधिक पक्षपातपूर्ण विचार करने पर यह कोई कह सकता है कि अलंकार, वक्रोक्ति, रीति और वृत्यात्मक इत्यादि में कला की सत्ता मान लेनी चाहिए; किन्तु मेरा मत है कि यह सब समय-समय की मान्यता और धारणाएँ हैं जिन पर प्रतिभा का कभी अधिक भुगतान हुआ होगा। इसी अभिव्यक्ति के बाह्य रूप को कला के नाम से काव्य में पकड़ रखने की साहित्य में प्रथा सी चल पड़ी है।"

श्री जयशंकर प्रसाद कृत 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध' पृष्ठ ४४ चतुर्थ संस्करण)

२ "All literature, but more especially poetry, may be regarded therefore as a verbal art. It is in one sense a music whose effects happen to be limited to tones and melody, a music which restricts itself to the sounds that happen to be incarnate in the words of some particular language."

Dr. Irwin Edman—(Arts and the Man Page [illegible] Third Printing)

(इस प्रकार साहित्य विशेषतः काव्य को लेकर कला रूप माना जा सकता है। यह एक प्रकार का संगीत है जिसका प्रभाव स्वर एवं लय में सीमित

तो इस पर संगीत का ही है अतः कविता को कला के व्यापक क्षेत्र से बहिष्कृत करके उस पर विचार करना समुचित नहीं है। शब्दों के निविड़-जाल से तटस्थ रहकर यदि विचार किया जाय तो इसमें भी सन्देह नहीं कि काव्यशास्त्रों में काव्य के कलात्मक अंश की अवहेलना नहीं अवर्चना ही हुई है। यह बात दूसरी है कि कहीं कलात्मक अंग को गौण स्थान दिया गया तो कहीं प्रमुख। प्रश्न तो केवल इतना ही है कि कवि में कला की पूर्णमत्ता होती है या नहीं? और यदि इस प्रश्न का उत्तर 'हाँ' है तो अनुसन्धित्सु को काव्य के शिल्प विधान में अपने ईप्सित विषय के तत्त्व अवश्य समाहित मिलेंगे१ और निश्चय ही इस वैशिष्ट्य की दृष्टि से भी काव्य का स्वतन्त्र अध्ययन किया जा सकता है।२ रीतिकाल के दरबारी प्रभाव और वातावरण में जिस कविता का निर्माण हुआ उसमें निपुणता चमत्कार, छन्द-सौष्ठव आलंकारिक सुषमा शब्द-सौन्दर्य रसानुरूप वर्ण योजना उक्ति-वैचित्र्य प्रभृति की शिल्प चातुरी को यदि छोड़ दिया जाय तो फिर रह ही क्या जायगा! निश्चय ही ये कवि पहले कलाकार हैं बाद में कुछ और।३ यह भी एक निर्विवाद तथ्य है कि अपनी कला सर्जना में ये बिल्कुल बेजोड़ हैं। कविता का मूल्य भिन्न-भिन्न अवसरों पर—भिन्न-भिन्न कालों में—बदलता

होता है एवं संगीत को उन स्वरों में अपने को विसर्जित कर देता है जिनकी किसी विशेष भाषा के शब्दों द्वारा अवतारणा होती है।)

१ "कला की सामग्री से साहित्य का और साहित्य के आधार से कला की सामग्री का अध्ययन ही कला और साहित्य दोनों के लिए परस्परोपयोगी हो सकता है।"

डा० वासुदेवशरण अग्रवाल कृत 'कला और संस्कृति' पृष्ठ २०३ २ ४

२ "कला की आँख से साहित्य और साहित्य की आँख से कला को देखना हमारे वर्तमान सांस्कृतिक युग की एक बड़ी आवश्यकता है।"

वही पृष्ठ २०६

३ "व्यास और वाल्मीकि कवि थे जो पहाड़ों को तोड़कर सिन्धुओं के लिए रास्ते बनाते थे आए भी हुए और भाव कलाकार हैं जो छोटे-छोटे पत्थरों को मिलाकर उन्हें चिकना करते हैं। कवि तब उत्पन्न होते हैं जब समाज के पाँव बँध जाते हैं।"

'अवन्तिका' वर्ष २ अंक-१ पृष्ठ-२४४

श्री दिनकर का लेख 'रीतिकाल का नया मूल्यांकन'

रहता है अतः कविता कभी अपने निर्माणकाल की परिस्थितियों के लिए पढ़ी जाती है तो कभी छन्द-संगठन के कौशल के लिए। कभी हम उसमें युग का इतिहास खोजते हैं तो कभी शब्द-सौष्ठव वर्ण-योजना या भाषा का लालित्य देखते हैं। वह भी एक युग था जिसने रीतिकाल की कविता का आदर किया था। इसी कारण उस युग के कवि ने वैसी रचनाएँ लिखी थीं और आज भी अनेक कविता प्रेमियों के लिए उन्हीं मूल्यों के कारण रीतिकाल की कविता सजीव है मृत नहीं। अपनी-अपनी रुचि ही तो है। किसी को रीतिकालीन कविता में रूढ़िवादिता चमत्कारप्रियता स्थूल ऐन्द्रिक शृङ्गारिकता अथवा अश्लीलता के अतिरिक्त और कुछ दिखायी ही नहीं देता तो कोई उस युग की कविता में रीझ खीज ईर्ष्या प्रेम उमंग लालसा इत्यादि के एक-से-एक सुन्दर चित्र देखकर मुग्ध हो उठता है। वस्तु तो एक ही है किन्तु

> "जानत सौति अनीति है जानत सखी सुनीति।
> गुरुजन जानत लाज है, प्रीतम जानत प्रीति॥"

उस युग के कवि के लिए वस्तुतः मार्ग ही केवल दो बच रह गये थे। या तो वह अपने आश्रयदाताओं की प्रशंसा कर सकता था या फिर चमत्कार प्रदर्शन और कला-सौष्ठव से अपनी रचना को आकर्षक और मर्मस्पर्शी बनाकर सभा में आदर प्राप्त कर सकता था। शुद्ध काव्य-रचना की प्रेरणा का अभिव्यञ्जन दूसरे मार्ग में ही अधिक सम्भाव्य था अतः उस युग के कवि ने समय के साथ इसी को अपनाया।[1]

---

1 "उनको (रीतिकालीन कवियों को) रूढ़िवादिता अर्थात् बंधी-बंधाई पद्धति पर लिखना उनकी अतिशय राज-प्रशंसा की स्थिति से मुक्ति पाने के कारण और शुद्ध काव्य रचने की प्रेरणा का प्रतिफल था। यदि ऐसा वे न करते तो या तो वे चारण-काव्य की सी कविता लिखते या फिर सम्भवतः वे सुप्त रहते। इन दोनों से ही भिन्न कोटि में बचना चाहा उन्होंने रीति पद्धति पर रचना करने की बात सोची। चमत्कार-प्रदर्शन भी उस युग का गुण था। उस तड़क-भड़क, शोभा-सजीव के युग में काव्य काव्य का मौलिक रूप ही अधिक प्रचलित था चमत्कार-प्रदर्शन आवश्यक था।"

'आलोचना' वर्ष १ अंक-३, पृष्ठ-१७ १८ पर 'रीतिकालीन काव्य एक दृष्टिकोण' शीर्षक डा॰ भगीरथ मिश्र का लेख।

अन्य प्रिय-विषय

चमत्कार प्रदर्शन की अभिरुचि के साथ शृङ्गारिक मनोवृत्ति का समावेश हो जाने के कारण रीतिकालीन कवियों की मनोवृत्ति नखशिख और षट्ऋतु वर्णन में भी खूब रमी। सौन्दर्य द्रष्टा कवि की अनुभूति में सर्वाधिक सहायक नेत्रेन्द्रिय ही है और सौन्दर्यानुभूति के द्वारा आनन्द की स्थापना ही कला का प्राण है, अतः कवि का—कलाकार का—ध्यान सबसे पहले आनन्द के प्रमुख स्रोत (स्त्री) पर ही केन्द्रित होता है। नारी एक साथ ही पाँचों ज्ञानेन्द्रियों को प्रभावित करके आनन्द का उद्रेक करती है। इसीलिए नारी कला की सबसे बड़ी प्रेरणा है।[1] रीतिकालीन कवियों ने बड़ी रसिकता से नारी के अंग प्रत्यंगों के लावण्य शोभा और कान्ति के आकर्षक और कभी-कभी फड़का देने वाले शब्द-चित्र उतारे हैं। रीतिकालीन कवियों का नख-शिख-वर्णन परम्परागत शैली पर आधृत है। जातिगत रुचि स्वभाव शिक्षा संस्कृति प्रकृति के परिणाम स्वरूप संस्कृत काल में ही नारी की आदर्श सौन्दर्य-आकृति निर्दिष्ट हो चुकी थी, अतः मतानुयायिकता से नख-शिख में उपमान भी बहुत कुछ रूढ़िगत हो

---

१ (क) "दृष्टव्येषु किमुत्तमं मृगदृशः प्रेमप्रसन्नं मुखं ।
घ्रातव्येष्वपि किं तदास्यपवनः श्रव्येषु किं तद्वचः ॥
किं स्वाद्येषु तदोष्ठपल्लवरसः स्पृश्येषु किं तत्तनु-
र्ध्येयं किं नवयौवनं सहृदयैः सर्वत्र तद्विभ्रमः ।"

भर्तृहरि कृत 'शृङ्गार शतक', श्लोक ७
पृष्ठ ७७ द्वितीय संस्करण

(ख) "पीता हूँ, हाँ मैं पीता हूँ
यह स्पर्श रूप रस गंध भरा
मधु लहरों के टकराने से
ध्वनि में है क्या गुंजार भरा ।

श्री जयशंकर प्रसाद कृत 'कामायनी

(ग) "आज स्पर्श, रस रूप गंध की
पारदर्शिनी सुघड़ पुतलियाँ
चारों ओर नृत्य करती ज्यों,
रूपवती रंगीन तितलियाँ !

श्री जयशंकर 'प्रसाद' कृत 'कामायनी',
पृष्ठ २७० द्वितीय संस्करण

गये। यही कारण है कि प्रायः हिन्दी के सभी रीतिकालीन कवियों के नख शिख-वर्णन में विस्मयजनक साम्य दिखायी देता है।

षट्ऋतु-वर्णन भी इसी प्रकार परम्परागत है। रीतिकाल के कवियों ने प्रायः शृङ्गार रस के उद्दीपन विभाव की दृष्टि से ऋतु-वर्णन किया है। वस्तुतः सृष्टि में जो कुछ समुज्ज्वल और दर्शनीय है उसका शृङ्गार से अविच्छिन्न सम्बन्ध है।१ अतः इन शृङ्गारिक कवियों ने रसात्मक दृष्टि से इस बात की खोज की कि मनोरम प्रकृति के सौन्दर्यपूर्ण वातावरण में स्त्री-पुरुषों के आन्तरिक सौन्दर्य के उद्दीप्त होने पर किस अभिनव सुषमा की सर्जना होती है। इनके ऋतुवर्णन में चाहे आलम्बन की दृष्टि से शुद्ध प्रकृति-चित्रण का अभाव ही क्यों न हो किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि शृङ्गार के उभय पक्षों में मानव-हृदय पर प्रकृति के ऋतुकालीन प्रभाव को उन्होंने पहचाना था और उसकी कलात्मक अभिव्यञ्जना भी की थी। यद्यपि तत्कालीन अतिशय चमत्कार प्रियता ने उनके वर्णनों को अतिरंजित भी कर दिया है किन्तु जहाँ ऐसा नहीं है वहाँ उन के चित्र अवश्य ही सुन्दर बन पड़े हैं।२

रीतिकाल के कतिपय कवियों ने संयोग शृङ्गार-वर्णन की सुविधा के लिए अष्टयामों की भी रचना की। वैष्णव कवियों ने अष्टयामों में राधा और कृष्ण की आठों प्रहरों की ललित लीलाओं का वर्णन किया था। उन्हीं का अनुकरण करते हुए रीतियुगीन कवियों ने दम्पति के चौबीस घण्टों के विविध विलास-पूर्ण कार्यक्रमों के आकर्षक और उत्तेजक वर्णन को ही अष्टयाम की रचना का वर्ण्य-विषय मान लिया। देव कवि ने अष्टयाम की जो रचना की है उसका सम्बन्ध शृङ्गार से चाहे जितना अधिक हो जाता भक्ति, अथवा नैतिकता से लेशमात्र भी नहीं है। रीतिकालीन फुटकर कवियों में से महाराज विश्वनाथ सिंह ने 'अष्टयाम आह्निक' और कुमार कवि ने 'अष्टयाम' की रचना की। तथापि अष्टयाम रचना का विशेष प्रचार नहीं हुआ। इस प्रकार की रचनाएँ

---

१ "यत्किंचिल्लोके शुचि मेध्यं दर्शनीयं वा तच्छृङ्गारेणानुमीयते।"
　　श्री भरतमुनि प्रणीत 'नाट्यशास्त्रम्', षष्ठाध्यायः
　　पृष्ठ-७१ (विद्या विलास प्रेस, बनारस)

२ बिहारी का यह दोहा द्रष्टव्य है :
　　"रनित भृङ्ग-घंटावली, झरित दान मधु-नीर।
　　मंद-मंद आवत चल्यौ कुंजर कुंज-समीर॥

तत्कालीन धनी-वर्ग की नितान्त अकर्मण्यता और घोर विलासी जीवन को स्पष्टतः इंगित करती हैं। भक्त कवियों ने (जैसे चाचा हित वृन्दावन दास) अष्टयाम सम्बन्धी जो पद लिखे थे उनमें किसी-न-किसी रूप में उनकी भक्ति भी निहित थी किन्तु शृङ्गारिक कवियों के तो राधा-कृष्ण ही लौकिक स्त्री-पुरुषों के रूप में परिवर्तित हो गये थे अतः उनके सम्बन्ध में भक्ति का प्रश्न ही कहाँ रह जाता है ?

रीतिकालीन सांगीतिक प्रवृत्तियाँ

रीतिकालीन काव्यगत प्रवृत्तियों के समानान्तर ही उस युग की सांगीतिक प्रवृत्तियाँ भी थीं। इस काल में जो संगीत सम्बन्धी लक्षण-ग्रन्थ लिखे गये उनके लेखक भी संस्कृत ग्रन्थों के वैसे ही अनुगामी थे जैसे इस युग के कवि, अतः उनमें भी मौलिकता का अभाव हो जाना स्वाभाविक था। रीतिकालीन कवि यदि काव्य के चमत्कार-प्रदर्शन में रत थे तो इस काल के संगीत में भी टप्पा तराना त्रिवट चतुरंग जैसी शैलियों का प्रचार हो गया था जिनमें चमत्कार प्रदर्शन की ही सुविधा अधिक थी। शृङ्गार का तो संगीत से युग-युग का सम्बन्ध है अतः रीतिकालीन संगीतज्ञों ने जिन भावाभिव्यक्तियों की रचना की उनमें भी नखशिख निरूपण नायिका-भेद अथवा षट्ऋतु इत्यादि की चर्चा जान बूझकर अथवा अनजाने ही हो गयी।

ख्याल गायकी का इस युग में अधिक प्रचार हो गया था। इस गायकी में छोटी-छोटी मुरकियों अथवा तानों के विभिन्न प्रकारों के समावेश से सांगीतिक कलाकारों की अभिरुचि में वृद्धि और चमत्कार-प्रदर्शन में अधिक सुविधा हुई, फलतः ध्रुपद की अपेक्षा ख्याल-गायकी जनरुचि के अधिक अनुकूल सिद्ध हुई। यद्यपि इस युग में बने हुए ख्यालों के बोल तत्कालीन शुद्ध साहित्यिक ब्रजभाषा के अनुरूप न थे तथापि इनमें अनेक स्थलों पर खड़ीबोली, पंजाबी, अवधी, राजस्थानी इत्यादि भाषाओं के शब्दों के साथ ब्रजभाषा के शब्द पर्याप्त मात्रा में दृष्टिगोचर होते हैं। यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि इन संगीतज्ञों द्वारा जो कविताएँ लिखी गयी हैं संगीतोपयोगी भावाभिव्यक्तियाँ हैं, रीतिसिद्ध कवियों की लिखी हुई कविताएँ नहीं अतः इनमें चाहे तत्कालीन कवियों जैसा रीति-चातुर्य परिलक्षित न हो किन्तु इन भावाभिव्यक्तियों में उस युग की काव्यगत मनोवृत्तियाँ पर्याप्त स्पष्ट दिखायी देती हैं।

रीतिकालीन काव्य और सांगीतिक प्रवृत्तियों का तुलनात्मक अध्ययन

रीतिकालीन साहित्यिक मनोवृत्तियों की तत्कालीन सांगीतिक मनोवृत्तियों से तुलना करने पर दोनों में अद्भुत साम्य परिलक्षित होता है। जहाँ तक आचार्यत्व का प्रश्न है, इस युग में अनेक संगीतज्ञ हुए जिन्होंने संगीत के शास्त्रीय पक्ष को लेकर मार्गी-देशी संगीत-भेद, स्वर, श्रुति, मेल, राग प्रभृति की सांगोपांग व्याख्या की।[1] तथापि रीतिकाल में लिखे संगीत सम्बन्धी ग्रन्थों की संख्या उस युग में प्रणीत काव्य-ग्रन्थों की संख्या से अत्यन्त न्यून है। इस कमी का मूल कारण संगीत और काव्य की अपनी-अपनी उपयोगिता है। संगीत अपनी मूल प्रकृति में क्रियात्मक ही अधिक है। उसे लेकर शास्त्रीय चर्चा करने वालों की संख्या प्रायः क्या सदैव ही कम रही है। संगीत की चर्चा छिड़ने पर लोग संगीतज्ञ के कण्ठ से निःसृत लय-तालात्मक स्वर-विन्यास के माधुर्य का ही आनन्द लेना चाहते हैं शास्त्रीय ऊहापोह का नहीं। रीतिकालीन राज्याश्रित गायक का सम्मान भी उसकी कला-चातुरी और कण्ठ-माधुर्य पर ही अवलम्बित था। दरबारों में संगीत था ही मनोरंजन का साधन। अधिकांश राजा महाराजाओं की न तो संगीत-शास्त्र-चर्चा में रुचि थी और न उन्हें उतना अवकाश। उन्हें तो बस संगीत के कलात्मक और ऐहिक रूप की चाह थी और उस युग का संगीतज्ञ उनकी इसी लालसा की परितृप्ति में रत था।

आचार्यत्व

निस्सन्देह ही रीतिकालीन परिस्थितियाँ उस युग के कवि और संगीतज्ञ दोनों ही को समान रूप से परिवेष्टित किये हुए थीं। प्रस्तुत प्रबन्ध के पाँचवें परिच्छेद में रीतिकालीन संगीत के सम्बन्ध में जो कुछ कहा गया है उससे उपर्युक्त रीतिकालीन काव्य प्रवृत्तियों की तुलना करने पर यह सुस्पष्ट हो जाता है कि इस युग के आचार्य कवि यदि संस्कृत ग्रन्थों के ऋणी थे तो आचार्य संगीतज्ञों पर भी अपने विषय से सम्बन्धित संस्कृत ग्रन्थों का आतंक विद्यमान था। भरत के *'नाट्यशास्त्र' में संगीत की जो चर्चा हो चुकी थी अथवा शार्ङ्गदेव ने संगीत* के शास्त्रीय पक्ष को लेकर जो कुछ लिखा था उसकी परिसीमाओं का

---

१ देखिए प्रस्तुत प्रबन्ध का दूसरा परिच्छेद

अतिक्रमण करके मौलिक उपस्थापना शायद ही किसी संगीतज्ञ ने की। अहोबल ने वीणादण्ड पर स्वरों का जो स्पष्टीकरण किया है वह आज ऐतिहासिक दृष्टि से भले ही महत्वपूर्ण हो परन्तु अहोबल ने अपनी दृष्टि से उस युग की एक साधारण और प्रचलित बात ही बतायी थी। सम्भवतः उसने यह सोचा भी न था कि इस सामान्य उल्लेख का कभी ऐतिहासिक महत्व भी होगा। वस्तुतः सन्त-शास्त्र की दृष्टि से उपलब्ध सभी प्राचीन तथ्य अपने युग के प्रायः ऐसे ही सामान्य उल्लेख हैं जिनके लेखकों ने उन्हें लिखते समय स्वप्न में भी उनके विशेष महत्वपूर्ण होने की परिकल्पना नहीं की थी। अहोबल ने यद्यपि नवीन स्वरनामों का उल्लेख किया है, किन्तु उल्लिखित अनेक विकृत स्वरों के नाम पुराने ही स्वरों के नये नाम मात्र हैं। अहोबल ने 'पारिजात' के रागाध्याय में इस तथ्य को स्पष्ट स्वीकार भी किया है। १

अहोबल पर लोचन की 'राग तरंगिणी' का भी प्रभाव प्रतीत होता है। आगे चलकर भावभट्ट ने वीणा-दण्ड पर स्वर-स्थापन के हेतु अहोबल के मार्ग का ही अनुसरण किया। उनके 'अनूप विलास' पर शार्ङ्गदेव का प्रभाव तो है ही साथ ही उन्होंने 'संगीत पारिजात' 'संगीत दर्पण' 'राग मंजरी' 'राग-तत्त्व विबोध' 'हृदय प्रकाश' इत्यादि ग्रन्थों से भी अनेक स्थलों पर उद्धरण उपस्थित किये हैं।

आन्ध्र-निवासी पण्डित सोमनाथ ने सन् १६१० ई० में 'राग विबोध' की रचना की थी। यह पुस्तक यद्यपि दाक्षिणात्य संगीत-पद्धति से सम्बन्धित है, तथापि इसके अध्ययन से यही विश्वास होता है कि सोमनाथ ने या तो उत्तर भारतीय संगीत-पद्धति का भी अध्ययन किया था या उत्तर भारत के संगीतज्ञों से उनका सम्बन्ध रहा होगा क्योंकि 'राग विबोध' के अनेक उल्लेख उत्तर भार

---

१ "रिषं पूर्वं तथा तीव्रं तीव्रतरं च गस्वरम्।
तीव्रतमं तथा मं च मं च तीव्रतरं तथा॥
पंच तीव्रतमं चैव पूर्वार्ध्यं तीव्रसंज्ञितम्।
तीव्रतरं निषादं च तीव्रतमं च निस्वरम्॥
इत्येतांश्च वय त्यक्त्वा रागलक्षण मोदितम्।
द्वादशभिर्विकाराख्यैः शुद्धैश्च सप्तभिः स्वरैः॥
एतैः कृत्वा प्रसिद्धा ये त एवात्र प्रकीर्तिताः॥"

'संगीत पारिजात' (रागाध्याय) श्लोक-संख्या ४६४–४६७

दीय संगीत-पद्धति से अतीव निकट सम्बन्ध रखते हैं। हुसैनी नवरोज़ ख़ौसस्त ईराक जैसे रागों का उल्लेख उपर्युक्त धारणा को और भी पुष्ट करता है। अन्य लक्षणकारों के समान इन्होंने भी परम्परागत बाईस श्रुतियों को स्वीकार किया है। श्रुतियों पर स्वर-स्थापन की रीति भी गतानुगतिक ही है। शार्ङ्गदेव ने वीणा दण्ड पर बाईस तारों की सहायता से श्रुति-निर्देश किया था किन्तु सोमनाथ ने अपनी वीणा के तारों के नीचे बाईस पर्दे लगाकर श्रुतियों को इंगित किया है। फिर भी इससे कोई तात्त्विक अन्तर उपस्थित नहीं होता। निश्चय ही भरत और शार्ङ्गदेव का प्रभाव सोमनाथ पर भी है क्योंकि श्रुतियों के स्थिरीकरण का आधारभूत सिद्धान्त उपर्युक्त प्रक्रिया से परिवर्तित नहीं होता।

सोमनाथ कृत 'राग विबोध' के लगभग तीस वर्षों बाद दक्षिण के ही एक अन्य विद्वान व्यंकटमखी पण्डित ने चतुर्दण्डिप्रकाशिका नामक ग्रन्थ की रचना की। भरत और शार्ङ्गदेव का प्रभाव इस रचना पर भी है तथापि दाक्षिणात्य संगीत की बारह स्वरों में निबन्धना और बहत्तर मेल कर्ताओं (ठाटों) की गणित-सिद्ध उपस्थापना व्यंकटमखी का वैशिष्ट्य है। किन्तु व्यंकटमखी के बहत्तर मेलकर्ताओं की मौलिकता गणित से पुष्ट होने पर भी व्यवहारतः उपयोगी सिद्ध न हो सकी। स्वयं व्यंकटमखी ने जब अपने मान्य रागों को उनके मेलों के अन्तर्गत वर्गीकृत किया तब बहत्तर ठाटों का मोह छोड़कर केवल उन्नीस का ही प्रयोग किया था।

सन् १७८१ ई० में तंजौर के महाराज तुलाजी राव भोंसले ने 'संगीत सारामृत' की रचना की। इसमें व्यंकटमखी का अनुसरण तो है ही शार्ङ्गदेव का प्रभाव भी निर्विवाद है। 'संगीत सारामृत' के स्वराध्याय में स्वर, श्रुति ग्राम मूर्छना जाति इत्यादि के विवेचन में शार्ङ्गदेव के 'संगीत रत्नाकर' की मान्यताओं का अनुकरण मात्र हुआ है अतः 'संगीत सारामृत' में भी मौलिकता का अभाव है। 'संगीत रत्नाकर' जहाँ तेरहवीं शताब्दी का ग्रन्थ है वहाँ 'संगीत सारामृत अठारहवीं शताब्दी की रचना है। इस दीर्घ अन्तराल में संगीत के क्रियात्मक स्वरूप में जो परिवर्तन उपस्थित होना सम्भाव्य है उसका समुचित व्याख्यापन 'संगीत सारामृत में भी नहीं हो सका है।

---

१ द्रष्टव्य A Comparative Study of some of the Leading Music Systems of the 15th 16th, 17th and 18th Centuries by Pandit V N Bhatkhande page-101 102

उपर्युक्त रचनाओं में से कुछ का उल्लेख इस प्रबन्ध के दूसरे तथा पाँचवें अध्याय में किया जा चुका है। शेष जिन कृतियों का यहाँ उल्लेख हुआ है वे प्रधानतः दाक्षिणात्य संगीत-पद्धति से सम्बन्धित हैं तथापि इन रचनाओं में उत्तरी हिन्दुस्तानी संगीत-पद्धति के अध्येताओं को भी उपयोगी बातें मिल जाती [redacted] अतः इनका अध्ययन उनके लिए भी उपादेय है। ये सभी रचनाएँ संस्कृत में हैं और इन्हीं के आधार पर उत्तर मध्यकालीन या रीतिकालीन संगीत के शास्त्रीय स्वरूप का अनुमान लगाया जा सकता है। आगे चलकर हिन्दी बंगला, उर्दू अंगरेजी आदि में जो पुस्तकें लिखी गयीं उनकी परम्परा इन्हीं ग्रन्थों से जुड़ जाती है। जयपुर के महाराज प्रतापसिंह देव ने (सन् १७७९ से १८०४) 'संगीत सार' नामक ग्रन्थ का निर्माण अपने युग के अनेक संगीताचार्यों द्वारा करवाया था किन्तु उस पर भी 'संगीत रत्नाकर' संगीत दर्पण 'संगीत पारिजात' 'अनूप विलास' इत्यादि पुराने ग्रन्थों का प्रभाव है। सन् १८८३ की रचना 'नगमाते आसफी' अपेक्षाकृत उपादेय है क्योंकि इसमें अपने प्रकाशन के युग के संगीत की चर्चा पर्याप्त है। 'नगमाते आसफी' की मान्यताओं में और आज की प्रचलित मान्यताओं में बहुत अधिक अन्तर नहीं है। इस पुस्तक में स्पष्ट रूप से शुद्ध ठाठ बिलावल माना गया है। सन् १८४२ ई० में कृष्णानन्द व्यास द्वारा 'राग कल्पद्रुम' नामक ग्रन्थ लिखा गया। इसका भी शुद्ध ठाठ बिलावल ही प्रतीत होता है। इस ग्रन्थ के प्रारम्भिक पृष्ठों में संगीत-शास्त्र की भी थोड़ी बहुत चर्चा हुई है, किन्तु इस चर्चा में 'संगीत रत्नाकर' के स्वराध्याय तथा 'संगीत दर्पण', 'रागमाला' इत्यादि ग्रन्थों में उल्लिखित सामग्री को ज्यों का-त्यों ग्रहण कर लिया गया है।

संगीत सम्बन्धी यह व्याख्यापन तो उन पुस्तकों का है जिनके लेखक प्रधानतः संगीत पर ही लिख रहे थे या जो स्वयं उच्च कोटि के संगीतज्ञ थे। इनके अतिरिक्त संगीत-शास्त्र पर कुछ ऐसी रचनाएँ भी उपलब्ध हैं जो वस्तुतः हिन्दी कवियों द्वारा लिखी गयीं किन्तु जिनकी रचना उन्होंने सम्भवतः मनोरंजन के लिए ही या फिर अपनी संगीत सम्बन्धी अभिरुचि की अभिव्यक्ति के लिए की थी अतः ऐसी रचनाओं में संगीत-सम्बन्धी तत्त्वाभिनिवेशी आलोचनात्मक उपस्थापना हो भी क्या सकती थी? देव कृत 'रागरत्नाकर' ऐसी ही रचना है। इस छोटी सी रचना पर भी दामोदर पण्डित का प्रभाव स्पष्ट है। कतिपय उदाहरण द्रष्टव्य हैं

'संगीत दर्पण'

भैरव का ध्यान

"गंगाधरः शशिकलातिलकस्त्रिनेत्रः
सर्पैर्विभूषिततनुर्गजकृत्तिवासाः ।
भास्वत्त्रिशूलकर एष नृमुण्डधारी
शुभ्राम्बरो जयति भैरव आदिरागः ॥" १

'राग रत्नाकर'

अथ भैरव राग सहित भार्या

दोहा

"भस्मभुजंग गंग डमरू कर धृतगज त्रिपुरारंग ।
मुण्डमालगजछालधर सीस जटा ससि गंग ॥

यथा क०

"बाम भगवान नीलकंठ कंठ मुण्डमाल भालचन्द्र पावक त्रिनैन करि राख्यो है ।
उज्ज्वल भसम अंग भुजगनि भूषन जटा मुकुट सुगंग भाल इन्दु धरि राख्यो है ।
तालधारी बैताल प्रमाथधारी शूल कर गावैं रागिनि मन उमंग पूरि राख्यो है ।
मुनि सरसमधै उमड़ गहौ बरस सरस मिमि मोर भैरौं रागसारि राख्यो है ॥" २

---

१ "जिसके मस्तक में से गंगा बहती है, कपाल पर चन्द्रकला का तिलक है। जिसके तीन नेत्र हैं। जिसके शरीर पर सर्प शोभायमान हैं। जिसने अपने शरीर पर हस्ति-चर्म धारण कर रखा है। जिसके हाथ में त्रिशूल शोभित है, गले में मुण्ड-माल है तथा जिसके वस्त्र श्वेत हैं। ऐसा आदि राग भैरव है।

दामोदर पण्डित कृत 'संगीत दर्पण'
(अनुवादक पं० विश्वम्भर नाथ भट्ट एम० ए० एम० एस० सी० 'संगीत विशारद') पृष्ठ-८१
प्रथम संस्करण १९५

२ देव कृत 'राग रत्नाकर' पृष्ठ-२ देव ग्रन्थावली प्रथम भाग, काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा १९१२ में प्रकाशित

'संगीत दर्पण'

भैरव की रागिनी भैरवी

ध्यान

स्फटिकरचितपीठे रम्यकैलासशृङ्गे
विकचकमलपत्रैरर्चयन्ती महेशम् ।
करधृतघनवाद्या पीतवर्णायताक्षी
सुकविभिरियमुक्ता भैरवी भैरवस्त्री ॥ १

'राग रत्नाकर'

भैरवी यथा दो०

भैरव पूजति मोदही रागिनि भैरवि बाल ।
कमलमुखी कमलासनी कोमलांग पट लाल ॥ २

यथा सवैया

कौन है नैन कमलनिधि सो मुख कोमल कामलता मुसकानी ।
देह रमा प्योनगीतोरंगी पट लाल लसै सिर सास सुहानी ॥
ताल उभय कर कर रसाय पुजवति है छविमान भवानी ।
धारत ज्यों निधि सागर मोदहि रागनि भैरव राग की रानी ॥ ३

---

१ "रमणीय कैलास पर्वत के शिखर पर स्फटिक मणि के आसन पर बैठ कर, खिले हुए कमल के फूलों से जो महादेव जी का पूजन करती है। जिसके हाथ में घनवाद्य (मंजीरे) हैं। जिसका वर्ण पीला है तथा जिसके नैन विशाल हैं ऐसी भैरव की भार्या भैरवी कवियों ने वर्णन की है।"

दामोदर पंडित कृत 'संगीत दर्पण' पृष्ठ-८५, ८६

२. 'राग रत्नाकर' पृष्ठ-६

३ 'राग रत्नाकर' पृष्ठ-६

'संगीत दर्पण'

भैरव का ध्यान

'गंगाधरः शशिकलातिलकस्त्रिनेत्रः
सर्पैर्विभूषिततनुर्गजकृत्तिवासाः ।
भास्वत्त्रिशूलकर एष नृमुण्डधारी
शुभ्राम्बरो जयति भैरव आदिरागः' ॥ १

'राग रत्नाकर'

अथ भैरव राग सहित भार्या

दोहा

"भस्मभुजग अंग डमरू कर सुलसम तियपरसंग ।
मुण्डमालगजछालधर सीस जटा ससि गंग ॥"

यथा क०

"बाम अंगबाल नीलकंठ कंठ मुण्डमाल गानुपम पावक त्रिनैन करि राख्यो है।
उज्जवल भसम अंग सुमनि भुजंग जटा मुकुट सुगंग माथ इन्दु धरि राख्यो है।
तालधारी बैताल प्रमाणधारी भूत करें नाचें जोगिनि पग डमरू पूरि राख्यो है।
धुनि सरसमें बरस नाहीं बरस बरस भिभि मोर भैरों रागधरि राख्यो है ॥" २

---

१ "जिसके मस्तक में से गंगा बहती है, कपाल पर चन्द्रकला का तिलक है। जिसके तीन नैन हैं। जिसके शरीर पर सर्प शोभायमान हैं। जिसने अपने शरीर पर हस्ति-चर्म धारण कर रखा है। जिसके हाथ में त्रिशूल शोभित है, गले में मुण्ड-माल है तथा जिसके वस्त्र श्वेत हैं। ऐसा आदि राग भैरव है।

दामोदर पण्डित कृत 'संगीत दर्पण'
(अनुवादक पं० विश्वम्भर नाथ भट्ट एम० ए० एल० एल० बी० 'संगीत विशारद') पृष्ठ-८१
प्रथम संस्करण १९५०

२ देव कृत 'राग रत्नाकर' पृष्ठ-२ देव ग्रन्थावली प्रथम भाग काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा १९१२ में प्रकाशित

'संगीत दर्पण'

भैरव की रागिनी भैरवी

ध्यान

स्फटिकरचितपीठे रम्यकैलासशृङ्गे
विकचकमलपत्रैरर्चयन्ती महेशम् ।
करधृतघनवाद्या पीतवर्णायताक्षी
सुकविभिरियमुक्ता भैरवी भैरवस्त्री ॥ १

'राग रत्नाकर

भैरवी यथा दो०

भैरव पूजति गौरही रागिनि भैरवि नाम ।
कमलमुखी कमलासनी कोमलांग पट लाल ॥ २

यथा सवैया

कौल से नैन कलानिधि सो मुख कोमल कामलता मुसकानी ।
बैस उमा प्योधनीओरमी पट लाल लसै सिर लाल सुहानी ॥
ताल समय कर कर रसाल मृदुगति है सविभाव भवानी ।
सारद ज्यों निसि सारद गौरहि रागति भैरव राग की रानी ॥ ३

---

१ "रमणीय कैलाश पर्वत के शिखर पर स्फटिक मणि के आसन पर बैठ कर, खिले हुए कमल के फूलों से जो महादेव जी का पूजन करती है। जिसके हाथ में घनवाद्य (मंजीरे) हैं। जिसका वर्ण पीला है तथा जिसके नेत्र विशाल हैं ऐसी भैरव की भार्या भैरवी कवियों ने वर्णन की है।"

दामोदर पंडित कृत 'संगीत दर्पण' पृष्ठ-८८, ८६

२ 'राग रत्नाकर' पृष्ठ-३
३ 'राग रत्नाकर' पृष्ठ-३

'संगीत दर्पण'

भैरव की रागिनी बराटी

ध्यान

चिनाश्यन्ती दयितं सुकेशी
सुकंकणा चामरचालनेन ।
कर्णे दधाना सुरवृक्षपुष्पं
वरांगनेयं कथिता वराटी ॥१

'राग रत्नाकर'

बराटी दो०

पहर तीसरे सरद निसि बैराटी अरु काल ।
गोरी सित भूषन बसन पुनपुन करत हलाल ॥ २

सवैया

राजत गौरी मही मनके अंग कंचन से सित कंचुकी छावै ।
चीरने कन छुरी मनकें मुख की उपमा ससि की छवि लावै ॥
धारत धीम मम्मानु के ऊपर चापि चमी सी रंगी सुलछावै ।
और मिले कर कंकनभूषन भैरव प्यारी बराटी विरावै ॥ ३

---

१ "जिसके प्राण अत्यन्त सुशोभित हैं। जिसके हाथ में कंकण है। जो अपने प्रिय स्वामी को चमर डुलाकर प्रसन्न करती है जिसने अपने कानों में देवलोक के वृक्ष के पुष्प धारण किये हैं ऐसी वरांगना बराटी कही गयी है।

दामोदर पण्डित कृत 'संगीत दर्पण' पृष्ठ-८७

२ 'राग रत्नाकर, पृष्ठ-३

३ 'राग रत्नाकर, पृष्ठ-३

'संगीत दर्पण'

मालवकौशिक की रागिनी तोड़ी

ध्यान

तुषारकुन्दोज्ज्वलदेहयष्टिः ।
काश्मीरकर्पूरविलिप्तदेहा ।
विनोदयन्ती हरिणं वनान्ते ।
वीणाधरा राजति तोडिकेयम् ।। १

'राग रत्नाकर'

टोडी दो०

मृगनैनी मोहति मृगनि रायति लै कर बीन ।
सम्पूरन सुपहर सिसिर टोड़ी कनक रचीन ॥ २

यथा क०

घोसर चमेली चारु हाथ नीलकंचुकी पै ऊपरे विविध बास हास रस रौन की ।
मोहनि मृगनि मृगनैनी परवीन बास सोन कर बीन बाम बौनें हिय हौन की ॥
सम्पूरन मोद सुख भरिमनज्योतनी के देखौति दुति मधुर दामिनी ज्यौं घट मौनकी ।
सिसिर पहर दूजे मासद मधुर का यौवन सम्मारी प्यारी टोड़ी मालकोस की ॥ ३

'संगीत दर्पण'

मेघ राग की रागिनियाँ

मल्लारी देशकारी च भूपाली गुर्जरी तथा ।
टंका च पंचमी भार्या मेघरागस्य योषितः ॥ ४

---

१ "जिसकी देह का वर्ण कुन्द अथवा बर्फ के समान निर्मल स्वच्छ और श्वेत है । जिसने केशर तथा कपूर की सुगन्धि से शरीर का मर्दन किया है । जो वन में मृगों से विनोद करती है । जिसने अपने हाथ में वीणा ले रखी है । ऐसी शोभामयी कौशिक की भार्या तोड़ी है ।"

दामोदर पण्डित कृत 'संगीत दर्पण' पृष्ठ-८१ ९०

२ 'राग रत्नाकर' पृष्ठ-६

३ 'राग रत्नाकर' पृष्ठ-६

४ "मल्लारी देशकारी भूपाली गुर्जरी तथा टंकी ये पाँच मेघ राग की भार्याएं हैं ।"

दामोदर पण्डित कृत 'संगीत दर्पण' पृष्ठ-७१

'राग रत्नाकर'

अथ मेघभार्या को

मल्लारी अरु गूजरी भूपाली अभिराम ।
देसकारि, अरु टक्क कहि पञ्च मेघतिय नाम ॥ १

'संगीत दर्पण'

दीपक की रागिनी कानड़ी

ध्यान

कृपाणपाणिर्गजदन्तखण्ड—
मेकं वहन्ती निजहस्तकेन ।
संस्तूयमाना सुरचारणौघैः ।
सा कानडेयं किल दिव्यमूर्तिः ॥ २

'राग रत्नाकर'

कान्हरो यथा दो

दन्तिदन्त करवाल अरु लिए सुंदर बाल ।
ग्रीषम दुपहर कान्हरो सुभट सेत पट माल ॥ ३

कवित्त

चन्दनतिलक भाल शोभ कर बाल गजदन्त करवाल लीन्हें बीरके बिमानरी ।
ग्रीषम पहर धूम रज्जन नि छाग म पै पैन्हें भाल बाको बन्यो सम्पूरन गानरी ॥
प्रेम परबंपरबसाय गुन संचरत प्रमनि सुमन मरु मधुर मिलानरी ।
मुनि मुएठाम को न लागत बिठाल कान कोबिद सराही परे कान सुनि कान्हरी ॥४

---

१ "राग रत्नाकर, पृष्ठ-१७

२ "जिसके हाथ में खड्ग है । जिसने हाथी के दाँत का एक टुकड़ा हाथ में ले रखा है । देवतागण व चारण जिसकी स्तुति गाते हैं । कानड़ा की ऐसी दिव्य मूर्ति है ।"

दामोदर पण्डित कृत 'संगीत दर्पण', पृष्ठ-१ १

३ 'राग रत्नाकर' पृष्ठ-१३

४ 'राग रत्नाकर' पृष्ठ-१४

इन उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि देव ने 'राग रत्नाकर' में प्राय: दामोदर पण्डित का ही अनुसरण किया है। कहीं कहीं थोड़ा बहुत अन्तर है वह देव की काव्य-प्रतिभा के कारण उपस्थित हुआ है। उदाहरणार्थ 'संगीत दर्पण' में कामोदी का जो ध्यान है उसमें 'मृगमद तिलक भाल' का उल्लेख नहीं है किन्तु 'राग रत्नाकर' में इसका वर्णन है। दामोदर पण्डित ने मराठी के 'उज्ज्वल चीर' और 'सित कंचुकी' की चर्चा नहीं की है किन्तु देव ने काव्योचित रसिकता से इसका उल्लेख किया है। देव की प्रतिभा ने विभिन्न रागों में अपने अपने सौष्ठव से प्रयुक्त होने वाले म प ध नि सा रे ग म प ध नि नि सा ग म प इत्यादि स्वर-समुदायों का तथा ज्योतनी[1] सुरन में ज्योतनी[2] नि सा ग म प[3] इत्यादि विशिष्ट रूपों में चमत्कारपूर्ण अभिव्यंजना की है। किन्तु इन सामान्य परिवर्तनों से प्रतिपाद्य विषय में कोई तात्त्विक अन्तर उपस्थित नहीं होता।

'नाद विनोद ग्रन्थ' में भी प्राचीनता के प्रति अनावश्यक मोह की मनोवृत्ति दिखायी देती है। इस ग्रन्थ की रचना गोस्वामी पन्नालाल द्वारा संवत् १९२२ में हुई थी। प्रस्तुत प्रबन्ध का सम्बन्ध संवत् १७०० से लेकर संवत् १९०० तक के रीतिकालीन काव्य और संगीत से है परन्तु युग-परिवर्तन कभी किसी यान्त्रिक क्रिया के समान नहीं हुआ करता। जिस प्रकार संवत् १९०० के पश्चात् हरिश्चन्द्र-युग रीतिकाल और आधुनिक काल के बीच का संक्रान्ति काल है तथा उसमें अनेक नवीन बातों के साथ पुरानी परम्परा भी मिली हुई दृष्टिगोचर होती है उसी प्रकार गोस्वामी पन्नालाल जी का समय रीतिकालीन संगीत और आधुनिक युगीन संगीत के बीच संक्रान्ति काल माना जा सकता है। इस प्रकार 'नाद विनोद ग्रन्थ' की संगीत सम्बन्धी अनेक मान्यताएँ रीतिकालीन सांगीतिक प्रवृत्तियों के अध्ययन में सहायक सिद्ध होती हैं। 'नाद विनोद ग्रन्थ' का आरम्भ भैरव राग के 'ध्यान' से होता है और यह 'ध्यान' 'संगीत दर्पण' से ही उद्धृत

---

१ "देव उमा ज्योतनी सो रंगी पट लाल लसैं सिर लाल सुहानी"।
देव कृत, 'राग रत्नाकर' पृष्ठ-३

२ "सोहै सुरंग में ज्योतनी को मनु हेरति प्रेम सरोज ललामैं"।
देव कृत 'राग रत्नाकर', पृष्ठ-४

३ "और समय आवति न आवति निसा अन्त सिसिर प्रभात
पुलकारी फुलकारी हैं"।
देव कृत, 'राग रत्नाकर' पृष्ठ-७

है, किन्तु ग्रह, अंश, न्यास इत्यादि का वर्णन 'संगीत दर्पण' से भिन्न है। 'संगीत दर्पण' का भैरव धैवत ग्रह, अंश और न्यास से युक्त है, रि प वर्जित ओडव जाति का राग है। १ किन्तु 'राग विनोद ग्रन्थ' के लेखक ने भैरव का ग्रह, अंश और न्यास स्वर गान्धार मानते हुए 'हनुमत् मत' की पुष्टि की है। २ लेखक के मतानुसार यह राग रामकली, टोड़ी और गौरी से भिन्न होकर षाडव (षाडव) जाति का राग है। ३ इस कथन के उल्लेख के पश्चात् 'नाद विनोद ग्रंथ' का लेखक जब उदाहरणस्वरूप अपने भैरव राग की स्थाई और अन्तरा उपस्थित करता है तब भैरव में सातों स्वरों का स्पष्ट प्रयोग दृष्टिगोचर होता है। ४

अस्तु स्पष्ट है कि 'नाद विनोद ग्रंथ' के लेखक के युग में भी भैरव न तो 'संगीत दर्पण' के अनुरूप ओडव जाति का राग था और न षाडव। उस समय भी यह आज के ही समान सम्पूर्ण जाति का राग था परन्तु अपने युग के भैरव का उदाहरण देते हुए भी प्राचीनता के व्यामोह के कारण लेखक ने

---

१ भैरव

"धैवतांशग्रहन्यासो रिपहीनतया मतः ।
भैरवः स तु विज्ञेयो धैवतादिकमूर्च्छनः ।
विकृतो धैवतो यत्र औडवः परिकीर्तितः ॥"

"भैरव राग में 'धैवत' स्वर अंश, ग्रह, न्यास है। 'रि प' स्वर वर्जित हैं। धैवत की मूर्च्छना में से उत्पन्न होता है। इसमें विकृत धैवत लिया जाता है और यह राग औडुव है।

दामोदर पण्डित प्रणीत 'संगीत दर्पण' पृष्ठ-८३

२ "भैरव राग का गांधार अंश, गांधार ग्रह है, गांधारी ही न्यास है, गांधारी ही सुर की पूरी मूर्च्छना है प्रातःकाल को गाया जाता है हनुमान मत में कहा है—"

गोस्वामी पन्नालाल कृत 'नाद विनोद ग्रंथ' पृष्ठ-१

३ "रामकली, टोड़ी, गौरी इनसे मिलकर बना है, शुद्ध धैवत से शोभित करता हुआ षाड़व भैरव है।"

गोस्वामी पन्नालाल कृत, 'नाद विनोद ग्रंथ' पृष्ठ-२

४ द्रष्टव्य: गोस्वामी पन्नालाल कृत 'नाद विनोद ग्रन्थ'

पृष्ठ-२, ३ भैरवराग का स्थायी और अन्तरा

उल्लेख प्राचीन लक्षणों का ही किया है। वस्तुतः रीतिकालीन प्रायः सभी संगीत शास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थ ऐसे ही हैं जिनमें प्राचीन संगीत-शास्त्र की संक्षिप्त रूप रेखा दी जा गयी है किन्तु इन ग्रन्थों के लेखक अपने और अपने पूर्ववर्ती क्रियात्मक संगीत के विवेचनात्मक सामंजस्य के आधार पर अपने युग के संगीत शास्त्र का स्पष्ट आधार खड़ा नहीं कर सके हैं। इस प्रकार संगीत-शास्त्र में भी ऐसी ही रूढ़िमूलक व्यवस्था का समावेश हो गया जैसा रीतिकालीन हिन्दी काव्य-शास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थों में परिलक्षित होता है। इस युग में उर्दू या फारसी में संगीत सम्बन्धी जो ग्रन्थ लिखे गए उनमें भी भरत और शार्ङ्गदेव की पद्धति के अनुसरण का प्रयास हुआ किन्तु प्राचीन आचार्यों के सिद्धान्तों को भलीभाँति हृदयंगम किये बिना उन सिद्धान्तों का अपने युग के प्रचलित संगीत से बलात् सम्बन्ध-स्थापन करने का प्रयास एक ऐसी भूल थी जिसके कारण तत्कालीन अधिकांश ग्रन्थों में अवांछनीय अस्पष्टता आ गयी।

रीतिकालीन संगीत के लक्षण-ग्रन्थों और लक्ष्य संगीत में असम्बद्धता के एक नहीं अनेक कारण हैं। सबसे प्रमुख कारण तो यही है कि संगीत-शास्त्र का सांगोपांग, सुस्पष्ट, तर्कसम्मत और बोधगम्य व्याख्यापन जैसा गद्य में हो सकता है वैसा पद्य में नहीं किन्तु रीतिकालीन काव्य शास्त्र की तरह संगीत-शास्त्र की भी चर्चा पद्य में ही हो रही थी फलतः संगीत-शास्त्र में ईप्सित सुबोधता न आ सकी। 'नाट्यशास्त्र' और 'संगीत रत्नाकर' जैसे ग्रन्थों के आतंक के कारण तत्कालीन संगीताचार्यों की मौलिकता को भी पनपने का अवसर नहीं मिल सका। इसके अतिरिक्त लक्षण-ग्रन्थ-लेखकों और लक्ष्य-निर्माताओं के पृथक-पृथक व्यक्तित्व के कारण भी अभीप्सित सामंजस्य उपस्थित न हो सका। संगीत-शास्त्र पर लिखने वाले तत्कालीन अधिकांश लेखक अपने विषय के शास्त्रीय पक्ष का तो यथाशक्ति प्रतिपादन कर रहे थे परन्तु प्रतिपाद्य लक्षणों के उदाहरण स्वरूप आक्षिप्तिकाओं की प्रभूत रचना प्रायः नहीं करते थे। आक्षिप्तिकाओं की रचना उस युग के ख्यातिनामा गायकों द्वारा होती थी। इस प्रकार उस युग के संगीतज्ञों और संगीत को भी स्थूल रूप से दो वर्गों में विभक्त मानना युक्तियुक्त प्रतीत होता है। एक वर्ग उन पण्डितों का था जिनका मुख्य ध्येय सैद्धान्तिक या शास्त्रीय विवेचन था दूसरा वर्ग था उन गायकों का जिनमें से अधिकतर अशिक्षित होने के कारण शास्त्रीय ऊहापोह से तटस्थ रहकर आक्षिप्तिकाओं की रचना करते हुए संगीत की क्रियात्मक साधना में तल्लीन थे। मियाँ गुलाम रसूल जाफर खाँ, मक्खन खाँ, मियाँ शोरी, सदारंग, अदारंग,

मोहम्मद शाह रंगीले नवाब सासर पंथ नवाब कासिम अली खाँ प्रभृति उच्च कोटि के संगीतज्ञ इसी वर्ग में आते हैं किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि वे कलाकार संगीत के शास्त्रीय पक्ष से सर्वथा अनभिज्ञ थे। परम्परा से गायक होने के कारण या योग्य गुरु के शिष्य होने के कारण इन्हें संगीत के शास्त्रीय पक्ष का भी ज्ञान था किन्तु इनका यह क्षेत्र संगीत के शास्त्रीय पक्ष का निरूपण न था। इन्हें रीतिकालीन उन कवियों की श्रेणी का कलाकार कहना चाहिए जो लक्षण-निरूपण और तदनुसार उदाहरण-प्रणयन के झगड़े में न पड़कर स्वेच्छा से कविताएँ लिख रहे थे परन्तु जिनकी रचनाएँ निश्चय ही किसी न किसी लक्षण के उदाहरणस्वरूप रखी जा सकती थीं। जिस प्रकार काव्य-शास्त्र से अनभिज्ञ पाठक के लिए उन कवियों की रचनाओं का पूर्ण रसास्वादन सम्भव नहीं है उसी प्रकार उन गायकों की कला भी संगीत-शास्त्र से अपरिचित श्रोता के लिये नहीं है। इस प्रकार की अनेक पुरानी रचनाएँ बिना स्वर लिपि के 'रागकल्पद्रुम' में तथा स्वरलिपि सहित 'हिन्दुस्तानी संगीत-पद्धति क्रमिक पुस्तक मालिका' के विभिन्न भागों में संगृहीत हैं।[1]

रीतिकालीन काव्य और संगीत के तुलनात्मक अध्ययन में वस्तुतः यही वह स्थल है जहाँ संगीत और काव्य की अपनी-अपनी विशेषताओं के कारण सबसे प्रबल व्याघात उपस्थित होता है। रीतिकालीन काव्य आज भी अपने लिखित रूप में उपलब्ध है परन्तु उस युग के क्रियात्मक संगीत का वास्तविक लेखा-जोखा उपलब्ध नहीं हो सकता। काश उस युग का संगीत ग्रामोफ़ोन रिकार्ड जैसे किसी साधन द्वारा सुरक्षित कर लिया जाता या वर्तमान युग की तरह स्पष्टतः बोधगम्य स्वरलिपि द्वारा उसे किसी सीमा तक आबद्ध कर लिया जाता तो आज उस युग के क्रियात्मक संगीत के प्रत्यक्ष नादात्मक स्वरूप को

---

१ 'हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति' में जो ध्रुपद ख्याल तराने इत्यादि दिये गए हैं उनमें से कुछ तो आचार्य भातखण्डे द्वारा बनाए हुए हैं तथा कुछ उनके प्रमुख शिष्यों द्वारा निर्मित हैं, किन्तु अधिकांश ध्रुपद धमार, ख्याल इत्यादि पुराने उस्तादों के रचे हुए हैं। विभिन्न घरानों के गायक अभी तक उन बन्दिशों की अपनी परंपरा की रक्षा करते हुए गाते रहते हैं। इस प्रकार उपर्युक्त पुस्तक में प्रायः सभी प्रमुख घरानों के ख्याल इत्यादि संगृहीत हो गये हैं। यही कारण है कि इस शोध-प्रबन्ध में प्रायः इसी पुस्तक से स्वरलिपियाँ उद्धृत की गयी हैं।

—लेखिका

समझने में इतनी कठिनाई न होती। कृष्णानन्द व्यास का 'राग कल्पद्रुम' निश्चय ही भारतीय संगीत का विश्वकोश माना जा सकता है, परन्तु उस में ध्रुपद, ख्याल, ठुमरी, तराना प्रभृति का संग्रह होने पर भी उन गीतों की तात्कालिक नादात्मक निबद्धता को समझने का कोई साधन अब शेष नहीं रह गया है। स्वरलिपिकारों को गीत ताल स्वर इत्यादि के साथ एक सीमा तक स्वरलिपि में आबद्ध करने की प्रणाली पर्याप्त आधुनिक है। अस्तु 'कल्पद्रुम' में किसी भी स्वरलिपिका की स्वरलिपि नहीं मिलती। ऐसी दशा में पुरानी परिपाटी के गायकों से मौखिक रूप में परम्परा से प्राप्त उन गीतों की जो नादात्मक निबद्धता उपलब्ध होती है उसी का अवलम्ब ग्रहण करके आगे बढ़ना पड़ता है या फिर 'मारिफुन्नग़मात' (राजा नवाब अली कृत) 'हिन्दुस्तानी संगीत-पद्धति क्रमिक पुस्तक मालिका' जैसी पुस्तकों में पुराने गीत जिस रूपरेखा में मिल जाते हैं उन्हीं को आधार मानना पड़ता है। तथापि यह तो निश्चित ही है कि दीर्घकाल से गुरु-शिष्य की परम्परा में मौखिक रूप में चले आते रहने के कारण इनकी मूल नादात्मक निबद्धता एकान्ततः अक्षुण्ण नहीं मानी जा सकती। 'राग कल्पद्रुम' अब मात्र ऐतिहासिक महत्त्व का ग्रन्थ रह गया है। उसमें संगृहीत गीतों को राग-तालबद्ध क्रियात्मक संगीत का व्यावहारिक रूप प्रदान करने के लिये ऐसा ही प्रयास आवश्यक है जैसा सूर तुलसी मीरा इत्यादि के पदों को गाने के लिए अपरिहार्य है। १

---

१ सूचना — गीतों के सम्बन्ध में राग और ताल निर्देश मिल जाने पर थोड़ी बहुत सुविधा हो सकती है अन्यथा गीतों को लेकर गायक को यह सोचना पड़ता है कि —

१ कविता किस रस की है और उसके रसानुकूल कौन सा राग उपयुक्त होगा।

२ प्रयुक्त राग का स्थूल स्वरूप क्या है।

३ स्थायी में राग का उठाव कैसे होगा।

४ अन्तरे में राग का उठाव कैसे होगा।

५ ग्रह अंश और न्यास स्वरों के निर्वाह के लिए क्या करना उचित होगा। (इस नियम का आजकल पूर्णतः से पालन नहीं होता तथापि अंश स्वर का महत्त्व प्रायः यथावत है)

शार्ङ्गदेव ने 'संगीत रत्नाकर' में वाग्गेयकार का उल्लेख करते हुए जो कुछ कहा है वह आज भी अधिकांश में सत्य है। वाग्गेयकार के लिए संगीत का पूर्ण ज्ञान तो आवश्यक है ही काव्य-ज्ञान भी किसी सीमा तक अपरिहार्य है।[1]

---

६ गीत के शब्दों का राग के स्वरों से किस प्रकार सामंजस्य स्थापित होगा।

७ कविता के भावों के अनुसार उसके भिन्न-भिन्न शब्दों के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार की स्वर-रचना उपयुक्त होगी।

८ ताल के कौन-कौन से आघातों के साथ गीत के कौन-कौन से भावों का सम्बन्ध स्थापित होगा। —लेखिका

[1] आचार्य भातखण्डे ने 'संगीत रत्नाकर' (शार्ङ्गदेव) के आधार पर 'हिन्दुस्तानी संगीत-पद्धति क्रमिक पुस्तक मालिका' के चौथे भाग में (पृष्ठ-४४ ४५,४६, संस्करण १९५७) वाग्गेयकार की इन विशेषताओं का उल्लेख किया है:

"१ शब्दानुशासन ज्ञान २ अभिधान प्रवीणता (अमर कोषादि ग्रन्थों का ज्ञान), ३ छन्द प्रभेदवेदित्व (सब प्रकार के छन्दों का ज्ञान) ४ अलंकार-कौशल ५. रस भाव परिज्ञान ६. देश-स्थिति-ज्ञान (भिन्न भिन्न देशों में प्रचलित संगीत की रीतियों का ज्ञान) ७ अशेष भाषा ज्ञान ८ कला-शास्त्र कौशल ९. गीत वाद्य और नृत्य में चातुर्य १० सुशारीरशालिता (रागाभिव्यक्ति में क्लान्ति प्रतीत न होना और सौम्य व्यक्तित्व) ११ लय ताल कला-ज्ञान १२ अनेक काकु-ज्ञान (स्वर काकु राग काकु देश काकु क्षेत्र काकु अन्य राग काकु यंत्र काकु—इन भेदों का ज्ञान) १३ प्रभूत प्रतिभोद्भेदभाक्त्व (नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा) १४ सुभग गेयता (सुन्दर गायन करने की शक्ति) १५. देशी राग ज्ञान, १६. वाक् पटुत्व (सभा में विजय प्राप्त कराने वाला वाक्-चातुर्य) १७ राग-द्वेष परित्याग १८ सार्द्रत्व (सरसत्व), १९. उचितज्ञता (औचित्य-विचार) २० अनुच्छिष्टोक्ति-निर्बन्ध (स्वतन्त्र रचना करने की शक्ति) २१ नूतनधातु-विनिर्मितिज्ञान (नवीन स्वर-रचना करने का ज्ञान) २२. परचित्त परिज्ञान २३ प्रबन्ध प्रगल्भता २४ द्रुतगीतविनिर्माण (शीघ्र कवित्व) २५. पदान्तर विदग्धता (भिन्न-भिन्न गीतों की छाया के अनुकरण करने की सामर्थ्य) २६. त्रिस्थानगमकप्रौढ़ि (तीनों स्थानों में गमक लेने की शक्ति) २७ आलप्तिनैपुण्य (रागालप्ति तथा रूपकालप्ति का ज्ञान) २८ अवधान (चित्त की एकाग्रता)।"

भक्तिकाल की कविता में भी ठीक ऐसा ही अन्तर दृष्टिगोचर होता है। भक्ति कालीन कवियों में यदि भावपक्ष प्रबल है तो रीतिकालीन कवियों का कलापक्ष अधिक सबल है।

रीतिकालीन काव्य और संगीत के इस तुलनात्मक अध्ययन से दोनों की मूल प्रवृत्तियों में साम्य सुस्पष्ट हो जाता है। शृङ्गार रस का प्राधान्य और चमत्कार प्रदर्शन की रुचि तो तत्कालीन संगीत और काव्य दोनों ही में समान रूप से मुखर है। इस युग का काव्य अपने बाह्य रूप-आकार में भी संगीत से सम्बन्ध रखता है अतः अगले परिच्छेद में तत्कालीन छन्द और अलंकार-योजना का संगीत की दृष्टि से विचार करना समीचीन होगा।

उपर्युक्त विवेचन के परिणामस्वरूप ये निष्कर्ष उपलब्ध होते हैं

१ काव्य में भावपक्ष और कलापक्ष दोनों ही अपरिहार्य हैं तथा काव्य की सौंदर्य-साधना में संगीत अतीव सहायक होता है।

२ रीतिकालीन विभिन्न काव्य प्रवृत्तियों के समानान्तर ही उस युग की विभिन्न सांगीतिक प्रवृत्तियाँ भी थीं।

३ रीतिकालीन संगीतज्ञों की सांगीतिक निबन्धनाओं में चाहे वद-काव्य-माधुरी और उस युग की रीति-चातुरी के दर्शन न हों परन्तु तत्कालीन काव्यगत प्रवृत्तियाँ उन में भी स्पष्टतः दृष्टिगोचर होती हैं।

४ उस युग की परिस्थितियाँ तत्कालीन कवि और संगीतज्ञ दोनों ही को समान रूप से परिवेष्ठित किये हुए थीं।

दिखाई का प्रदर्शन बुद्धि का कौशल ही तो है। आलाप की सी स्निग्ध गम्भीरता यहाँ कदापि नहीं मिलेगी। यह चमत्कार-प्रदर्शन भी बड़ा आनन्द प्रद होता है। तथापि यह ध्यान रखना चाहिए कि चमत्कार-प्रदर्शन की धुन में हृदय पक्ष का पाता न घोंट दिया जाय। कुछ गायक ऐसे भी मिलेंगे जो चार-पाँच मिनट आलाप करके झट तानबाजी पर उतर आते हैं। इससे उनका पाण्डित्य-प्रदर्शन तो अवश्य हो जाता है, किन्तु हृदय पक्ष का व्यक्तीकरण न होने से गाने में रस नहीं आ पाता।"

पं विश्वम्भर नाथ भट्ट कृत 'संगीत प्रवेशिका'
पृष्ठ-२८, २९ द्वितीय संस्करण

५ रीतिकालीन आचार्य-कवियों के समान उस युग के संगीतशास्त्रियों पर भी अपने विषय से सम्बन्धित संस्कृत ग्रन्थों का आतंक विद्यमान था फलतः उनमें भी मौलिकता का अभाव रहा।

६ रीतिकालीन काव्य की तरह उस युग के संगीत में भी शृङ्गारिकता और चमत्कार-प्रदर्शन का प्राधान्य हो गया था।

७ रीतिकालीन सांगीतिक रचनाओं के गीतों में भी उस युग की कविता की तरह प्रायः नायिका-भेद नख-शिख ऋतु-वर्णन इत्यादि की ही चर्चा अधिक हुई है।

परिच्छेद-७

रीतिकालीन छन्द और अलकार-योजना

का

सगीत से सम्बन्ध

रीतिकालीन छन्द और अलंकार-योजना

का

संगीत से सम्बन्ध

परिच्छेद-७

विश्व-वाङ्मय का अधिकांश छन्दोबद्ध है और इसमें सन्देह नहीं कि छन्दात्मक निबद्धता का आधार संगीत-शास्त्र ही है। पाश्चात्य समीक्षकों ने जब कविता को संगीतात्मक विचार अथवा मानव-हृदय के आवेगों की संगीतमय भाषा में अभिव्यक्ति स्वीकार किया था तब कविता के छन्दोबद्ध सौष्ठव और उसके लयात्मक प्रवाह को भी वे भूले न थे।१ संगीत और काव्य के पारस्परिक सम्बन्ध के स्पष्टीकरण में छन्द का अध्ययन अनिवार्य रूप से सहायक होता है। मानव आदि-काल से अपने हृदय की तीव्र रागात्मक अनुभूति को संगीतमय भाषा में ही अभिव्यक्त करता आया है। हृद्गत उल्लास के अन्तस् में समा न सकने के कारण वह अवश्य ही नाच उठा होगा और शोकाभिभूत होने पर उसकी वाणी की आर्द्रता एवं पद-संचार की शिथिलता भी इसी प्रकार सुस्पष्ट रही होगी।२ मानव की इसी मानसिक और शारीरिक दशा में वे बीज छिपे पड़े थे जो

---

१ (क) An Anthology of Critical Statements by T Carlyl Page-81

(ख) (Poetry is) the concrete and artistic expression of the human mind in emotional and rhythmical language"

—Watts Dunton Poetry" in Encyclopaedia Britannica (Ninth Edition) Page-83

(कविता) "आवेगप्रवण तथा लयमय भाषा में मनोभावों का मूर्त एवं कलापूर्ण प्रकाशन है।"

२ " and first from the origin of metre This I would trace to the balance in the mind effected by that spontanious effort which strives to hold in check the working of passion"

— Biographia Literaria by Coleridge Page 196 (Edition 1939)

कालान्तर में अंकुरित होकर मानव भावाभिव्यक्ति के लिए काव्य और संगीत के सहज माध्यम के रूप में पल्लवित हो उठे। १

मानव की लयात्मक चेतना निसर्गगत है। उसकी अनेक शारीरिक क्रियाएँ जैसे श्वास की क्रिया रक्त परिभ्रमण की क्रिया चलना-फिरना इत्यादि नियमात्मक रूप से लयात्मक ही हैं। २ अतः इस सहज लयात्मक चेतना का जब

" और पहले छन्द के उद्भव-काल से। इसका कारण, मैं स्वतः संचालित प्रयत्न से उद्भूत वह मानसिक सन्तुलन समझता हूँ जो चित्त के आवेग को नियन्त्रण में रखने का यत्न करता है।"

१ ऐतिहासिकों का मत है कि सृष्टि के प्रारम्भ से अधिकांश गम्भीर और मर्मस्पर्शी भावों को मनुष्यों ने संगीतमय भाषा में ही व्यंजित किया है। अतएव कविता और नृत्य या संगीत का सम्बन्ध बहुत पुराना और स्थायी है। इस सम्बन्ध के कारण हमारे मनोवेग अधिक तीव्र भाव से उत्तेजित हो उठते हैं। हमारे भावों में अद्भुत परिवर्तन हो जाता है और हमारी कल्पना कवि की कल्पना का अनुसरण करती हुई जहाँ-जहाँ वह ले जाती है, चली जाती है और अपनी सत्ता भूलकर उसकी सत्ता में लीन हो जाती है।"

डा० श्यामसुन्दर दास कृत 'साहित्यालोचन'
पृष्ठ-१० छठा संस्करण

२ The sense of rhythm —on which it may be said that sensory exciting effects of hearing including music finally rest —may probably be regarded as a fundamental quality of neuro-muscular tissue"

— Studies in the Psychology of Sex' by Havelock Ellis Volume I Edition 1036 (Sexual selection of Man, Hearing) Page—113

"लय की अनुभूति को—जिसके सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि अन्ततः इसी पर श्रवण के जिसमें संगीत भी सम्मिलित है अनुभूति विषयक उद्दीपनकारी प्रभाव निर्भर है—सम्भवतः स्नायु-पेशिक विधान तन्तु का आधारभूत गुण माना जा सकता है।"

किसी अन्य लयात्मक वस्तु से सम्पर्क स्थापित होता है, तब उसका परिणाम हमारे लिए उद्दीपनकारी होता है।१ वस्तुतः संगीत और काव्य दोनों ही का आधार बहुत कुछ लय और छन्द पर ही आधृत है। संगीत या काव्य की अभिव्यक्ति लय-सम्पृक्त होने पर श्रोता को अनायास ही अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है। जिस प्रकार नृत्य देखते समय स्वतः नृत्य न करते हुए भी हम उसकी गति से मानसिक तादात्म्य स्थापित करके मानो मनसा उस नृत्य में सक्रिय भाग लेने लगते हैं, उसी प्रकार संगीतज्ञ या कवि के लय अथवा छन्द के आधार से खिंच कर और उसके प्रवाह से तादात्म्य स्थापित करके हम उसमें मनसा प्रवाहित होने लगते हैं। ऐसी स्थिति में संगीतज्ञ या कवि की अभिव्यक्ति हमारी मनःस्थिति को सहज ही आत्मसात् कर लेती है और इस प्रकार वह हमारी स्वाभाविक लयात्मकता का तात्कालिक अविच्छिन्न अंग बन जाती है।२ इसी कारण कवि और गायक दोनों ही लय की उपेक्षा नहीं करते। संगीत की तो प्रकृति ही ताल और लय से अभिन्न है अतः आज भी वह ताल और लय से आबद्ध है किन्तु हिन्दी-साहित्य के छायावादी कवियों ने

---

१ (क) वही, पृष्ठ-११४

(ख) "कविता वस्तुतः में कवि के भाव सिक्त तरल शब्दों का संगीत की लय-छन्द में मादक प्रवाह है। मानव की शरीरगत सहज लयात्मक चेतना का प्रमाण नियन्त्रित रक्त परिभ्रमण, श्वास-क्रिया इत्यादि हैं। इस नैसर्गिक विशेषता का बहिर्जगत की किसी भी वस्तु से तादात्म्य निश्चयात्मक रूप से सहज आनन्द का उद्रेक करता है।"

डा० विश्वम्भर नाथ भट्ट कृत 'रत्नाकर उनकी प्रतिभा और कला' पृष्ठ-२२१

२ "लय और स्वर के प्रस्तार में एक आत्मसमर्पकता है और क्योंकि सभी क्रियाएँ गतिशील होती हैं, अतः ध्वनी के आरोहावरोह में लय के साथ विरमता हमारा मन भी कविता के अन्तर्तत्व को सहज ही स्पर्श करता हुआ कवि के अत्यन्त भावमयी स्वप्नों से अक्षुण्ण सम्बन्ध स्थापित कर छन्द-प्रवाह से अभिन्न होकर बहने लगता है। फलतः उसका स्पन्दन हमारे हृदय की धड़कन बन जाता है।"

वही पृष्ठ-२१७

छन्दों को भावाभिव्यक्ति के लिए अनावश्यक बन्धन मान कर कविता को बन्धनमुक्त करना उचित समझा, फिर भी वे लयात्मक प्रवाह की उपेक्षा न कर सके।

चमत्कार और पाण्डित्य-प्रदर्शन की रुचि ने रीतिकालीन कवियों को प्रायः सभी प्रकार के छन्दों में कविता लिखने की प्रेरणा दी। इसी कारण केशव की 'रामचन्द्रिका' छन्दों का अजायबघर बन गयी थी। तथापि अधिकांश कवियों के प्रिय छन्द कवित्त सवैया और दोहा ही रहे। सवैया और कवित्त (घनाक्षरी) दोनों ही वर्णिक छन्द हैं। सामान्यतः वर्णिक छन्द हिन्दी की प्रकृति के अधिक अनुकूल नहीं होते इसी कारण हिन्दी कवियों ने मात्रिक छन्दों का ही प्रयोग अधिक किया, किन्तु रीतिकाल के कवियों ने कवित्त और सवैया दोनों ही छन्दों में अपनी कला-कुशलता का परिचय दिया और पूरे दो सौ वर्षों तक ये दोनों छन्द कविता के क्षेत्र में अपना गौरवपूर्ण स्थान बनाये रहे।

सवैया और घनाक्षरी के उद्भव और विकास के सम्बन्ध में विद्वानों के पारस्परिक मतभेद को स्वीकार करते हुए डाक्टर नगेन्द्र ने 'देव और उनकी कविता' में सवैये की सपारिता का अपभ्रंश रूप स्वीकार किया है। प्राकृत-पैंगलम् के आधार पर उन्होंने प्राकृत साहित्य में आठ भगण वाले किरीट और आठ सगण वाले दुर्मिल सवैये के अस्तित्व को भी सिद्ध किया है। उनकी यह धारणा सप्रमाण और तर्कसम्मत है, किन्तु घनाक्षरी के सम्बन्ध में उन्होंने "ध्रुपद राग में गाये जाने वाले कतिपय पदों" के सन्दर्भ का उल्लेख करके जो मान्यता स्थापित की है[1] उसमें किसी भी संगीतज्ञ को आपत्ति हो सकती है,

---

१ 'घनाक्षरी के विषय में कोई निश्चित प्रमाण नहीं मिलता। संस्कृत के पिंगल ग्रन्थों में अथवा प्राकृत-पैंगलम् में इसका कोई उल्लेख नहीं है। कुछ विशेषज्ञों की धारणा है कि ध्रुपद राग में गाये जाने वाले कतिपय पदों का का रूप इससे मिलता है और अनुमान यही है कि लोक-गीतों की कुछ लयों को प्रारम्भिक आधार देकर थोड़े परिवर्तन-परिशोधन कर चारणों द्वारा यह छन्द बनाया गया। इस अनुमान की पुष्टि सूरसागर के निम्नलिखित पद से जो राग मलहार में है, अर्धविकसित-रूप में हो जाती है:—

सैन रचि बधि गाज्यो सघन कुंजनि कुंज
चित चरननि लाग्यो छतिया धरकि रही।

क्योंकि ध्रुपद कदापि किसी राग का नाम नहीं है। ध्रुपद तो एक शैली है जिसमें गम्भीर प्रकृति का कोई भी राग बड़ी सरलता से गाया जा सकता है। पीलू, तिलककामोद खमाज जैसे चंचल प्रकृति के रागों में भी ध्रुपद-शैली का प्रयोग असम्भाव्य नहीं है। दूसरी बात यह है कि घनाक्षरी ही नहीं सवैया भी ध्रुपद शैली में गेय है। इस कथन के प्रमाणस्वरूप निम्नस्थ उद्धरण उपस्थित किया जा सकता है

राग कामोद चौताल (विलम्बित)

श्यामा परी जमुना जल में जहां ठाढ़े हुते ब्रजराज किनारे
जो निरखे विधुमातु मुखा रमहू न मरे छुद्राय बिसारे।

हा हा कलि प्यारी तेरी प्यारो चौंकि चौंकि परे,
    पलकों बारक पिय हिय में बरसि रही।
बातन परसि काम लालसि है मोहू काम,
    तउ न बसति बाम अँखिया करकि रही।
सूरदास मदन बहुत पिय सुनि क्यों क्यों,
    कहीं त्यों त्यों मन बसकी बरकि रही।

आप देखिये कि उपर्युक्त पद छन्द-घनाक्षरी का कितना स्पष्ट उदाहरण है। इसे गाने वाले राग मल्हार में डालकर इसे कोई पद के दें, परन्तु साधारण रूप में यह घनाक्षरी ही है।"

डा० नगेन्द्र : देव और उनकी कविता
पृष्ठ—२३६ और २३७, प्रथम संस्करण

इस गीत की स्वरलिपि यह है

छायानट–चौताल (विलम्बित) १

स्थायी

– सा॒	नि प	सा॒ सा	– सा	रे सा
ऽ का	प	री ऽ	क	म मा
३	४	×	०	२
रे सा	रे सा	मध –	मप मप	मग म
स मैं	व हों	ठा ऽ	है हो	ठे ऽ
१	४	×	०	२
परे म	रेगम मप	गम –	ग म	रे –
रा ऽ	वऽ की	ना	ऽ ऽ	ऽ
१	४	×	०	२

अन्तरा

मप –	सां सां	सां –	रें सां	सां॒ नि
जो ऽ	नि र	खे ऽ	वि ब	भा
×	०	२	०	३
सां –	सांधनि प	मंप –	मरें रें	सां
ता ऽ	रऽ स	हैं ऽ	म म	रे
×		२		३
मरे ध	रेगम प	निसा रे	सा सा	
का ऽ	वऽ वि	ता ऽ	रे॰ छा	
×	०	१	०	

१ आचार्य भातखण्डे कृत 'हिन्दुस्तानी संगीत-पद्धति क्रमिक ... और ११०, द्वितीय संस्करण

इस ध्रुपद में स्थायी और अन्तरा दो ही अंग हैं अतः सवैये का प्रथम चरण स्थायी बन गया है और दूसरा चरण अन्तरा। यदि गायक ने संचारी और आभोग की रचना और की होती तो तीसरा चरण संचारी और चौथा आभोग बन सकता था किन्तु गायकों को छन्द-योजना से उतना प्रयोजन नहीं रहता जितना स्वर-योजना से। स्थायी और अन्तरा इन दो भागों में ही उन्हें मन्द्र, मध्य और तार स्वरों में राग का भावात्मक स्वरूप स्पष्ट करने की यथेष्ट सुविधा मिल जाती है अतः संचारी और आभोग की उन्हें विशेष चिन्ता नहीं रहती। इसी कारण अनेक ध्रुपदों में प्रायः स्थायी और अन्तरा ये दो ही अंग उपलब्ध होते हैं। वैसे ख्यालों में भी गीत के उपर्युक्त चारों अंग दिखाये जा सकते हैं,परन्तु उनमें संचारी और आभोग के दर्शन कहीं-कहीं ही होते हैं। सामान्यतः ख्यालों की रचना स्थायी और अन्तरे में ही पूर्ण हो जाती है।अस्तु, उपर्युक्त उदाहरण यह सिद्ध कर देता है कि ध्रुपद-शैली में सवैया छन्द को गा लेना कुशल गायक के लिए कठिन नहीं है।

यही बात घनाक्षरी के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। जयजयवन्ती का यह ध्रुपद उपस्थित है

आलि आज प्राण प्यारे गये बन चार सारे
पठाइबी हूँजबे को रजनी अंधियारी है।
भूषण उतार डारो और पट नील काढ़े
चलो उन ओर काम समय भयो भारी है।
चली यौं कुमर नार, देखे बहु बार-बार
चमकत है दामिनि आवत घटा कारी है।
गरजे यूं ममता घोर कारत है जिय की कोर,
कहे हरिवल्लभ यह आवत अभिसारि है।

इस ध्रुपद की स्वर-लिपि इस प्रकार है

जयजयवन्ती – चौताल (विलम्बित)१

स्थायी

^{म}रे	–	^{प}रे	^{ग}रे	प	प	म	–	प	^{म}रे	म	सा
मा		लि	या	ऽ	न	आ	ऽ	न	प्या	ऽ	रे
×		०		२		०		३		४	
$^{नि}$सा	नि	सा	^{म}रे	रेम	रेसा	सा	–	सा	नि	प	प
प	पे	ऽ	म	ऽऽ	म	सा	ऽ	र	सा	ऽ	रे
×		०		२		०		३		४	
सा	सा	सा	$^{रे}$म	–	मप	–	$^{सां}$नि	सां	सां	–	सां
प	टा	इ	यो	ऽ	हेऽ	ऽ	मै	ऽ	बे	ऽ	को
×		०		२		०		३		४	
^{प}सां	सां	नि	मप	पम	सां	निध	पम	म	मरे	ग	सा
र	न	भी	घऽ	बीऽ	ऽ	याऽ	ऽऽ	रि	हेऽ	ऽ	ऽ
×				२		०		३		४	

अन्तरा

म	–	प	$^{सां}$नि	सां	नि	सां	–	नि	सां	–	सां
पु	ऽ	न	म	ऽ	न	ता	ऽ	र	बा	ऽ	रो
×		०		२		०		३		४	

---

१ आचार्य भातखण्डे कृत 'हिन्दुस्तानी संगीत-पद्धति क्रमिक पुस्तक मालिका,' भाग चौथा पृष्ठ-२१४, २१५ और २१६, द्वितीय संस्करण

(नि)सां	(सां)नि	सां	(म)रें	रेंमं	रेंसां	(नि)सां	—	रेंनि	ध	नि	प
और	र	ऽ	प	ऽऽ	टऽ	भी	ऽ	इऽ	का	ऽ	रो
×		०		२		०		३		४	
(रें)मं	(म)रें	—	म	म	प	(सां)नि	सां	नि	सां	—	सां
ब	सो	ऽ	ब	ब	ऽ	भो	ऽ	कु	का	ऽ	म
×		०		२		०		३		४	
(प)सां	सां	निध	धप	म	(म)सां	निध	पध	(प)म	परे	ध	सा
स	म	भऽ	भाऽ	ऽ	भी	भाऽ	ऽऽ	रि	है		ऽ
×		०		२		०		३		४	

संचारी

सा	सा	—	(म)रे	म	प	म	—	मरे	ग	रेसा	सा
ब	नी		यूं	ऽ	बु	ब	ऽ	ठऽ	गा	ऽऽ	र
×		०		२		०		३		४	
सा	सा	—	(म)रे	रेप	रेसा	सा	—	सा	नि	ध	प
है	है	ऽ	ब	ऽऽ	इऽ	सा	ऽ	र	सा	ऽ	र
×		०		२		०		३		४	
प	प	(प)रे	(म)रे	(म)रे	प	म	—	म	(म)रे	—	सा
ब	म	क	त	है	ऽ	सा	ऽ	ऽ	म	ऽ	नि
×		०		२		०		३		४	
सा	सा	सा	रे	सा	—	सा	—	सा	नि	ध	प
भा	ब	त	ब	टऽ	ऽ	का	ऽ	रि	है	ऽ	ऽ
×		०		२		०		३		४	

आभोग

म	प	[सां]नि	—	[सां]नि	—	सां	सां	नि	सां	—	सां
ग	र	पे	ऽ	यू	ऽ	म	प	बा	ओ	ऽ	र
×		०		२		०		३		४	
[सां]नि	सां	रें	रेंसं	रें	सां	सां	सां	सां	नि	म	प
का	ऽ	ट	तऽ	है	ऽ	जि	या	कि	को	ऽ	र
×		०		२		०		३		४	
[ग]म	म	[म]रे	म	प	—	[सां]नि	नि	सां	—	सां	—
क	है	हु	रि	व	ऽ	स्त	म	य	ऽ	हू	ऽ
×		०		२		०		३		४	
[प]सां	—	नि	धप	[प]म	[म]सां	निध	पम	[प]म	गरे	म	सा
धा	ऽ	व	तऽ	म	नि	साऽ	ऽऽ	रि	हैऽ	ऽ	ऽ
×		०		२		०		३		४	

उपर्युक्त ध्रुपद में ध्रुपद के चारों अंग विद्यमान हैं, अतः घनाक्षरी के सभी चरण को स्वरबद्ध किया जा सका है। शृङ्गारपरक राग जयजयवन्ती में अभिसारिका नायिका का यह वर्णन काव्य और संगीत के पारस्परिक सहयोग का उत्तम उदाहरण है। रीतिकालीन कवियों ने भी कृष्णाभिसारिका के ऐसे ही चित्र प्रस्तुत किये हैं। उद्धृत गीत की भाषागत साहित्यिकता में अथवा घनाक्षरी के शास्त्रीय स्वरूप में यदि कहीं यत्किंचित त्रुटि दिखायी देती है तो उसका कारण सांगीतिक नियन्त्रणा का आग्रह अथवा गीत रचयिता का अल्प साहित्यिक ज्ञान ही है किन्तु इससे प्रतिपाद्य मान्यता में कोई तात्त्विक अन्तर उपस्थित नहीं होता। कृष्णानन्द व्यास कृत 'राग कल्पद्रुम' से यह स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दी के प्रायः सभी प्रमुख कवियों के पद कवित्त, सवैया इत्यादि रीतिकाल में गायकों द्वारा गाये जाते रहे हैं। राग कल्पद्रुम' के प्रारम्भ में ही 'राग सागर की सूचना' शीर्षक । प्राक्कथन लिखा गया है उससे स्पष्ट हो जाता है कि कृष्णानन्द व्यास पुर के गोस्वामियों द्वारा 'राग-सागर' की उपाधि मिली थी और उन्होंने

बत्तीस वर्षों तक सम्पूर्ण उत्तर भारत में भ्रमण करके उस युग के प्रचलित नये और पुराने गीतों का संग्रह किया था। 'रागकल्पद्रुम' १ के प्राक्कथन की ये पंक्तियाँ इस सम्बन्ध में द्रष्टव्य हैं

"नाना प्रकार के छन्द दोहा सोरठा चौपाई सवैया कवित्त झूलना त्रिभङ्गी आर्या शिखरिणी शार्दूलविक्रीड़ित तोटक वसन्त-तिलका मालिनी नाराच नागस्वरूप हरिणीप्लुता जयकरि छन्द महीधरी इन्द्रवज्रा मोतीदाम दोधक छप्पय रोला भुजङ्गप्रयात पुरुषोत्तमछन्द घनाक्षरी गद्यपद्यादि अनेक छन्द में गीत। इत्यादि तिन सौ साठ ताल। नाना प्रकार के छन्द ताल अथ एकपदी द्विपदी त्रिपदी चतुष्पदी पंचपदी षट्पदी सप्तपदी अष्टपदी नवमपदी दशमपदी नायिकाभेद स्वकीया परकीया सामान्या खण्डितादिभेद पंचकारादि नवनव नगण रगण जगण भगण मगणादि अष्टगण शुभाशुभ लीलावती गणितादिभेद व्याकरण न्याय मीमांसा पतञ्जल्यादि श्लोक प्रस्तार रत्नाकरादि अनेकस्तोत्र स्वच्छन्दादि श्रीवल्लभाचार्य की श्रीगुसाईंजी कृताष्टक गोस्वामिगोपेश्वर की कृत रामानुजजीकृत माधवाचार्यजीकृत श्रीमाधवाचार्यजीकृत श्रीहितहरिवंशजी कृत रूपसनातनगुसाईं श्रीकृष्णचैतन्य श्रीशङ्कराचार्यजीकृत बिल्वमङ्गल पुष्पदन्ताचार्य इत्यादि अनेक मधुर स्तोत्रादि श्री सूरदासजी सूरस्वामिजीकृत सूरसागर एतने महानुभावन की बानी सूरदास सूरश्याम श्रीजयदेवजीकृत नायक जी तानसेन नायक बैजुबावरे नायकगोपाल नायकचौंधी नायकचिरजु नायकमीर नायकबक्षु नायक रामदास जगन्नाथ सूरस्वामी परमानन्दस्वामी छीतस्वामी गोविन्दस्वामी चतुर्भुजदास कृष्णदास कुम्भनदास नन्ददास सूरदास मदनमोहन श्रीभटजी महाराजभटजी गदाधर मिश्र व्यासजी हितवानन्द + + + + + + + + + + + इत्यादि अनेक कवीश्वरकृत गिरिधर कविराय भूषण मतिराम पद्माकर देवमालम विद्यापति कमलापति सुर्षप कुलपति मिश्र चन्दकवि वृन्दराम राजा कर्ण विक्रम भर्तृहरि राजा विश्वनाथ सिंह गानमादन के गान संग्रह।२

इस उद्धरण से यह सिद्ध हो जाता है कि रीतिकालीन कवियों के कवित्त सवैये भी उस युग के गायकों द्वारा गाये जाते थे और ऐसे ही गाये जाते थे

१ संगीत नाटक अकादमी, दिल्ली में इस ग्रन्थ के दो भाग सुरक्षित हैं। वैसे आजकल यह ग्रन्थ अप्राप्य है।

२ कृष्णानन्द व्यास कृत 'राग कल्पद्रुम' पृष्ठ—२ और ३ 'रागसागर की सूचना' के अन्तर्गत द्वितीय खण्ड।

जैसे भक्तिकाल या रीतिकाल के पद रचयिताओं के पद। यह इस तथ्य का एक और प्रमाण है कि परम्परागत पद शैली के गीतिकाव्य में समय-समय पर रूप आकार की दृष्टि से परिवर्तन होते रहे हैं। पद तो छायावादी कवियों ने भी नहीं लिखे परन्तु इनकी कविताएँ अखिल भारतीय आकाशवाणी के विभिन्न केन्द्रों से आज भी गायी जा रही हैं। भक्तिकालीन पदों रीतिकालीन कवित्त सवैयों और छायावादी कवियों के गीतों में रूप-आकार का भेद प्रतीत स्पष्ट है, परन्तु मात्र रूपाकार के भेद से कविता का गेयत्व समाप्त नहीं हो जाता। गायक अभिरुचि के अनुसार गीत में सामान्य सा परिवर्तन भी कर लेता है। गीतों की परम्परा अधिकांश में मौखिक होने से या गायक के अशिक्षित होने से भी कभी कभी गीतों में पाठान्तर हो जाता है। उदाहरणार्थ 'राग कल्पद्रुम' से यह गीत लिया जा सकता है

भैरव-एकताल (ध्रुवपद)

"आए जु आए भोर भले ही सब
 निस जागे ब्रज अनुरागे पागे रङ्गत बोर।
भले हो आवो बैठो बिजन डुरावो चमक
 भए नव कुसुम किसोर ॥
आनन्दघन रस बरखो अति रहे आइ
 भोर तें भले आए भोर ॥"

('राग कल्पद्रुम' खण्ड १ आलाध्याय पृष्ठ-८६)

खण्डिता नायिका का यह वर्णन रीतिकालीन साहित्यिक मनोवृत्ति का स्पष्ट प्रमाण है। गीत में आनन्दघन की छाप भी है। यही पद श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र द्वारा सम्पादित घनानन्द ग्रन्थावली के पृष्ठ-३१४ पर इस प्रकार दिया हुआ है।

(भैरौं) (२१) (एकताला चलतौ)

"आए जु आए भोर, भले ही।
रसिक रंगीले छबीले मया करि सब निसि जागे
 दृग अनुरागे पागे-रंग-तंबोर।
बैठी बलि हौं बिजन डुलावत चमित भए नए कुसम किसोर।
आनंदघन रस बरसे नित ह्वै छाए ही रहि भोर ॥"

इस पद की न तो घनानन्द कृत कोई स्वरलिपि उपलब्ध है और न कृष्णानन्द व्यास ने ही 'राग कल्पद्रुम' में संकलित किसी गीत की स्वरलिपि दी है अतः यह नहीं बताया जा सकता कि कृष्णानन्द व्यास के युग में इस गीत की बन्दिश क्या थी अथवा घनानन्द इसे किस प्रकार गाते थे तथापि हिन्दी-साहित्य के प्रायः सभी इतिहास-लेखकों ने घनानन्द के संगीतज्ञ होने की चर्चा अवश्य की है।[1] इस पद से भी यही पता चलता है कि घनानन्द संगीतज्ञ थे। भैरव प्राचीन काल से ही प्रातःकालीन सन्धिप्रकाश राग माना जाता रहा है, अतः 'आए जु प्रात भोर' जैसी पंक्ति से प्रारम्भ होने वाले खण्डिता नायिका के वर्णनात्मक पद के लिए घनानन्द द्वारा भैरव राग में गाये जाने का निर्देश स्पष्ट ही उनके संगीत-ज्ञान का द्योतक है। 'राग कल्पद्रुम' में भी यह भैरव राग में ही है, किन्तु घनानन्द का 'एकताला चमती' (सम्भवतः उनका आशय मध्य एकताल या द्रुत एकताल से है) 'राग कल्पद्रुम' में एकताल (धुरपद) हो गया है। इस परिवर्तन से यह आभास मिलता है कि कृष्णानन्द ने सम्भवतः इसे चौताल या विलम्बित एकताल में सुना होगा। घनानन्द के भैरों और 'राग कल्पद्रुम' के भैरव इन शब्दों में मात्र उच्चारण का भेद है किन्तु अन्य पाठान्तर निश्चय ही विचारणीय हैं। 'आए जु प्रात भोर' और भोर (भोरे) ही दोनों स्थलों पर प्रायः समान ही है। इसके बाद 'रसीले रंगीले छबीले भया करि' इतना अंश 'राग कल्पद्रुम' के पाठ में नहीं है। मूल पद का पागे-रंग-उबार 'राग कल्पद्रुम' में 'पागे रजगुत बोर' हो गया है। इसी प्रकार 'बैठि रचि हौ बिजन दुरावत अमित भए मद कुसुम किसोर' के स्थान पर राग कल्पद्रुम में 'बने ही आओ बैठो बिजन दुराऊं बस्त्र भए मद कुसुम किसोर' पाठ है। अन्तिम पंक्ति में भी पर्याप्त पाठान्तर है, किन्तु मूल भावना और बहुत कुछ शब्द-योजना का साम्य भाव ही राग और ताल की एकरूपता इसी विश्वास

---

१ "कहते हैं कि एक दिन दरबार में कुछ कुचक्रियों ने बादशाह से कहा कि मीरमुंशी साहब गाते बहुत अच्छा हैं। बादशाह से इन्होंने बहुत टालमटोल किया। इस पर लोगों ने कहा कि ये इस तरह न गाएँगे यदि इनकी प्रेमिका सुजान नाम वेश्या कहे तब गाएँगे। वेश्या बुलाई गयी। इन्होंने उसकी ओर मुँह और बादशाह की ओर पीठ करके ऐसा गाना गाया कि सब लोग तन्मय हो गये।"

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल कृत 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास'
पृष्ठ-३६७ संस्करण सं० १९९९

की पुष्टि करती है कि 'राग कल्पद्रुम' में जो पद दिया हुआ है उसका मूल रूप परमानन्द का नहीं पद है।

शब्दों को संगीत की बन्दिश में आत्मसात् करने की प्रक्रिया में एक उल्लेख नीय बात और होती है। किसी गीत की बन्दिश बनाते समय उसके शब्दों की मात्राओं की गणना ताल के बोल के अनुसार होती है। छन्द की मात्राओं का ताल के बोलों मात्राओं और आघातों से सामंजस्य स्थापित होकर जब छन्द की शब्द-योजना का गीतात्मक स्थिरीकरण हो जाता है तभी बन्दिश का स्वरूप निश्चित होता है। फलतः ताल के आग्रह से किसी छंद की आठ मात्राएँ गीत की बंदिश में सोलह मात्राएँ भी बन सकती हैं तथा आवश्यकता पड़ने पर सोलह मात्राएँ दस मात्राएँ भी हो सकती हैं। यदि संगीत के आग्रह से ऐसी आवश्यकता उपस्थित न हो तो छन्द की सोलह मात्राएँ बंदिश में भी ठीक सोलह ही मात्राएँ रह सकती हैं। निम्नोल्लिखित कतिपय उदाहरणों से यह बात सर्वथा स्पष्ट हो जायगी।

राग यमन-त्रिताल (मध्यलय)[1]

सां नि	ध	–	प	मं	प	मं	म	प	–	–	–	मं प	मं	ग	रे
स	रा	ऽ	धि	न	म	न	म	मा	ऽ	ऽ	ऽ	नि	ध	रि	न
०				१				×				२			

यह पंक्ति यमन के उस छोटे ख्याल की प्रथम पंक्ति है जो प्रारम्भिक विद्यार्थियों को सिखाया जाता है। गीत के बोल हैं —स रा धि न म न म ऽ मा नि ध रि न। छन्द की दृष्टि से देखा जाय तो इस पंक्ति में चौदह मात्राएँ हैं, परन्तु त्रिताल की सोलह मात्राओं में इन्हें आनुकूलपूर्ण रूप से समाहित कर दिया गया है। त्रिताल सोलह मात्राओं की ताल है। मात्रा बोल और विभागों सहित इसका स्वरूप यह होता है

त्रिताल

मात्रा	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
बोल	धा	धिं	धिं	धा	धा	धिं	धिं	धा	धा	तिं	तिं	ता	ता	धिं	धिं	धा
ताली	×				२				०				३			

[1] आचार्य भातखण्डे कृत 'हिन्दुस्तानी संगीत-पद्धति क्रमिक पुस्तक मालिका' पहली पुस्तक पृष्ठ-११ संस्करण १९५१

विन्यास की इस रूपरेखा के अनुसार उपर्युक्त गीत की पंक्ति और उसकी स्वरलिपि पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जायगा कि छन्द के अनुसार गुरु लघु की मात्राएँ स्वरलिपि में भी गुरु, लघु बनी रही हैं केवल 'म ना' की तीन मात्राएँ या 'म ना' में से केवल 'ना' की दो मात्राएँ स्वरलिपि में चार मात्राएँ बनकर विन्यास के साँचे में समा गयी हैं और इस प्रकार गीत की चौदह मात्राएँ सोलह मात्राएँ बनकर विन्यास में ठीक बैठ गयी हैं।

इस उदाहरण से यह तात्पर्य नहीं कि सर्वत्र इसी प्रकार छन्द की निश्चित मात्राओं में व्यतिक्रम उपस्थित करके गीतों को बन्दिश में बाँधा जाता है। यदि छन्द और प्रयुक्त ताल की प्रकृति में साम्य हो तो बिना अपनी ओर से कुछ घटाये-बढ़ाये भी गायक उसका सफल प्रयोग कर सकता है। उदाहरणार्थ निम्नस्थ गीत लिया जा सकता है। इसकी प्रत्येक पंक्ति बारह मात्राओं की है

राग यमन

स्थायी

भज मन करुणा निधान
सुख सदन एक नाम
शरणागत वत्सल प्रभु
पूरत सब मन सुकाम।

अन्तरा

समरथ सुख दायक प्रभु
अखिल जगत नायक विभु
अंतरयामी अविकल
निरगुन कर चतुर ध्यान।

इस गीत की बन्दिश एकताल (बारह मात्रा) में की गयी है एकताल का स्वरूप यह है

एकताल

मात्रा	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२
बोल	धिं	धिं	धागे	तिरकिट	तू	ना	क	त्ता	धागे	तिरकिट	धी	ना
ताली	×		०		२		०		३		४	

निम्नलिखित स्वरलिपि से यह स्पष्ट हो जायगा कि स्वर और ताल से युक्त होकर भी इस गीत की मात्राओं में विसंगति नहीं हुई है

राग यमन—एकताल (मध्यलय)[१]

^{प}नि	ध	प	म	ग	म	प	—	म	ग	—	ग
म	न	स	म	क	ब	न	ऽ	नि	सा	ऽ	म
×		•		२		•		३		४	
प	रे	^{म}ग	म	प	प	^{प}रे	प	रे	$^{रे}$नि	रे	सा
सु	न	सौ	ऽ	प	द	ए	ऽ	क	का	ऽ	म
×				२				३		४	
सा	सा	रे	—	ग	म	म	—	^{प}प	प	ध	प
सा	र	जा	ऽ	न	त	ब	ऽ	ला	स	प्र	भु
×				२		•		३		४	
^{म}प	—	ध	ध	नि	नि	सां	सां	नि	^{ध}नि	ध	प
पू	ऽ	र	ण	स	ब	म	न	सु	का	ऽ	म
×		•		२		•		३		४	

अन्तरा

^{म}प	ग	ध	प	ध	प	^{प}सां	ध	सां	सां	सां	सां
मों	ऽ	म	म	मु	ब	बा	ऽ	म	क	प्र	भु
×				२		•		३		४	
$^{नि}$सां	सां	रें	रें	गं	रें	सां	—	$^{सां}$नि	^{ध}नि	^{ध}प	प
म	कि	त	ब	ग	त	ना	ऽ	य	क	कि	मु
×		•		२		•		३		४	
^{म}प	—	^{ध}म	म	ग	—	प	रे	ग	रे	सा	सा
धीं	ऽ	त	र	बा	ऽ	मी	ऽ	प	वि	क	स
×		•		२				३		४	
$^{नि}$सां	सां	रें	रें	ग	रें	सां	$^{रें}$सां	निध	नि	ध	प
नि	र	कु	न	क	र	च	[illegible]	रऽ	प्या	ऽ	म।

१ आचार्य भातखण्डे कृत हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति क्रमिक पुस्तक मालिका दूसरा भाग, पृष्ठ १८, १९, तीसरी आवृत्ति।

वस्तुतः रीतिकालीन किसी भी कविता के गेयत्व में सन्देह नहीं हो सकता। यदि आज भी कोई गायक चाहे तो रीतिकाल के कवियों की रचनाओं को सरलतापूर्वक राग-ताल-बद्ध कर सकता है क्योंकि जितना लचीला संगीत का नादात्मक स्वरूप है उतना ही लचीला उसकी लय का माध्यम भी। अतः गीत की बन्दिश बनाने में व्याघात उपस्थित नहीं होता। किन्तु एक बार गीत की बन्दिश स्थिर हो जाने पर उसके व्यावहारिक प्रयोग में एक मात्रा क्या उसके अत्यन्त अल्प अंश की भी भूल करने पर गायक 'बेताला' कहलाने लगता है।

कवित्त-सवैयों के अतिरिक्त दोहा छन्द का प्रयोग भी रीतिकालीन कवियों ने खूब किया है। इस छन्द के गेयत्व में भी कदापि सन्देह नहीं किया जा सकता। श्री अगरचन्द नाहटा ने 'ऐतिहासिक जैन काव्य संग्रह' में ऐसे अनेक दोहे दिये हैं जो बारहवीं या तेरहवीं शताब्दियों में जैनाचार्यों द्वारा विभिन्न रागों में गाये जाते रहे हैं। उन दोहों पर जैन राग के नाम का उल्लेख भी स्पष्ट किया हुआ है। आगे चलकर कबीर इत्यादि सन्त कवियों ने भी गाने के लिए ही दोहों की रचना की। तुलसी कृत 'रामचरितमानस' चाहे शुद्ध गीतिकाव्य न हो किन्तु संगीतात्मक अवश्य है और इसी कारण कथावाचक युगों से दोहे चौपाइयाँ गाते चले आ रहे हैं। भजनानन्दी गायकों की एक शैली यह भी है कि वे किसी गीत को गाते-गाते उसके बीच-बीच में दोहों को भी उसी राग में बाँधकर गाते जाते हैं। वस्तुतः यह कोई नवीन शैली नहीं है। रीतिकाल में भी इसका यथेष्ट प्रचार था। तुलसी साहब (हाथरसवाले) रीतिकाल के ही कवि हैं।१ इनकी 'शब्दावली' भाग दो से उद्धृत यह गीत इस कथन के प्रमाणस्वरूप उपस्थित किया

---

१ "इनका जन्म सं० १८४२ में माना जाता है। ये ब्राह्मण थे और बाल्यावस्था से ही भक्ति भावना में लीन थे। इन्होंने अपना समस्त जीवन हाथरस (अलीगढ़) में ही व्यतीत किया और वहीं अपनी जीवन लीला समाप्त की।

ये बड़े विद्वान थे और प्रत्येक विषय का शास्त्रीय विवेचन करते थे। इन्होंने घट-रामायण शब्दावली और रत्न-सागर नामक तीन प्रसिद्ध ग्रन्थों की रचना की।"

डा० रामकुमार वर्मा कृत 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' पृष्ठ-६६१, ६६२, प्रथम संस्करण

निम्नलिखित स्वरलिपि से यह स्पष्ट हो जायगा कि स्वर और ताल से मुक्त होकर भी इस गीत की मात्राओं में विसंगति नहीं हुई है

राग यमन—एकताल (मध्यलय)[1]

^{प}नि	ध	प	म	ग	म	प	–	म	ग	–	ध
म	ब	म	न	क	र	भ	ऽ	गि	या	ऽ	न
×		०		२		०		३		४	
ग	रे	^{म}ग	म	प	प	^{प}रे	प	रे	$^{रे}$नि	रे	सा
सु	ख	सौ	ऽ	प	र	ए	ऽ	क	या	ऽ	म
×		०		२				३		४	
सा	सा	रे	–	ग	प	म	–	^{प}प	प	ध	प
धा	र	ना	ऽ	क	त	ब	ऽ	रस	न	प्र	भु
×				२		०		३		४	
^{म}प	–	ध	ध	नि	नि	सां	सां	नि	^{ध}नि	ध	प
पू	ऽ	र	त	स	ब	म	न	सु	का	ऽ	म
×		०		२		०		३		४	

अन्तरा

^{ग}प	ग	प	प	प	प	^{प}सां	ध	सां	सां	सां	सां
मौ	ऽ	न	स	मु	ख	धा	ऽ	प	क	प्र	भु
×				२		०		३		४	
$^{नि}$सां	सां	रें	रें	मं	रें	सां	–	$^{सां}$नि	^{प}नि	^{ध}प	प
प	खि	स	ब	म	त	ना	ऽ	य	क	बि	भु
×		०		२		०		३		४	
^{म}प	–	^{ध}म	म	ग	–	प	रे	ग	रे	सा	सा
पौ	ऽ	त	र	वा	ऽ	मी	ऽ	म	बि	क	म
×				२				३		४	
$^{नि}$सां	सां	रें	रें	गं	रें	सां	$^{रें}$सां	निप	नि	प	प
नि	र	गु	न	क	र	च	तु	र ऽ	प्या	ऽ	न।

१ आचार्य भातखण्डे कृत हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति क्रमिक पुस्तक मालिका, दूसरा भाग, पृष्ठ-१५, १६, तीसरी आवृत्ति।

वस्तुतः रीतिकालीन किसी भी कविता के गेयत्व में सन्देह नहीं हो सकता। यदि आज भी कोई गायक चाहे तो रीतिकाल के कवियों की रचनाओं को सरलतापूर्वक राग-ताल-बद्ध कर सकता है क्योंकि जितना लचीला संगीत का भावात्मक स्वरूप है उतना ही लचीला उसकी सम्यक् माध्यम भी अतः गीत की बन्दिश बनाने में व्याघात उपस्थित नहीं होता। किन्तु एक बार गीत की बन्दिश स्थिर हो जाने पर उसके व्यावहारिक प्रयोग में एक मात्रा क्या उसके अत्यन्त अल्प अंश की भी भूल करने पर गायक 'बेतामा' कहलाने लगता है।

कवित्त-सवैयों के अतिरिक्त दोहा छन्द का प्रयोग भी रीतिकालीन कवियों ने खूब किया है। इस छन्द के गेयत्व में भी कदापि सन्देह नहीं किया जा सकता। श्री अगरचन्द नाहटा ने 'ऐतिहासिक जैन काव्य संग्रह' में ऐसे अनेक दोहे दिये हैं जो बारहवीं या तेरहवीं शताब्दियों में जैनाचार्यों द्वारा विभिन्न रागों में गाये जाते रहे हैं। उन दोहों पर गेय राग के नाम का उल्लेख भी स्पष्ट किया हुआ है। आगे चलकर कबीर इत्यादि सन्त कवियों ने भी गाने के लिए ही दोहों की रचना की। तुलसी कृत 'रामचरितमानस' चाहे शुद्ध गीतिकाव्य न हो किन्तु संगीतात्मक अवश्य है और इसी कारण कथावाचक युगों से दोहे चौपाइयाँ गाते चले आ रहे हैं। मजमालन्वी गायकों की एक शैली यह भी है कि वे किसी गीत को गाते-गाते उसके बीच-बीच में दोहों को भी उसी राग में बाँधकर गाते जाते हैं। वस्तुतः यह कोई नवीन शैली नहीं है। रीतिकाल में भी इसका यथेष्ट प्रचार था। तुलसी साहब (हाथरसवाले) रीतिकाल के ही कवि हैं।[1] इनकी 'शब्दावली' नाम की पुस्तक से उद्धृत यह गीत इस कथन के प्रमाणस्वरूप उपस्थित किया

---

1 "इनका जन्म सं० १८४८ में माना जाता है। ये ब्राह्मण थे और बाल्यावस्था से ही भक्ति भावना में लीन थे। इन्होंने अपना समस्त जीवन हाथरस (अलीगढ़) में ही व्यतीत किया और वहीं अपनी जीवन लीला समाप्त की।

ये बड़े विद्वान थे और प्रत्येक विषय का शास्त्रीय विवेचन करते थे। इन्होंने घट-रामायण शब्दावली और रत्न-सागर नामक तीन प्रसिद्ध ग्रन्थों की रचना की।"

डा० रामकुमार वर्मा कृत 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' पृष्ठ-२९१ २९२, प्रथम संस्करण

जा सकता है

झप्पा

(१)

सेहरा सिंगारियाँ प्यारी पिया प्रेम का ॥टेक॥
बिरह बेल चित चीन्ह चमेली नर तन सरसिज मन महुआ ।
गो गुन गूँथ सूत सुत माला नी मन नाफिर गुलनाला ।
गुर हिये हरवा सम्हारियाँ ॥१॥

॥ दोहा ॥

चीन्ह चंप रस रीति को भँवर वास माँहि सेत ।
चेत चमो मन मालती सूंघि मधुकर हेत ॥२॥
मोरसली मन मोगर कहिये तन मन बन की फुलवारी ।
प्यारी निरख मुख के नैना ऐन चैन सब बर वारी ।
गुर पर तन मन वारियाँ ॥३॥

॥ दोहा ॥

गगन डोर पर पोहु को सब सुर्ति संघ समान ।
चान गगन असमान को कीन्हा बरनि बखान ॥४॥
करनफूल सुत सेत तावरी गुलाबास गुल गुलनारी ।
झारी अगर केल कंवलन की सुरजमुखी मय चढ़ वारी ।
गुर पिय सब कर वारियाँ ॥५॥

॥ दोहा ॥

वार गगन गली देख को भेद भवन सोइ जाय ।
विमल मरे फिरि फिरि जिये पिय पिय पपी पथाय ॥६॥
बिरह बंद बस चंद कमोदन चोटन रवि करि करि कमला ।
करनफूल कहला गुर केरी कलियाँ पर बस नेह नवला ।
सब पिय पीर गोहारियाँ ॥७॥

॥ दोहा ॥

चंदा करन कमोदनी, कंवल बिरह रवि रीत ।
शिष्य समझ गुर मिलन की तुलसी सटपट रीत ॥८॥ १

---

१ तुलसी साहिब (हाथरस वाले) की 'शब्दावली' भाग २, पद्मसागर सहित, पृष्ठ-१४२, १४३, द्वितीय संस्करण

अन्य छन्दों की तरह दोहे के सम्बन्ध में भी यही सत्य है कि इसे भिन्न भिन्न रागों और भिन्न-भिन्न तालों में गा लेना कोई बड़ी बात नहीं है। वस्तुत काव्य और संगीत के पारस्परिक सम्बन्ध पर विचार करते समय इस सत्य की कभी उपेक्षा नहीं की जा सकती कि न तो काव्य अपने समग्र रूप में संगीत है और न संगीत अपने समस्त रूप में काव्य। इसी कारण संगीत अपनी प्रकृति के अनुकूल कविता से स्वभावतः जितना ग्रहण कर सकता है मात्र उतना ही लेता है और कविता भी अपनी प्रकृति के अनुरूप सांगीतिक तत्वों को जिस सीमा तक ग्रहण कर सकती है उसी सीमा तक आत्मसात् करके शेष विशेषताओं को छोड़ देती है।[1] काव्य और संगीत के समन्वय सम्बन्धी औचित्य की उपेक्षा करने से कभी-कभी आलोचना में विरोधी मान्यताएँ दृष्टिगोचर होने लगती हैं। उदाहरणार्थ जहाँ पन्त जी यह कहते हैं कि "पर कवित्त-छन्द हिन्दी के इस स्वर और लिपि के सामंजस्य को छीन लेता है। उसमें यति के नियमों के पालनपूर्वक चाहे आप इकतीस गुरु-अक्षर रख दें चाहे लघु एक ही बात है छन्द की रचना में अन्तर नहीं आता। इसका कारण यह है कि कवित्त में प्रत्येक अक्षर को चाहे वह लघु हो या गुरु एक ही मात्रा-काल मिलता है, जिससे छन्द-बद्ध शब्द एक दूसरे को झकोरते हुए परस्पर टकराते हुए, उच्चारित होते हैं हिन्दी का स्वाभाविक संगीत नष्ट हो जाता है। सारी शब्दावली जैसे मद्यपान कर लड़खड़ाती हुई, अड़ती भिड़ती एक उत्तेजित तथा विद्रोही स्वर नाद के साथ बोलती है।

इस मान्यता के विपरीत निराला जी का कहना है,"हिन्दी में मुक्तककाव्य कवित्त-छन्द की बुनियाद पर सफल हो सकता है। कारण यह छन्द चिरकाल से इस जाति के कण्ठ का हार हो रहा है। दूसरे, इस छन्द में एक विशेष गुण यह भी है कि इसे लोग चौताल आदि बड़ी तालों में तथा ठुमरी की तीनतालों

1 'अत. कवि, संगीत से जितना ग्रहण करना सम्भव है उतना लेकर शेष का परित्याग कर देता है, और गायक, कविता से जितना आवश्यक होता है उतना लेकर शेष को छोड़ देता है, किन्तु इस तथ्य को कौन अस्वीकार कर सकता है कि संगीत और कविता के सम्मेलन से जो भावाभिव्यक्ति होती है उसमें निखार होकर श्रोता एक स्वप्निल जगतमें पहुँचकर अनिर्वचनीय आनन्द में निमग्न हो जाता है।"

डा० विश्वम्भर नाथ भट्ट की रेडियो वार्ता 'कविता और संगीत', २१-२ १९५५ को दिल्ली रेडियो से प्रसारित

में भी सफलतापूर्वक गा सकते हैं और नाटक आदि के समय इसे काफी प्रवाह के साथ पढ़ भी सकते हैं। आज भी हम राम-लीलाओं में लक्ष्मण-परशुराम संवाद के समय वार्तालाप में इस छन्द का चमत्कार प्रत्यक्ष कर लेते हैं। यदि हिन्दी का कोई जातीय छन्द चुना जाय तो वह यही होगा। + + + + इस छन्द में Art of Reading का आनन्द मिलता है और इसलिये इसकी उपयोगिता रङ्गमंच पर सिद्ध होती है।" परस्पर विरोधी इन मान्यताओं पर यदि इस दृष्टि से विचार किया जाय कि कवित्त सवैया दोहा प्रभृति सभी छन्द गायक द्वारा रचित स्वर-ताल की योजना में सांगीतिक निबन्धता के नियमों से मुक्त होकर विशिष्ट स्वरूप ग्रहण कर लेते हैं तो विवाद के लिए विशेष स्थान नहीं रह जाता।

उपर्युक्त विवेचन ताल और छन्द के पारस्परिक सम्बन्ध के आधार पर ही किया गया है। लय और छन्द की दृष्टि से विचार करने पर छन्द रचना में भी ताल की दृष्टि से आन्तरिक संगीत अनुस्यूत रहता है जो भावाभिव्यक्ति का सबल माध्यम भी है। जिस प्रकार संगीत में गम्भीरता उत्पन्न करने के लिए चौताल तिलवाड़ा विलम्बित एकताल आड़चौताल झूमरा जैसी तालों का प्रयोग होता है इसी प्रकार विभिन्न छन्द भी विभिन्न भावों की अभिव्यक्ति के लिए उपयुक्त लयात्मक वातावरण का सृजन करते हैं। कालिदास ने अजविलाप के लिए वैतालीय छन्द का प्रयोग कुछ सोच विचार कर ही किया था। इस छन्द की गति में जो कातर विह्वलता है उसने कालिदास की अभीप्सित अभिव्यक्ति को अतीव सफलता प्रदान की है। इस प्रकार पीयूषवर्षण और हरिगीतिका का प्रवाह निश्चय ही एक औदात्यपूर्ण करुणा से परिपूरित है। रोला और रूपमाला दोनों चौबीस मात्राओं के छन्द हैं, किन्तु दोनों में लयात्मक वैषम्य के कारण पर्याप्त अन्तर दिखायी देता है। रोला में यदि प्रवाह का आवेग है तो रूपमाला में श्रान्त पथिक की क्लान्ति।[1] संगीत की आन्तरिक लयात्मकता से

---

१ रोला में चौबीस मात्राएँ होती हैं और ग्यारह तेरह पर यति होती है तथा रूपमाला में भी चौबीस मात्राएँ और अन्त में नियम से क्रमशः एक गुरु और एक लघु होता है। चौदह और दस पर यति होती है। संगीत में भी इसी प्रकार यद्यपि धमार और दीपचन्दी दोनों ही चौदह-चौदह मात्राओं की तालें हैं किन्तु दोनों की प्रकृति में तात्त्विक अन्तर है। यही बात एक-ताल और चौताल (बारह मात्राओं) में भी परिलक्षित होती है।

—लेखिका

सन्निविष्ट होकर ही छन्द इस प्रकार की भावाभिव्यक्ति में समर्थ हो पाते हैं। काव्य में अनुस्यूत यह वह आन्तरिक संगीत है जिसके परिणामस्वरूप छन्द पढ़ते ही मानों प्राणों की बीन पर राग सा बज उठता है। प्रत्यक्ष रूप से छन्दों को न गाने पर भी मानो उनके मूक संगीत में मन तल्लीन हो जाता है। छन्दों की नियम सम्बन्धी जकड़बन्दी ही इस लयात्मक आन्तरिक संगीत का नियमन करती है, किन्तु इस जकड़बन्दी के कारण छन्दों के प्रत्यक्ष गेयत्व में कोई व्यवधान उपस्थित नहीं हो सकता। सांगीतिक निबन्धता में हिन्दी का कोई भी छन्द सरलता पूर्वक ढल सकता है, अतः रीतिकालीन छन्दों को लेकर पंतजी का यह कहना कि उनमें हिन्दी की प्रकृति के अनुकूल लयात्मकता अथवा संगीतात्मकता नहीं है कदापि तर्कसम्मत नहीं है।१

अलंकार-योजना

रीतिकालीन कविता में छन्द के माध्यम से संगीत की लयात्मकता का जो समावेश हुआ वह तो था ही, इसके अतिरिक्त विविध शब्दालंकारों एवं प्रसाद, माधुर्य तथा ओज की गुणत्रयी से भी उस युग के काव्य में संगीत-तत्त्व का सुन्दर समन्वय हुआ।

संगीतोपयोगी ध्वनि का क्रम में सजना ही संगीत का मूल तत्त्व है, अतः समाहृतिक ध्वनियों वाले वर्णों अथवा शब्दों के छन्द प्रवाह-युक्त संघटन के कारण कर्णेन्द्रिय को जो अनुभूति होती है वह अपनी प्रकृति में संगीत की उपर्युक्त आधारभूत विशेषता से बहुत भिन्न नहीं है। वस्तुतः यह कविता में समाहित वह प्रच्छन्न संगीत है जिसके कारण कविता में अद्भुत सजीवता आ जाती

---

१ (क) "सवैया तथा कवित्त छन्द भी मुझे हिन्दी की कविता के लिए अधिक उपयुक्त नहीं जान पड़ते। सवैया में एक ही सगण की आठ बार पुनरावृत्ति होने से, उसमें एक प्रकार की जड़ता, एक-स्वरता (monotony) आ जाती है।"

पन्त कृत 'पल्लव' की भूमिका, पृष्ठ-१४ प्रथमावृत्ति

(ख) "कवित्त-छन्द मुझे ऐसा जान पड़ता है, हिन्दी का औरसजात नहीं, पोष्य-पुत्र है, न जाने यह हिन्दी में कैसे और कहाँ से आ गया।"

पन्त कृत 'पल्लव' की भूमिका, पृष्ठ-१५, प्रथमावृत्ति

है। १ कवि को सदैव यह ध्यान रहता है कि वह कविता में जिस भाषा का प्रयोग कर रहा है वह अपनी प्रकृति में गद्य जैसी भाषा नहीं है और उसके श्रोता या पाठक भी यह कभी नहीं भूलते कि वे कविता को जिस भाषा को सुन या पढ़ रहे हैं वह अपनी प्रकृति में विशिष्ट है। इसी कारण चाहे सिद्धान्ततः शब्दालंकारों को विशेष महत्त्व न दिया जाय किन्तु कवि उनके आन्तरिक संगीत के कारण उनकी अपेक्षा कभी नहीं करता।

रीतिकालीन कविता में इस आन्तरिक संगीत के मूल्यांकन का प्रयास केशवदास से ही आरम्भ करना युक्तियुक्त होगा क्योंकि वे ही हिन्दी के प्रथम आचार्य कवि और भक्ति काव्य के अवसान एवं रीतिकाल के आरम्भ के बीच की कड़ी हैं। उन्होंने 'रसिक प्रिया' का आरम्भ इस मंगलाचरण से किया है

अथ मंगलाचरण

श्री गणेश बंदना–(छप्पय)

एक-रदन गजबदन, सदनबुधि मदन-कदन-सुत।
गौरि-नंद आनन्द-कंद, जग-बंद चंद-जुत।
सुख-दायक दायकसुकीर्ति जगनायक-नायक।
खलघायक घायक-दरिद्र सब लायक-लायक।
गुन-गुन अनत भगवंत-भव भगतिवत भव-भय-हरन।
जय केशवदास निवास-निधि लंबोदर असरन-सरन। २

रीतिकालीन छन्द-योजना पर विचार करते समय यह कहा जा चुका है कि सभी छन्द गेय होते हैं। छप्पय को भी गा लेना कठिन नहीं है। वैसे भी छप्पय प्राचीन काल से गाये जाते रहे हैं। ३ अस्तु, संगीत का लयात्मक प्रवाह यहाँ

---

१ कविता के संगीत की समीक्षा वस्तुतः संगीत के संगीत की अनुसन्धित्सा है।

डा० विश्वम्भर नाथ भट्ट कृत 'रत्नाकर उनकी प्रतिभा और कला" पृष्ठ-१२६, प्रथम संस्करण

२ "केशव ग्रन्थावली" खण्ड १ (सम्पादक विश्व नाथ प्रसाद मिश्र) पृष्ठ-१

३ द्रष्टव्य 'ऐतिहासिक जैन काव्य-संग्रह' सम्पादक अगरचन्द नाहटा भँवर लाल नाहटा,

पृष्ठ-२४, ३३ (प्रथमावृत्ति) पर उद्धृत जैन छप्पय

भी असन्दिग्ध रूप से विद्यमान है। इसके अतिरिक्त केशव ने उपर्युक्त छप्पय में वर्ण-योजना द्वारा जिस संगीतात्मक नाद-सौन्दर्य का उद्रेक किया है वह भी सर्वथा श्लाघ्य और अवेक्ष्य है। प्रथम पंक्ति में प्रयुक्त शब्द-योजना में 'ट' और 'न' इन दो वर्णों की नादात्मकता का लय में संचरण हुआ है। दूसरी पंक्ति में 'भेर', 'करं' 'घेरं' तीसरी में 'नायक' 'भायक' चौथी में 'कामक' 'नामक' पाँचवीं में 'प' और 'भ' तथा अन्तिम पंक्ति में 'ठ' 'न' और 'र' ध्वनियों की लयात्मक पुनरावृत्ति जिस नादात्मक संगीत का सृजन कर रही है वह छप्पय का आन्तरिक संगीत ही है।

मम्मट ने 'काव्यप्रकाश' के नवम् उल्लास में शब्दालंकारों के स्वरूप और भेद का विवेचन करते हुए वक्रोक्ति, अनुप्रास, यमक, श्लेष, चित्र और पुनरुक्तवदाभास इन छः चमत्कारों का उल्लेख किया है। इन चमत्कारों में शब्द का परिवर्तन कर देने से अलंकार द्वारा प्रदर्शित चमत्कार नष्ट हो जाता है। केशव के उपर्युक्त उद्धरण में वृत्यानुप्रास और यमक पर ही वर्ण-विन्यास-वैचित्र्य निर्भर है। इस कौशलपूर्ण वर्णसंगुम्फन से जो नादात्मक वैशिष्ट्य उत्पन्न हुआ है वह छन्द की ऐसी लयात्मकता से सम्पृक्त होकर नाद-सौन्दर्य का ऐसा स्निग्ध वातावरण निर्मित कर देता है जिसके कारण श्रोता या पाठक कवि की अभिव्यक्ति से सहज ही तादात्म्य स्थापित कर लेता है। इस गणेश वन्दना में केशवदास की छाप कवि की वैयक्तिकता की ही छाप है। निश्चय ही गणेश-भक्त श्रोता या पाठक केशवदास से तादात्म्य स्थापित करके इस रचना का गान करते हुए अपने इष्टदेव की भक्ति-भावना में तन्मय हो सकता है। यदि पाठक के गणेश भक्त होने के प्रतिबन्ध को हटा भी दिया जाय तब भी छप्पय के आन्तरिक संगीत में किसी प्रकार का व्याघात उपस्थित नहीं होता। बिना गाये ही इसका आन्तरिक संगीत पाठक या श्रोता के मानस में एक राग सा बजाने लगता है, मानो मन किसी स्वरलहरी के क्षीण अनुगुञ्जन से झाँकती हुई अभिव्यक्ति के रूप-जाल में उलझ गया हो। यहाँ यदि कोई कमी रह गयी है तो बस यही कि इसे किसी राग और ताल में बाँधने का प्रयास नहीं हुआ है अन्यथा शेष पदों में और इस छप्पय में रूपाकार के अतिरिक्त और कोई विशेष अन्तर नहीं है।

शब्दालंकारों से निश्चय ही कविता के आन्तरिक संगीत में वृद्धि होती है। वस्तुतः किसी सीमा तक ये ही आन्तरिक संगीत का आधार भी हैं परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि काव्य-शास्त्रियों ने जिन विभिन्न शब्दालंकारों की

गिनती गिनायी है वे सभी आन्तरिक संगीत का उद्रेक करने में समर्थ होते हैं। शब्दालंकार काव्य की दृष्टि से प्रयुक्त शब्द के परिवर्तन की असहनशीलता पर आधृत हैं। इसी कारण चित्रालंकार, श्लेषालंकार, वक्रोक्ति इत्यादि को भी मम्मट ने शब्दालंकार घोषित किया है परन्तु आन्तरिक संगीत की दृष्टि से अनुप्रास और यमक को जो महत्त्व दिया जा सकता है वह वक्रोक्ति श्लेष पुनरुक्तिवदाभास और चित्र को नहीं दिया जा सकता। चित्रालंकार का सम्बन्ध चाहे चित्रकला से भले ही जोड़ा जा सके किन्तु संगीत से उसका सीधा सम्बन्ध नहीं है। हाँ अपने सम्पूर्ण भेदों और उपभेदों सहित यमक और अनुप्रास निश्चय ही कविता में आन्तरिक संगीत का संवर्धन करते हैं।

अनुप्रास का वृत्तियों से सीधा सम्बन्ध है। कमल का उपर्युक्त उदाहरण उपनागरिका वृत्ति का सुन्दर उदाहरण है क्योंकि इसमें माधुर्याभिव्यंजक वर्ण अथवा व्यंजन अपनी संगीतात्मकता के कारण सहृदय-हृदय-हारी बन गए हैं। 'काव्य प्रकाश' के अष्टम् उल्लास में मम्मट ने वृत्तियों का जो विश्लेषण किया है उस का प्रमुख आधार संगीतात्मक वर्ण-योजना ही है। वृत्तियों गुणों और अलंकारों से जो रचना जितनी ही सुसज्जित होती है वह आन्तरिक संगीत में उतनी ही समृद्ध हो जाती है और इस सौन्दर्य में जितनी कमी आ जाती है उसी अनुपात से उसमें आन्तरिक संगीत भी कम हो जाता है।

कवि को जहाँ वातावरण को ओजपूर्ण बनाना होता है वहाँ वह परुषावृत्ति का प्रयोग करता है। ओज गुण के समावेश से कविता में प्रयुक्त शब्दों की ध्वनि कठोर हो जाती है फलतः उनकी सहायता से वातावरण की कठोरता स्पष्ट हो जाती है यही कारण है कि वीर रस के सफल चित्रण में कवि कर्ण कटु शब्दों का उपयोग करता है। ऐसी रचना को पढ़कर पाठक का चित्त भी उद्दीप्त हो उठता है। प्रलय-हेतु भूषण कृत तलवार का यह वर्णन उपस्थित है

(कवित्त)

निकसत म्यान तें मयूखें प्रलै-भानु कैसी
फारैं तम तोम-से गयन्दन के जाल को।
लागति लपकि कंठ बैरिन के नागिन-सी
रुद्रहिं रिझावैं दै दै मुंडन की माल को॥

लाल छितिपाल छत्रसाल महाबाहु बली
कहाँ लौं बखान करौं तेरी करवाल को।
प्रतिभट-कटक कटीले केते काटि काटि,
कालिका-सी किलकि कलेऊ देति काल को" ॥ १

इस कवित्त की अन्तिम दो पंक्तियों में ध्वन्यात्मक कठोरता ने वातावरण को औचित्य प्रदान किया है। इन पंक्तियों के उच्चारण में जिह्वा की उलट-पुलट और उच्चरित 'क' तथा 'ट' ध्वनियों की कठोरता तलवार की कटाकट को मूर्तिमान कर देती है।

वीर रस का यही सिद्ध कवि जब शृङ्गारपरक रचनाएँ करने लगता है तब उसकी वाणी भी भावानुकूल होकर परिवर्तित हो जाती है। यहाँ वह कठोरता नहीं रहती जो वीर रस की वर्णना में अपेक्षित है। मुग्धा नायिका का यह शब्द-चित्र द्रष्टव्य है

(दुर्मिल सवैया)

" मति मीति भरी सुखमा सु भरी मुख ऊपर आइ रहीं अलकैं।
कवि भूषन अंग नवीन बिराजत मोतिन-माल हिये झलकैं॥
उन जोबन की मनसा मन की सिध होत गई सगरी ललकैं।
हरि आवन बाहर बात मनी मुसुकानि किधौं छवि की छलकैं॥ २

रस का सीधा सम्बन्ध मानव-हृदय की भावनाओं से है अतः कवि को यदि भावाभिव्यक्ति में स्वाभाविकता का समावेश करना है तो उसे अपनी वाणी को भी तदनुकूल मार्दव प्रदान करना होगा। लोक-व्यवहार में भी कण्ठ-स्वर का यह उतार चढ़ाव छिपा नहीं रहता। वाणी के इस विशेषत्व से हृद्गत भावनाओं की अभिव्यक्ति बड़ी सक्षम हो जाती है।

---

१ श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र द्वारा सम्पादित 'भूषण-ग्रन्थावली' (छत्रसाल दशक) पृष्ठ-११८, द्वितीय संस्करण

२ श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र द्वारा सम्पादित 'भूषण-ग्रन्थावली' (फुटकर) पृष्ठ ११७, द्वितीय संस्करण

उदाहरणार्थ

फुटकर

(उद्धव वचन कृष्ण प्रति)

" धाय जुरीं बिजुरी सी किलेकन प्रेम प्रवाह कथा तिन बांची ।
ऊधो सुनो तुम ऊधो सुनो तुम ऊधो सुनो तुम या धुनि मांची ।
ठाकुर कौन सों का कहिये रहि देखि कै मेरी गिरा यह नाची ।
हां इतनी कहते ई परी हमें सांची हैं सांची हैं सांची हैं सांची । १

'ऊधो सुनो तुम' अथवा 'सांची हैं' के पुनरावर्तन से पदावृत्तिमूलक वीप्सा का जो समावेश हुआ है वह निश्चय ही भाव को अद्भुत स्वाभाविकता प्रदान कर रहा है। भाव की तरलता जो तवर्ग के वर्णस्वर्ष 'न' से प्रवाह मिला है तथा मधुर कोमल पद रचना से मनोवैज्ञानिक प्रांजलता भी प्राप्त हुई है, अतः यहाँ माधुर्य गुण और उपनागरिका वृत्ति भी विद्यमान है।

गुण अवश्य ही रस के धर्म हैं, परन्तु अलंकार रस के धर्म नहीं। रस से रहित कविता में भी अलंकारों का समावेश हो सकता है और निश्चय ही ऐसी स्थिति में भी शब्दों की नादात्मकता छन्दों के प्रवाह में सचरण करती हुई दृष्टिगोचर होती है किन्तु जहां अलंकार भावों का गला घोटने लगते हैं वहाँ उन अलंकारों का आन्तरिक संगीत भी निष्फल हो जाता है। अनुप्रासादि के दुराग्रह की अथवा अलंकारों से कविता को भाराक्रान्त बनाने की प्रवृत्ति की किसी आलोचक ने कभी सराहना नहीं की। अस्तु यदि कोई अलंकार भाव को उत्कर्ष प्रदान करता है तो उसका आन्तरिक संगीत भी भावोत्कर्ष में सहायक होता है, किन्तु यदि अलंकार इस उद्देश्य में सफल नहीं होते तो उनमें निहित आन्तरिक संगीत भी विकृत हो जाता है।

कुशल कवि की भाषागत सजीवता उसके शब्द-चयन पर ही निर्भर है। उक्ति को मर्मस्पर्शी बनाने के लिए मानव प्रकृति का सम्यक् ज्ञान अपेक्षित है। भाषा को भाव के अनुकूल और भाव को भाषा के अनुकूल रखने का कवि को बराबर ध्यान रखना पड़ता है। संगीतात्मक शब्द-अनुगुम्फन से उक्ति की हृदय स्पर्शिता पाठक के मानस का उद्वेलन ही नहीं करती उसके अन्तस् में पैठ भी जाती है। बिहारी का यह दोहा द्रष्टव्य है

१ लाला भगवान दीन द्वारा सम्पादित 'ठाकुर-शतक', पृष्ठ-४३, प्रथम संस्करण

" नीन मुनें कानों कहीं सुरति बिसारन नाह।
बतरावनी ज्यौं लत है ए बरत बरराह " ॥ १

यहाँ विरहिणी के व्याकुल हृदय की जो अभिव्यक्ति हुई है वह अनुप्रास और यमक की सर्वांगात्मकता से और भी तरल हो गयी है। फलतः इस तारल्य का सामञ्जस्य ग्रहण करके विरहिणी की कातर अभिव्यक्ति और भी निकटता से पाठकों के हृदय को छू जाती है।

उपर्युक्त उद्धरणों के प्रत्युदाहरणस्वरूप ऐसे छन्द भी उपस्थित किये जा सकते हैं जहाँ शब्दालंकारों की सप्रयास स्थापना में उलझ जाने के कारण रचनाकार के कवि-हृदय का अपहरण सा हो गया है। बिहारी का ही यह दोहा उपस्थित है

" कनकु कनक तें सौगुनी मादकता अधिकाइ।
उहिं खायें बौराइ, इहिं पायें ही बौराइ॥" २

यहाँ 'कनकु कनक' में यमक का जो प्रतिष्ठान है वह अपनी सर्वांगात्मकता के कारण बुद्धि को चमत्कृत तो करता है, किन्तु उक्ति की नीतिपरक सात्त्विकता के सन्दर्भ में इस सर्वांगात्मकता से कोई उल्लेखनीय सहयोग प्राप्त नहीं होता।

देव ने भी अनुप्रास के फेर में पड़कर कहीं-कहीं अपने हृदय की राग परिकल्पना को समानान्तर रूप से अलंकारभाराक्रान्त बना लिया है

" तेरी सी बेनी है स्याम भुजंग
डसीयो बनी है स्याम भमा सी।
पूरनमासी सी तू उजरी
मन सामी उजारी है पूरनमासी॥
तेरो सो आनन चन्द बन्यो
सुभ आनन में उगो चंद समा सी।
सोऊँ बधू रमनीय रमा
'कविदेव' है तू रमनीय रमा सी॥" ३

---

१ श्री जगन्नाथ दास 'रत्नाकर' कृत 'बिहारी-रत्नाकर' दोहा-६१

१ श्री जगन्नाथ दास 'रत्नाकर' कृत 'बिहारी रत्नाकर' दोहा-११२

२ कवि किंकर कृत 'देव-रत्नावली' पृष्ठ ११८ (आलोक पुस्तक माला सं०१) भारतवासी प्रेस दारागंज-प्रयाग

उपर्युक्त छन्द में नायिका के सौंदर्य-निरूपण में उपमा के अतिरिक्त यमक और अनुप्रास की भी पर्याप्त सहायता ली गयी है, परन्तु इनके द्वारा जो नादात्मक सौन्दर्य उत्पन्न हुआ है वह भाव के अभाव में सम्बन्धहीन होकर व्यर्थ हो गया है। आंतरिक संगीत की ऐसी ही निष्क्रियता भूषण के इस कवित्त में भी मिलती

ऊँचे घोर मंदर के अंदर रहनवारी ।
　　ऊँचे घोर मंदर के अंदर रहाती हैं ।
कंद-मूल भोग करें कंद-मूल भोग करें
　　तीन बेर खाती ते वै तीन बेर खाती हैं ।
भूषन सिथिल अंग भूषन सिथिल अंग
　　बिजन डुलाती ते वै बिजन डुलाती हैं ।
भूषन भनत सिवराज वीर तेरे त्रास,
　　नगन जड़ाती ते वै नगन जड़ाती हैं" । १

इसी प्रकार 'तासपाती खाती ते बनासपाती खाती हैं'२ अथवा 'धाकधक धमू के धधाकधक धडू ओर' ३ जैसी उक्तियों में यमक की चमक से उद्भूत आन्तरिक संगीत तो अवश्य है किन्तु इनमें भावगत सार्वजनीनता की न्यूनता होने से आन्तरिक संगीत बुद्धि को चमत्कृत करके रह जाता है, भावोत्कर्ष में सहायक नहीं होता। संगीतोपयोगी ध्वनि का तो लक्ष्य ही भावों का स्पष्टीकरण है किन्तु जहाँ भाव ही तिरोहित हो जाता है वहाँ नादात्मकता भी निष्क्रिय हो जाती है।

देव और भूषण के उपर्युक्त उदाहरण ऐसे हैं जिनमें शब्द-योजना अलंकार कौशल से युक्त होकर भी अभीप्सित आन्तरिक संगीत का उद्रेक नहीं कर सकी है किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि सर्वत्र उनकी रचनाओं में ऐसा ही हुआ है। वे कवि रीतिकाल के सिद्ध कवियों में से हैं अतः इनकी रचनाओं में भी चातुर्य पूर्ण शब्द-संगुम्फन की वह प्रकार विद्यमान है जो किसी भी रचना को संगीतात्मक गौरव से समृद्ध बना देती है। देव के निम्नांकित छन्दों की संगीतमय

१ श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र द्वारा सम्पादित 'भूषण-ग्रन्थावली' (शिवा-बावनी) पृष्ठ-७९ द्वितीय संस्करण
२ वही पृष्ठ-७९
३ वही पृष्ठ-८१

छन्द-योजना के चमत्कार को भला कौन अस्वीकार कर सकता है !

हौं ही ब्रज वृन्दावन मोही में बसत सदा
जमुना तरंग स्याम रंग अवलीन की।
चहुँ ओर सुन्दर सघन बन देखियत
कुंजनि में सुनियत गुंजनि अलीन की॥
बंसीबट तट नट-नागर नटतु,
मोमैं रास के बिलास की मधुर धुन बीन की।
भरि रही भनक बनक ताल तानन की
तनक तनक तामें झनक चुरीन की॥ १

इस सवैये की प्रथम पंक्ति में 'तरंग' 'स्याम रंग' 'अवलीन' जैसे शब्दों की नादात्मकता से कवि ने यमुना की लहरों के कलकल प्रवाह को मूर्तिमान कर दिया है। छन्द की लय में इन शब्दों के उच्चारण मात्र से जीभ को कुछ ऐसे लपेटे लेने पड़ते हैं मानो एक के बाद एक लहर उठती चली आ रही हो। दूसरी पंक्ति में 'सघन' 'बन' 'कुंजनि' 'गुंजनि' की संगीतात्मकता ने भ्रमरावली की गुंजार को सजीव कलात्मकता से पूर्णता प्रदान की है। तीसरी पंक्ति में 'बट' 'तट' 'नटतु' 'मधुर' 'धुनि' में नृत्योपयोगी तबले के 'धातिर' 'तिरकिट' धति धन इत्यादि बोलों की अनुकृति पर्याप्त सजीव है। अन्तिम पंक्ति में तो नृत्य में अंग-संचालन करते समय चूड़ियों की झंकार ने मिलकर जो हृदयहारी आकर्षण उत्पन्न कर दिया है वह निश्चय ही काव्यगत आन्तरिक संगीत का उत्कृष्ट उदाहरण है। देव के निम्नस्थ छन्द में भी आन्तरिक संगीत का चमत्कार दर्शनीय है

घहर-घहर भीनो सीतल समीर डोलै
थहर-थहर बन बेलि के बहरिया।
झहर-झहर झुकि झीनी झरि लायो देव
छहर-छहर छोटी बूँदन छहरिया।
हहर-हहर हँसि हँसि के हिंडोरे चढ़ी
थहर-थहर तन कोमल थहरिया।
फहर-फहर होत पीतम को पीतपट,
लहर-लहर होत प्यारी की लहरिया॥२

---

१ डा० नगेन्द्र कृत 'देव और उनकी कविता' से उद्धृत पृष्ठ-२२१

२ 'रीति-शृङ्गार', सम्पादक डा० नगेन्द्र पृष्ठ ११० प्रथम संस्करण

यहाँ भी बादलों की गड़गड़ाहट, बूँदों की झड़ी, मन्द वायु का संचरण और उसी में लहरिया का लहराना संगीतात्मक शब्द-योजना द्वारा ही मूर्तिमान किया जा सका है।

कुछ शब्द ऐसे भी होते हैं जिनकी नादात्मकता सहजात होती है अर्थात् ऐसे शब्दों का उच्चारण करते ही उनका भाव अपने-आप प्रकट हो जाता है। ऐसे शब्द भी शब्दालंकारों की ही कोटि में आयेंगे किन्तु अर्थव्यंजनकारी शब्दों को हमारे रीतिशास्त्र में कोई विशेष नाम प्राप्त नहीं है। अंग्रेजी में इस प्रकार का अभिधान 'ओनोमेटोपोइया' है। अस्तु हिन्दी में ऐसे अनुकरण मूलक शब्दों का अलंकार शास्त्र की दृष्टि से चाहे कोई विशेष नाम हो अथवा न हो किन्तु इनका प्रयोग अनेक श्रेष्ठ कवियों की रचनाओं में सहज ही मिल जाता है। ऐसे शब्दों की सहज स्वाभाविकता में नादागत चमत्कार की अनुपम क्षमता होती है। नादानुरूप शब्दों की सहायता से भाषा कितनी अर्थगर्भित हो जाती है इसके उदाहरणस्वरूप भूषण का यह छन्द द्रष्टव्य है

भूषण

डंका के दिए तें दल दबर उमंड्यो उमंड्यो
उममंगम सों सुर की गरद है।
जहाँ दाराशाह बहादुर के बहुत पैग
पैग में मदत मान राग गमगद है ॥
भूषन भनत भने घुम्मत हरौलवारे
किम्मत अमोल बहु हिम्मत गुरद है।
हद पर छपद महि मद फरगद होत
कद गमगद से असद सम रद है ॥ १

देव ने यदि चूड़ियों की कोमल झंकार के लिए अनुप्रासमय कोमल शब्द योजना और मधुरावृत्ति का प्रयोग किया है तो भूषण ने ओजगुण के समुचित समावेश के द्वारा अपनी रचना में ऐसी कठोरता समाहित कर दी है कि इस

---

१ 'भूषण ग्रन्थावली
(सम्पादक श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र)
पृष्ठ-१११ द्वितीय संस्करण

रचना के श्रवण मात्र से अर्थ की प्रतीति हो जाती है। इस उद्धत पद संघटना१ के चमत्कार का आधार आन्तरिक संगीत ही है। उपर्युक्त कवित्त का आरम्भ टंक की ध्वनि से होता है। इस ध्वनि को मूर्तिमान करने में 'घन घनर' 'घम घुमों' 'उघमेंघुमो' 'घमघम' जैसे अर्थध्वननकारी शब्द अतीव सहायक हुए हैं। टवर्ग का प्राधिक्य तथा 'घरर' 'भंभर' 'ढुरर' 'कर' 'थर' 'जनर', 'दर' 'झिम्मत' 'घुम्मत' 'हिम्मत' इत्यादि में समान वर्णों का परस्पर संयोग स्वयमेव ही उस नादपरक गम्भीर वातावरण का सृजन कर देता है जिसके द्वारा अभियान के समय के व्यापार तथा मारु राग की कठोरता कानों में गूंज उठती है। ऐसी पद्य शब्दावली से ओज अभिव्यंजक जिस आन्तरिक संगीत का उद्रेक होता है उसी के मोह के कारण परम्परा से ऐसी शब्द-योजना होती आयी है। निश्चय ही इस संगीत में भी हृदय को स्पर्श करने की क्षमता होती है। ऐसी रचनाओं में से आन्तरिक संगीत उत्पन्न करने वाले अर्थध्वनन-समृद्ध कठोर शब्दों को यदि

---

१ ('ओज' के अभिव्यंजक)

(१००) योग आद्यतृतीयाभ्यामन्त्ययो रेण तुल्ययोः ।
टादिः शषौ वृत्तिदैर्घ्यं गुम्फ उद्धत ओजसि ॥

अनुवाद—ओज के जो अभिव्यंजन-साधन हैं वे ये हैं—

(१) वर्ण—जैसे कि कवर्ग आदि वर्गों के प्रथम (क, च ट त प,) और तृतीय (ग ज ड द ब) वर्णों का उनके अपने अपने अन्त्य (वर्गों के प्रथम वर्णों के अन्त्यवर्ण ख छ, ठ थ फ और वर्गों के तृतीय वर्णों के अन्त्य वर्ण घ झ, ढ ध भ) वर्णों से संयोग अथवा नैरन्तर्य (जैसे कि 'पुच्छ' 'बद्ध' आदि में), रेफ का नीचे, ऊपर अथवा दोनों ओर से संयोग जैसे कि वक्र, निर्ह्राद आदि में), समान वर्णों का परस्पर संयोग (जैसे कि वित्त चित्त आदि में), ट ठ ड और ढ वर्ण तथा शकार और षकार।

(२) वृत्ति—जैसे कि दीर्घवृत्ति अथवा दीर्घ समास और—

(३) रचना—जैसे कि उद्धतवर्णावलि वाली उद्धत पदसंघटना। श्री मम्मट कृत 'काव्य-प्रकाश' अष्टम उल्लास पृष्ठ-३००, ३०१ चौखम्बा विद्याभवन-बनारस से प्रकाशित

प्रकाश किया जाय तो फिर इनमें रह ही क्या जायगा ? यही कारण है कि ओजगुण और पदावृत्ति को वीर, बीभत्स रौद्र आदि कठोर भावों की अभिव्यक्ति के लिए उपयुक्त माना जाता है।

वस्तुतः रीतिकालीन काव्य में शब्दों की जो कारीगरी हुई उस में आन्तरिक संगीत सदैव सहायक हुआ है। इन रीतिकालीन कवियों के पूर्ववर्ती कवि तो वे ही भक्त गायक थे भक्ति के आवेश में उन्होंने जो कुछ गाया वही काव्य की कोटि में आ गया परन्तु ये कवि कलाकार थे फलतः शब्दों और छन्दों की कारीगरी से इन्होंने आन्तरिक संगीत का जो चमत्कार उत्पन्न किया वह इनकी कला का प्रमुख गुण ही बन गया।

अस्तु, रीतिकालीन कवियों की छन्द और अलंकार-योजना का संगीत से जो सम्बन्ध रहा है उसके अध्ययन के फलस्वरूप प्राप्त निष्कर्ष ये हैं

छन्द-योजना

१ कविता छन्दोबद्ध होने पर ही अधिक लोमनीय प्रतीत होती है तथा छन्दात्मक-निबन्धना संगीत की लय पर ही आधृत है।
२ कवित्त और सवैया दोनों ही गेय हैं। इस तथ्य के प्रमाणस्वरूप अनेक ऐसे ध्रुपद या अन्य आलापिकाएँ उपस्थित की जा सकती हैं, जिनके बोल कवित्त या सवैया छन्द में बंधे हुए हैं।
३ मात्र कलाकार के भेद से कविता का गेयत्व नष्ट नहीं हो जाता। दोहे और छप्पय भी सदैव गेय रहे हैं। सच तो यह है कि प्रायः सभी छन्द सफलतापूर्वक गाये जा सकते हैं।
४ छन्दों से चाहे रस की सीधी प्रतीति न हो परन्तु पृथक-पृथक छन्दों की संगीतपरक लयात्मकता विभिन्न रसों के अनुकूल अवश्य सिद्ध होती है, इसी कारण कुशल कवि सदैव भाव के अनुकूल लय या संगीतात्मक प्रवाह का सावधानी से चयन करता है।

अलंकार-योजना

१ छन्द के प्रवाह में शब्दों के नादात्मक अनुरणन से एक ऐसे आंतरिक संगीत की सृष्टि होती है जिसमें पाठक या श्रोता को आकर्षित कर लेने की अमोघ क्षमता होती है।
२ वीप्सा अनुप्रास अथवा यमक जैसे शब्दालंकारों एवं अगले पदों का

स्वयमेव ही ध्वनन करने वाले अर्थव्यंजनकारी या अनुकरणमूलक शब्दों की सहायता से कवि की रचना का सहज ही भावानुकूल भावपरक वातावरण प्राप्त हो जाता है। यह तत्त्व कवि की वाणी को भावानुकूल मार्दव माधुर्य ओज इत्यादि प्रदान करने में अतीव सहायक होता है, अतः आन्तरिक संगीत का काव्य शास्त्र में वर्णित गुणों और वृत्तियों से भी सीधा सम्बन्ध जुड़ जाता है।

३ रस के आश्रित अथवा अलंकार रस का अंग ही बन जाते हैं, किन्तु जहाँ अलंकारों की अनावश्यक प्रदर्शनी के साथ शब्दाडम्बर उपस्थित किया जाता है वहाँ उनसे उत्पन्न होने वाला आंतरिक संगीत भी प्रभावहीन हो जाता है।

४ रीतिकालीन कवियों ने अपनी काव्यपरक सौंदर्य-साधना में छन्द-योजना और अलंकार-योजना से उत्पन्न होने वाले संगीतात्मक प्रवाह और प्रभाव का बड़े परिश्रम से समाविष्ट किया है, अतः इस विशेषता के अनुशीलन के अभाव में उनकी रचना चातुरी का अध्ययन सर्वांगीण नहीं बन सकता।

परिच्छेद-८

रीतिकालीन प्रमुख काव्य-रूपों

का

संगीत से सम्बन्ध

रीतिकालीन प्रमुख काव्य-रूपों का संगीत से सम्बन्ध

परिच्छेद-८

रीतिकालीन गीतिकाव्य और संगीत

(क)

रीतिकाल में आकर भक्ति की पावन धारा संकीर्ण तो अवश्य हो गयी परन्तु सूखी नहीं। वस्तुतः हिन्दी-साहित्य में ऐसा युग कभी नहीं आया जब किसी विशेष प्रकार की काव्य-रचना एकदम बन्द हो गयी हो। युग परिवर्तित होते हैं, परिस्थितियाँ बदलती हैं और इन्हीं के साथ काव्याभिरुचि में भी भिन्नता आती रहती है। फलतः किसी युग में यदि एक मनोवृत्ति प्रबल रहती है तो दूसरे युग में कोई दूसरी मनोवृत्ति अधिक प्रबल हो जाती है। युग-मनोवृत्ति के ऐसे ही परिवर्तन के कारण रीतिकाल में परम्परागत पद-शैली चाहे ह्रासोन्मुख हो गयी हो परन्तु इस युग में भी वह विस्मृत नहीं हुई। भक्त कवियों ने प्रायः गीतिकाव्य को ही अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया है।

रीतिकाल में शृङ्गारिक मनोवृत्ति का प्राधान्य था अतः इस युग के काव्य में शृङ्गार का इतना अधिक वर्णन हुआ कि यह युग ही शृङ्गार काल कहा जाने लगा परन्तु रीतिकाल से पूर्व निर्गुण और सगुण भक्ति-सम्बन्धी रचनाओं की जो परम्परा स्थापित हो चुकी थी उसके सम्बन्ध-सूत्र रीतिकाल में टूटे नहीं थे। निर्गुणोपासक और सगुणोपासक भक्त इस युग में भी विद्यमान थे और वे आत्मप्रबोध, ज्ञान-वैराग्य की दृढ़ता या भक्ति-भावना के उत्कर्ष के लिए संगीत को अपनी साधना का अंग बनाकर भक्तिकालीन कवियों की भाँति अपने उपास्य में तल्लीन थे।

संगीत में तन्मयता उत्पन्न करने की जो अपरिमेय शक्ति है उसे सन्तों और भक्तों ने बहुत पहले ही भली-भाँति पहचान लिया था। इसी कारण चाहे निर्गुणोपासना हो चाहे सगुणोपासना दोनों ही में संगीत समान रूप से गृहीत हुआ

सन्तों और भक्तों ने अपने हृदय की अभिव्यक्ति प्रधानतः संगीत के माध्यम से ही की है, अतः रीतिकालीन गीतिकाव्य में सांगीतिक तत्त्वों का अभाव नहीं है। हाँ यह अवश्य है कि इस युग के निर्गुण भक्तों ने जो कुछ गाया उस पर कबीर का प्रभाव और सगुण भक्तों ने जो कुछ गाया उस पर सूर, तुलसी और मीरा का प्रभाव अत्यधिक है। वस्तुतः इस युग के गीतिकाव्य में कबीर, नानक सूर, तुलसी मीरा इत्यादि की पुनरावृत्ति ही अधिक हुई। भक्तिकालीन सगुणोपासकों और निर्गुणोपासकों के समान रीतिकालीन पद-रचयिताओं में अनुभूति की विभूति का सार्वत्य नहीं है। फिर भी इसका यह अर्थ नहीं कि उनमें वैयक्तिकता का एकान्त अभाव है या उनमें हृदय की स्निग्ध पुकार है ही नहीं। प्रश्न केवल सापेक्षिक महत्त्व का है।

जहाँ तक निर्गुण सन्त कवियों की रचनाओं का सम्बन्ध है साहित्यिक समीक्षा की दृष्टि से उनकी रचनाएँ जितनी नीतिपरक और उपदेशात्मक हैं उतनी काव्योचित राग रसिकता से सम्पन्न नहीं किन्तु उस युग में जिस शीतल और शान्तिमयी वाणी की आवश्यकता थी वह संगीत के माध्यम द्वारा इन्हीं के कण्ठ से निःसृत हुई। उनकी मान्यताओं के इतने प्रचार का कारण उनका साहित्यिक ज्ञान नहीं संगीत प्रेम ही है। सुन्दरदास को छोड़कर प्रायः सभी सन्त कवियों के सम्बन्ध में जो ऐतिहासिक प्रमाण मिलते हैं वे यही सिद्ध करते हैं कि वे विशेष पढ़े लिखे नहीं थे। १ जिस ज्ञान-मार्ग का उन्होंने अनुसरण किया उसकी शास्त्रीय ऊहापोह में भी वे नहीं पड़े थे। ऐसी स्थिति में यदि संगीत का अवलम्ब भी उन्होंने ग्रहण न किया होता तो इस बात की कल्पना करना कठिन नहीं कि उनकी अभिव्यक्ति का क्या प्रभाव पड़ता अथवा जन साधारण में अपनी बातों का प्रचार वे किस सीमा तक कर पाते। निश्चय ही संगीत के अभाव में उनकी वाणी स्थायित्व प्राप्त करने में कम ही समर्थ हो सकती थी। ज्ञान-वैराग्य का विषय कुछ ही लोगों को प्रिय होता है परन्तु इन भावनाओं से संगीत से सम्पृक्त हो जाने पर पहले संगीत के जादू से हृदय

---

१ "निर्गुणपन्थियों में ये ही एक ऐसे व्यक्ति हुए हैं जिन्हें समुचित शिक्षा मिली थी और जो काव्य-कला की रीति आदि से अच्छी तरह परिचित थे।"

आचार्य शुक्ल कृत "हिन्दी-साहित्य का इतिहास
पृष्ठ-१०० संस्करण संवत् १९९९

खिंचता है फिर उसके बहाव में बहने वाला मन ज्ञान-वैराग्य की भावना पर भी झुकने लगता है। श्रोता के लिए ही नहीं गायक या भक्त के सम्बन्ध में भी यह बात सोलहों आने ठीक है।

गीतिकाव्य की दृष्टि से रीतिकालीन प्रमुख सन्त कवि मलूकदास सुन्दरदास तुलसी साहब भीखा साहब यारी साहब गुलाल साहब पलटू साहब सहजोबाई दयाबाई इत्यादि हैं।

इन कवियों के पदों की यदि उस युग में प्रचलित क्रियात्मक संगीत की दृष्टि से समीक्षा सम्भाव्य होती तो काम की बहुत सी बातें हाथ लग सकती थीं किन्तु रीतिकालीन भक्त कवियों के पद ही नहीं हिन्दी का प्राय: समस्त पद साहित्य तत्कालीन क्रियात्मक संगीत की दृष्टि से नहीं जाँचा जा सकता। संगीत श्रवण विद्या है और इसका सीधा सम्बन्ध कर्णेन्द्रिय से है परन्तु काल का दीर्घ व्यवधान उपस्थित हो जाने के कारण पुराने पदों का तत्कालीन प्रचलित गेय स्वरूप अब उपलब्ध नहीं हो सकता। यदि इनकी प्राचीन स्वरलिपियाँ ही प्राप्य होतीं तब भी इस सम्बन्ध में बहुत कुछ अनुमान लगाया जा सकता था किन्तु इनका भी अभाव होने के कारण केवल कल्पना-किरण के माध्यम से ही उस धूमिल अतीत की यत्किंचित छानबीन हो सकती है।

एक बात और भी है। पद रचयिता के लिए यह बहुत आवश्यक नहीं है कि वह स्वत: अच्छा संगीतज्ञ भी हो। ऐसा हो सकता है कि गुरु द्वारा कोई पद बनाया जाय और मधुर कण्ठ वाले शिष्य उन्हें अपने न्यूनाधिक संगीत ज्ञान के अनुसार गाने लगें। ऐसी स्थिति में पद का शब्द-स्वरूप गुरु द्वारा तो नाद-स्वरूप शिष्यों द्वारा निर्मित होता है। यदि पद रचयिता ही उसका गायक भी हो तब पद के सम्बन्ध में राग-निर्देश सहज स्वाभाविक होता है अन्यथा राग-द्योतक प्राय नहीं हुआ करता। सूर तुलसी मीरा नन्ददास भारतेन्दु हरिश्चन्द्र प्रभृति के पदों में राग-निर्देश इसी कारण हो गया है कि इन सभी का क्रियात्मक संगीत से पर्याप्त सम्बन्ध था किन्तु यारी साहब भीखा साहब गुलाल साहब इत्यादि की अनेक रचनाओं पर राग-द्योतक के स्थान पर 'शब्द' लिखा हुआ है। वैसे 'शब्द' और पद के व्यापार में सांगीतिक दृष्टि से कोई उल्लेखनीय अन्तर नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि 'शब्दों' की रचना तो निश्चय ही गाने के लिए हुई, किन्तु या तो वे किसी साम्प्रदायिक शैली की धुन में—बिना किसी शास्त्रीय राग ताल की विशेष चिन्ता किये—गाये जाते रहे या फिर इनके नादस्वरूप को गाने वाले की स्वेच्छा पर छोड़ दिया गया। निर्गुण भक्तों और

सगुण भक्तों की भक्ति के स्वरूप में सरसता का जैसा अन्तर है वैसा ही अन्तर 'सबदों' और पदों में भी दृष्टिगोचर होता है। यह भी ध्यान देने की बात है कि सगुण भक्तों ने अपने पदों को कभी 'सबद' नहीं कहा। उनके पद बस पद ही है और कुछ नहीं। इधर निर्गुण ज्ञानाश्रयी शाखा के सन्तों ने 'सबद' लिखे जिनका सांगीतिक भावस्वरूप भी उनके निर्गुण ब्रह्म के समान कुछ इस प्रकार का रहा जिसे जो जानता है बस वही जानता है तथापि जहाँ भावावेश के कारण 'सबदों' में कुछ सरसता आ गयी है अथवा उनमें बाह्य संगीत के समावेश के कारण राग-नाम का निर्देश किया जा सका है वहाँ गीतिकाव्य की विशेषताओं के साथ संगीत के तत्त्व भी उभर आये हैं। उदाहरणार्थ मलूकदास, सुन्दरदास और यारी साहब के ये पद द्रष्टव्य हैं

मलूकदास

"आपा खोज रे जिय भाई।
आपा खोजे त्रिभुवन सूझै, अंधकार मिटि जाई।।
कोई मन खोई परमेसुर कोई बिरला अपपू जाने।
जोग जोगीसुर सब घट व्यापक सो यह रूप बखाने।।
सबद अनाहद होत जहाँ तें तहाँ ब्रह्म को बासा।
गगन मंडल में करत कलोलें परम जोति परगासा।।
कहत मलूका निरगुन के गुन कोई बड़भागी गावै।
क्या गिरही और क्या बैरागी जाहि हरि देय सो पावै।।" १

सुन्दरदास

"देखहु दुरमति या संसार की।
हरि सों हीरा हाथ तें खोवत बांधत मोट बिकार की।।
नाना बिधि के करम कमावत खबर नहीं सिर भार की।
झूठे सुख में भूलि रहे हैं फूटी आंख गंवार की।।
कोई खेती कोई बनजी लागे कोई आस हथ्यार की।
अंध-धंध में चहुँदिसि ध्याये सुधि बिसरी करतार की।।

१ 'मलूकदास जी की बानी' (बेलवेडियर प्रेस प्रयाग) पृष्ठ-१७ प्रथम संस्करण

नरक जानि के मारग चाले सुनि सुनि बात गंवार की।
अपने हाथ गले में बाही पासी माया जार की॥
बारम्बार पुकार कहत हौं सौंहैं सिरजन हार की।
सुन्दरदास बिनस करि जैहै देह छिनक में छार की॥"[1]

यारी साहब

"या बिधि भजन करो मन भाई।
निर्मल नाम भजो बिनु लोचन सेत फटिक रोसनाई॥१॥
दीप कि सुरति प्रकास बसत जस चित चकोर चंदाई।
कुंभक नीर उलटि भरी जैसे सागर बुंद समाई॥२॥
जैसे मृग की रीति परस्पर, मोह कंचन ह्व जाई।
मन मगरी पर बाल नाचन सम कुंभ-कला नट भाई॥३॥
तत तिलक छापा मन मुद्रा अजपा जाप थिर पाई।
भंवर गुफा डाहु क मेवासा जोग जुगति बनि आई॥४॥
बांबी उलटि सर्प को खाई ससि में मीन नहाई।
यारीदास कोई गुरु भेदा जिन यह जुगति बताई॥५॥"[2]

उपर्युक्त उद्धरणों में मलूक दास और यारी साहब के 'सन्त' निर्गुण भक्ति-भावना की सीधी अभिव्यक्ति है। यही बात सुन्दरदास की रचना में भी है किन्तु वे क्योंकि कोरे सन्त ही नहीं काव्य-मर्मज्ञ भी हैं अत उनकी रचना में छन्दात्मक प्रवाह और अर्थगर्भित सरस शब्द-योजना के कारण अपेक्षाकृत अधिक संगीतात्मक प्रवाह आ गया है। हरि चर्चा मलूकदास की रचना में भी है और सुन्दरदास की रचना में भी किन्तु यह सुन्दरदास की अधिक साहित्यिकता का ही परिणाम है जिसके कारण उनकी रचना में पाठक को अधिक आत्मीयता प्रतीत होती है। मलूकदास के पद में 'शब्द समाहुत' का उल्लेख है और यारी साहब ने भी पहली ही पंक्ति में भजन की बात कही है अत रचे तो दोनों ही पद

---

१ 'कविता कौमुदी' पहला भाग (सम्पादक राम नरेश त्रिपाठी) पृष्ठ-१४१ १४४ पांचवी संस्करण

२ 'यारीसाहब की रत्नावली' (बेलवेडियर प्रेस प्रयाग) पृष्ठ-१

गाने के लिए बने हैं किन्तु इन पदों की अभिव्यक्ति को हृदयंगम करने के लिए साम्प्रदायिक ज्ञान की अपेक्षा है अन्यथा इनके गाये जाने पर 'आंधी उमटि सर्प को खाई, नदि में मीन नहाई' 'सोइ मन सोई परमेसुर' 'गगन मंडल में करत कलोलै' जैसी उक्तियाँ गीत सुनने वाले के मस्तिष्क की परीक्षा करने लगेंगी।

उपर्युक्त पदों में राग चयन का काम संगीतज्ञ की स्वेच्छा पर छोड़ दिया गया है किन्तु किसी भी राग की नामिकता स्वानुकूल शब्दावली की अपेक्षा भी तो रखती है। तुलसी साहब (हाथरस वाले) की निम्नोलिखित रचना देखिए। इसमें राग-नाम का भी उल्लेख है

तुलसी साहब

'कानरा ख्याल'

'नाम वोही नाम वोही कोई बूझे भेद भेदी बिन नामा री ।।टेक।।
राम न सके नाम गुन गाई, संतन को दरसाना री ।।१।।
ब्रह्म राम से नाम निनारा रामायन बाखाना री ।।२।।
चौदह भवन काल केरी बंधन पद चौथे परवाना री ।।३।।
कोई सज्जन सतगुर से पावे हिये दृग दृष्टि दिखाना री ।।४।।
सूरत सिखर चढ़ी लख हारे पार पद पहिचाना री ।।५।।
तुलसी गगन गुफ दूर नामी सुन्न किरन समाना री ।।६।।१

इस रचना का शीर्षक 'कानरा ख्याल' है अतः यह पुष्ट इस तथ्य का प्रमाण है कि गुरु तुलसी के युग में प्रचलित ध्रुपद-शैली रीतिकाल में आकर ख्याल-शैली में परिवर्तित हो गयी थी। कानरा कान्हड़ा का ही रूपान्तर है, जिसके एक दर्जन से अधिक प्रकार गायकों में प्रचलित हैं किन्तु कौशी कान्हड़ा नायकी कान्हड़ा अड़ाना कान्हड़ा जैसे कान्हड़े के किसी प्रकार विशेष का स्पष्ट नामोल्लेख न होने पर 'कानरा' से सामान्यतः दरबारी कान्हड़ा का ही बोध होता है। यह राग गम्भीर प्रकृति का है अतः एक ओर तो शृङ्गार की गम्भीरता अभिव्यक्त करने में सहायक होता है तथा दूसरी ओर वैराग्य पक्ष की गम्भीरता

---

१ 'तुलसी साहब (हाथरस वाले) की शब्दावली, भाग-२
पृष्ठ-२४८, बेलवेडियर स्टीम प्रिंटिंग वर्क्स से प्रकाशित

के लिए भी गायकों द्वारा प्राय: व्यवहृत होता रहा है।[1] इस दृष्टि से देखा जाय तो यहाँ रचना के भाव के अनुकूल ही राग-चयन हुआ है, किन्तु इसकी अन्तिम दो पंक्तियों में जो भावना अभिव्यक्त हुई है उसके सहज साधारण्य न होने के कारण अनुभूति की सार्वजनीनता में कमी अवश्य आ गयी है।

सन्त कवियों ने हिंडोलना[2] वसन्त[3] होली[4] इत्यादि शीर्षकों से भी कुछ रचनाएँ लिखी हैं। अपनी अल्हड़ मादकता में झूमता हुआ फागुन का रंगीन महीना जब जन-मानस को भी रंगीन बना देता है तब उसके अन्तस् का उल्लास होली की धुन में गूँज उठता है। होली की इस मस्ती से उनका भी हृदय हिलोरें ले उठता है जो सामान्यतः सांसारिकता से बहुत दूर माने जाते हैं। अध्ययन-हेतु गुलाल साहब और भीखा साहब की अधोलिखित होलियाँ द्रष्टव्य हैं

गुलाल साहब

'होली'

"होरी मन ऐसे जहँ उठत पुंज झनकार।
आठ पहर धुनि लगी रहत है बिनु बाजे बिनु तार ।।टेक।।

---

१ द्रष्टव्य—आचार्य भातखण्डे कृत 'हिन्दुस्तानी संगीत-पद्धति क्रमिक पुस्तक मालिका' भाग-चार पृष्ठ-६१२, ६१३
द्वितीय संस्करण

ख्याल की शब्द-योजना यह है :

राग दरबारी कान्हड़ा

स्थायी

समझत ना मन तू मेरा
लाख बार समझावत हूँ मैं काहे न तजत अंधेरा।

अंतरा

झूठी माया झूठी काया झूठा जगत पसेरा।
अंत समै कोई काम न आवत बस प्रभु एक तेरा ।।

२ द्रष्टव्य—'भीखा साहब की बानी' पृष्ठ १०-११
(बेलवेडियर प्रेस इलाहाबाद) संस्करण सन् १९११

३ वही पृष्ठ ४० ४२

४ वही पृष्ठ, ४९-५०

काम क्रोध जहवाँ नहिं देखियत जहवाँ वार न पार ।
दसों दिसा में होरी उठत प्रभु जी के दरबार ॥१॥
बिमल बिमल सखियाँ गुन गावहिं पंचम सुर झनकार ।
प्रेम पिचुकारी भरि भरि मारत भींजत बहुत अपार ॥२॥
अनुभव फागु खेलत सुख मान्यो निर्मल ज्ञान बिचार ।
कोटि सूर ससि कोटि कोटि छबि झूमक परत बिहार ॥३॥
संतन संग मिलि होरी खेलो प्रीतम चरन बिहार ।
कह गुलाल चरनन बलिहारी बलि बलि प्रान पियार ॥४॥१

भीखा साहब

'होली'

(१)

होरी खो खेले जाके सतगुरु ज्ञान बिचार ।
यहि सिवाइ जो और करतु है ताको जन्म खुवार ॥१॥
इंगल पिंगल दुहुं सुख मंडानो सुखमन भयो उजियार ।
नूर जहूर बरन पर झलकत बरसत अमर अपार ॥ २॥
बाजत अनहद घंटा चहुं धुनि अनिगत शब्द अपार ।
पुलकि पुलकि मन अनुभव नाचत गावत मंगल रिझार ॥३॥
अजर अबीर कुमकुमा केसरि, उमगी प्रेम पोखार ।
राम नाम रस रंग भयो मत काम क्रोध हंकार ॥४॥
व्यापक पूरन अगम अगोचर, निज साहब बिस्तार ।
भीखा खेलत एक समय में है जग सकल हमार ॥५॥२

उपर्युक्त दोनों होलियों की धुन काफी राग की उन सामान्य होलियों के ढंग की प्रतीत होती है जसी फागुन के महीने में प्राय सुनी जाती है । यह ठीक है कि होली के उल्लास से सम्बन्धित गीत बिहाग भैरवी इत्यादि भिन्न भिन्न रागों में भी गाये जा सकते हैं किन्तु काफी राग होली के लिय इतना

१ 'गुलाल साहेब की बानी' (बेलवेडियर प्रेस प्रयाग) पृष्ठ १०२
द्वितीय संस्करण
२ 'भीखा साहब की बानी' (बेलवेडियर प्रेस प्रयाग) पृष्ठ-४२,
संस्करण १९१९

प्रसिद्ध हो गया है कि किसी गायक से होली सुनाने की फरमाइश करने पर वह प्रायः इसी राग में होली सुनाता है। उपर्युक्त दोनों होलियों में सामान्य होलियों जैसी शृङ्गारिकता चाहे न हो किन्तु इनकी भाव गति अथवा प्रवाह दीपचन्दी ताल में काफी राग की प्रचलित होलियों से भिन्न नहीं है। १

परन्तु रीतिकालीन ज्ञानाश्रयी शाखा के कवियों की कृतियाँ संगीत से अलग नहीं हैं। इनकी रचनाओं पर कहीं-कहीं तो स्पष्ट ही राग-शीर्षकों का उल्लेख मिल जाता है और जहाँ नहीं मिलता वहाँ गायकों द्वारा इस कमी की पूर्ति कर भी जाती है। उदाहरणार्थ गीता प्रेस गोरखपुर से प्रकाशित तथा श्री वियोगी हरि द्वारा सम्पादित 'भजन-संग्रह' के जो विभिन्न भाग प्रकाशित हुए हैं उनमें राग और ताल के शीर्षक स्वर्गीय श्री विष्णु दिगम्बर द्वारा दिये गये थे। इस 'भजन-संग्रह' के तीसरे भाग में पृष्ठ १७४ पर सहजोबाई की निम्नांकित रचना राग बिलावल ताल दादरा में दी हुई है

सहजोबाई

'राग बिलावल'

"हरि बिनु तेरो ना हितू कोऊ या जग माहीं।
अन्त समय तू देखिले कोई संग न जाहीं॥
जम सूं कहा छुटाय सके कोई भय न होई।
नारी हू फिरि रहि गई स्वारथ कूं रोई॥
पुत्र कलित्र कौन के भाई अरु बन्धा।
सब ही ठग बसाए हैं समझै नाहिं अन्धा॥
महल दरब यहां ही रहै, पचि-पचि कर जोड़ा।
करहा मन आगे रहै चाकर पद थोड़ा॥
पर काजै बहु दुख सहे हरि-सुमिरन खोया।
'सहजो बाई' जन फिरै सिर धुनि-धुनि रोया॥"

---

१ देखिए आचार्य भातखण्डे कृत
'हिन्दुस्तानी संगीत-पद्धति क्रमिक पुस्तक मालिका'
दूसरा भाग पृष्ठ, ११६ ११८
तृतीय संस्करण

सन्तों का सैद्धान्तिक निरूपण और साधना के विधि-विधान मुख्यतः उनकी स्वानुभूति पर ही आधृत थे। अपनी इस आत्मिक अनुभूति पर उन्हें पूर्ण श्रद्धा और अटल विश्वास था इसी कारण उन्होंने कभी यह नहीं कहा कि उनके सिद्धान्त किसी धर्म-ग्रन्थ के द्वारा प्रमाणित हैं। उनकी तो अटल आस्था ही यह थी कि उनके सिद्धान्त मान्यताएँ और साधना के ढंग एकान्ततः सत्य हैं और कोई भी व्यक्ति उनकी ही तरह उस साधना-क्षेत्र में उतर कर इस सत्य की अनुभूति प्राप्त कर सकता है। सन्तों की यही भावना उनकी अभिव्यक्ति की ईमानदारी है और यही वैयक्तिक रागात्मकता उनके शब्दों या पदों में सर्वत्र विद्यमान है। उनके अन्तर्जगत की निर्लेप अभिव्यक्ति प्राय संगीत के ही माध्यम से हुई है।

जिस प्रकार भक्तिकाल के सन्त कवियों की अपेक्षा भक्त-कवियों में गीतिकाव्योपयोगी तत्त्व अधिक हैं उसी प्रकार रीतिकालीन गीतिकाव्य में भी सन्त कवियों की अपेक्षा भक्त कवियों की रचनाओं में संगीतानुकूल स्वारस्य और काव्योचित राग-रसिकता अधिक है। यों वैयक्तिक रागात्मक अनुभूति तो सन्त कवियों में भी मिल जाती है परन्तु संगीत में ऐसे ही गीत अधिक रुचिकर प्रतीत होते हैं जिनमें लोकगीतों की तरह आदिम मानव भावनाओं की निरावरण स्वीकृति विद्यमान रहती है। प्रेम रीझ, व्याकुलता, मान रति, खीझ, विह्वलता दैन्य अनुराग विराग इत्यादि की निर्लेप अभिव्यक्ति मानव हृदय को जितनी शीघ्रता और निकटता से छू लेती है उतनी जल्दी और उतनी गहराई से ज्ञान-वैराग्य की विचार प्रधान भावनाएँ अन्तस् का स्पर्श नहीं कर पातीं। हिन्दी-गीतिकाव्य के इतिहास में यद्यपि सूर, तुलसी और मीरा का युग फिर कभी नहीं लौटा परन्तु रीतिकालीन भक्तिपरक गीतिकाव्य में लौकिक और अलौकिक प्रेम की अभिव्यक्ति विरल नहीं है। रीतिकाल में लक्षण ग्रन्थों के प्रणयन के कारण बौद्धिकता की अभिवृद्धि हो रही थी अतः तत्का लीन अनेक कवियों में हृदय-पक्ष मर्यादित सा हो गया था। अनुभूति की तीव्रता का सहज उच्छलन उनमें कम था फिर भी एक ओर तो उस युग के प्रेमोन्मत्त कवियों—जैसे घनानन्द आलम ठाकुर, बोधा आदि—की भावसिक्त कृतियों और दूसरी ओर नागरीदास अलबेलि अलि चाचा हित वृन्दावन दास सुन्दरि कुँवरि भगवत रसिक आदि के सरस पदों के कारण रीतिकाल में शुद्धगीतिकाव्य के अभाव की अनुभूति जल्दी नहीं हो पाती। इस युग के अनेक वैष्णव उपासकों ने माधुर्य भाव से प्रेरित होकर सुन्दर पदों की रचना की। इन कवियों की वाणी में

निश्चय ही सम्भवता है किन्तु सखी भाव की प्रेरणा से रचित इन पदों में जो शृङ्गारिकता आ गयी थी उसके कारण विभिन्न सम्प्रदायों के रसिक भक्तों ने अपने पदों को गुप्त घोषित कर उन्हें अपने अनुयायियों तक ही सीमित रखना उचित समझा। अस्तु रीतिकाल में गीतिकाव्य के ह्रासोन्मुख होने का यह भी एक कारण है। इस सम्बंध में यदि परिश्रमपूर्वक खोज की जाय साथ ही विभिन्न सम्प्रदायों के अनुयायियों में यदि कुछ उदारता आ जाय तो रीतिकाल में लिखा गया पर्याप्त पद-साहित्य प्रकाश में आ सकता है। इस युग में ब्रज मण्डल में मुख्यतः वल्लभ, राधा वल्लभ, माध्व (गौड़ीय) निम्बार्क तथा हरिदासी (टट्टी) सम्प्रदाय के अनुयायी संगीत को अपनी साधना का अंग बना कर, अपनी-अपनी उपासना में रत थे। इन सम्प्रदायों में गौड़ीय सम्प्रदाय का साहित्य अधिकतर संस्कृत या बंगला में ही उपलब्ध है। ब्रजभाषा में पद रचना की ओर इनका उत्साह प्रायः नहीं दिखायी देता। यही कारण है कि गौड़ीय सम्प्रदाय में हिन्दी पद-साहित्य का इतना अभाव दृष्टिगोचर होता है। वल्लभ सम्प्रदाय के अनुयायियों ने भी रीतिकाल में पद-रचना प्रायः नहीं की। इसका मूल कारण यह है कि इनके पूर्ववर्ती अष्टछाप के कवियों ने जो पद लिखे थे उन्हें धार्मिक दृष्टि से इतना अधिक महत्त्व प्राप्त हो चुका था कि मन्दिरों में उन्हीं के पदों को गाया जाना आवश्यक समझा जाता था। यही नहीं वर्ष भर के विभिन्न उत्सवों के लिए अष्टछाप के कवियों के विशिष्ट पद निश्चित भी कर दिये गये अतः परवर्ती भक्तों में नूतन पद रचना की आकांक्षा उद्दीप्त न हुई। कुछ धार्मिक आस्था से प्रेरित होकर वे लोग पुराने पदों को ही श्रद्धा भक्ति से गाना उचित समझते रहे और आज भी वे ही पद यथापूर्व गाये जाते हैं। अष्टछाप के कवियों के पश्चात् इस परम्परा में नूतन पदों के अभाव का यही प्रमुख कारण है। हाँ राधा वल्लभ और निम्बार्क सम्प्रदाय के भक्तों ने रीतिकाल में भी अनेक पदों की रचना की। निम्बार्क सम्प्रदाय के अन्तर्गत हरिदासी (टट्टी) सम्प्रदाय में भी अनेक ऐसे भक्त हुए जिन्होंने माधुर्य भावना से प्रेरित होकर सहस्रों सुन्दर पद बनाये। यद्यपि अपने सम्प्रदाय के पूर्ववर्ती कवियों द्वारा रचित पदों के प्रति इन लोगों की प्रबल आस्था थी परन्तु नूतन पदों के प्रति भी इनमें उदासीनता न थी अतः इन सम्प्रदायों के भक्त कवियों और कवयित्रियों ने रीतिकाल में भी अनेक पद रचे। ऐसे अनेक भक्त-साधक साधिकाओं में से संगीत की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण कुछ नाम ये हैं

१ श्री नागरी दास जी

२ श्री बनीठनी जी
३ श्री किशोरी दास जी
४ श्री सुन्दरि कुंवरि जी
५ श्री रसिक गोविन्द जी
६ श्री नरहरि देव जी
७ श्री रसिक देव जी
८ श्री ललित किशोरी देव जी
९ श्री ललित मोहिनी देव जी
१० श्री भगवत रसिक
११ श्री कमल नयन जी
१२ श्री सहचरि सुख जी
१३ श्री रूपदास जी
१४ श्री प्रेम दास जी
१५ श्रीमती भागमती बाई जी
१६ श्री चाचा हित वृन्दावन दास जी
१७ श्री रतन दास जी
१८ श्री रसिक दास जी
१९ श्रीमती बनारसी जी

इस कवि-नामावली से उपर्युक्त प्रमुख सम्प्रदायों के भक्त गायकों का उत्तम प्रतिनिधित्व हो जाता है। संगीत और काव्य की जो विशेषताएं इनमें उपलब्ध हैं, न्यूनाधिक रूप में वे ही विशेषताएँ रीतिकालीन अन्य पद-रचयिताओं में भी मिलती हैं। इन कवियों की कृतियों में राधा-कृष्ण की लीला और रूप-माधुरी की अनुपम छटा है बसन्त होली झूल डोल इत्यादि उत्सवों में उनके भावुक मानस का उन्मेष है और है उनके हृदय की वह शृङ्गारिकता जो राधा-कृष्ण का गुणगान करके लौकिकता और अलौकिकता दोनों का अतिक्रमण करती हुई विलक्षण हो उठी है। वृन्दावन के मन्दिरों में जब भक्तगण भगवान् की मंजुल मूर्ति का दर्शन करते हुए मन्दिरों के गायकों (समाजियों) के समवेत स्वर से इन पदों को सुनते हैं तब नेत्रेन्द्रिय और कर्णेन्द्रिय दोनों ही की परितृप्ति के साथ उनका हृदय कितना भाव विभोर हो जाता है यह कहने की बात उतनी नहीं है जितनी प्रत्यक्ष देखने की। इन रसिक भक्तों की सरस वाणी कभी तो संसार की नश्वरता और माया से खिन्न होकर मन को प्रबोध देने लगती है और कभी

कृष्ण-लीला में तन्मय होकर जन-मानस को हरा भरा करने लगती है, अब इनकी रचनाओं को स्थूलतः दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है। एक वर्ग तो उन पदों का है जिनमें वैराग्य भावना सैद्धान्तिक चिन्तन गुरु के प्रति श्रद्धा भक्ति अथवा भगवान् के पावन नाम की महिमा और शृंगार वृन्दावन के प्रति अनुरक्ति की अभिव्यक्ति हुई है और दूसरा वर्ग उन पदों का है जिनमें उनके हृदय की राग रसिकता भगवत्-कान्ता भाव को अपनाती हुई संगीतमय उपासना में मुखरित हो उठी है। वैराग्य-भावना से ओतप्रोत उनके पदों के कुछ उदाहरण ये हैं

श्री रसिक देव जी

(पद)

भैया रे! या तन ते हंस उड़ानो।
जा दिन तेरी कछु न चलैगी जम के हाथ बिकानो।।
अनरथ करि करि मार धन जोर्‌यो सो धन भयो बिरानो।
चलती बेर कछु संग न लीनो सिर धुनि धुनि पछितानो।।
माता पिता सजन सुत, बन्धु अपने करि जिन मानो।
ए तेरे कोउ काम न आवै सबै बटाउ जानो।।
हाथ पांव करि नैन नासिका बदन सूखि कुम्हिलानो।
जरि बरि छार भयो इक छिन में मिटि गयो ठौर ठिकानो।।
कुमति संग बहुरि ना ताकी भाई चित करि भयो पयानो।
श्री रसिकबिहारी के भजन बिन दीपक सो निबतानो।। १

श्री नागरी दास जी[2]

जिते दिन बिन वृन्दावन खोए।
यों ही वृथा गए ते अबलौ राजस रंग समोए।

---

१ श्री ब्रह्मचारी बिहारीशरण द्वारा सम्पादित 'श्री निम्बार्क माधुरी' (संस्करण संवत् १९९७) पृष्ठ-३१६

२ श्री नागरीदास जी के सम्प्रदाय के सम्बन्ध में पर्याप्त मतभेद है। सम्भवतः इस नाम के चार पांच कवि हुए हैं। कृष्णगढ़ाधीश महाराज नागरीदास को श्री वियोगी हरि ने 'व्रज माधुरी सार' के पृष्ठ-१८१ (द्वितीय संस्करण) पर वल्लभ कुल का शिष्य माना है। 'श्री निम्बार्क माधुरी' के लेखक ब्रह्मचारी बिहारी शरण ने अपनी पुस्तक के पृष्ठ-३२१ पर इन्हें निम्बार्क मतानुयायी बताया है। —लेखिका

काहि पुलिन उमग की सज्या कुसमरज पर सोए
भीने रसिक अनन्य न बरसे त्रिभुवन के सुख खोए ।
हरि बिहार के ठौर रहे नहिं अति अमान्य बन जोए
कलह सराय बसाय भिठारी माया रांड़ बिगोए ।
ईश्वर ह्वांके सुख तजिके ह्वां अन्त हूँ ते कहुँ रोए
कियो न अपनो काज पराए भार सीस पर ढोए ।
पायो नहीं आनन्द खेस में सबै ठेस टकरोए
'नागरिदास' बसे कुंजन में जब सब बिधि सुख मोए । १

श्री सुन्दरि कुंवरि जी

(पद)

मन ! तू काहि पचत कहा चाहत ?
यह अगम अथाह बहत है तिनको कौन निबाहत ?
तोको कहा भार है भैया ! काहे को दुख मानै ?
निर्भय ह्वै निश्चिन्त रहत में प्रभु कृपा किन जानै ?
जगत-राह के राहगीर ए बहुत बटाऊ लोग
तिनमें तुहू प्राण पर्यो है मिहूं करम-संयोग ।
कब कीड़ी कब कुंजर पावत रे साहिब है सबको
तो कहि क्यों प्रतीति न तोरी पूरत पोषण देह
सोऊ पालन-करनहार यह नीकै करत सनेह ।
काम क्रोध मद लोभ मोह, मन इनको तजि तू भारी
तासौं दुरमम संग मिटै सब ह्वै अपन निवारो ।
निरभय ह्वै तू सोवि समान मान त्रास भव भरी
सुमिरि नंदनन्दन गिरिधरधर ज्यों सब भव होय मति तेरी ।
चहत अलौकिक सुख संग्रह तो जातु सरन श्री राधा
'सुन्दरि कुंवरि' सुता कीरति की नहिं ताकें तो नाहिं अगाधा ।२

उपर्युक्त पदों में मन को सांसारिक माया-मोह छोड़कर भक्ति मार्ग की ओर अग्रसर होने का जो उपदेश दिया गया है उसमें गीतिकाव्योपयोगी अनुभूति की विभूति सर्वत्र विद्यमान है। इसी प्रकार निम्नस्थ पदों में गुरु पर

१ 'श्री निम्बार्क माधुरी' पृष्ठ-१९२
२ 'श्री निम्बार्क माधुरी' पृष्ठ-६६५

सदा राधा-कृष्ण के नाम-स्मरण में विश्वास और वृन्दावन की पावनता में जो आस्था प्रकट की गयी है उसमें भी उनके हृदय की निश्छलता अत्यन्त दृष्टिगोचर होती है

श्री रतन दास जी

(पद)

राग कान्हरो

यह बानी परसत हित प्रेम मूल तें ।
श्री हरिवंश चरन जस सींची स्वादस्वरूप अकथ विभूति तें ।
श्री गुरु कृपा ते अंकुर होत है बल फैलत रसकनि पद परसे फूल ते ।
बैठे छाह सुख हित रतनदास नित सुख परसे न कछु त्रिविधि सूल ते । १

श्री ललित किशोरी देव जी

(पद)

मोहि भरोसो स्वामी जी को ।
करि हैं अपनी आप बराबरि मानसकार पिये को ॥
विषय, वासना आदि जेहू करि उपजत है हित जीको ।
रसिक बिहारी बिहारिनि तन मन और सबै सब फीको ॥ २

श्री सुन्दरि कुंवरि जी

(पद)

भजि मन ! श्री वृषभानुकुमारी ।
गुन निधि रूपराशि कीरतिजा भरतमाला सुख उजियारी ।
भोरी कुंवरि लड़ैती राधा नवल किशोरी नागरि
जाके नित आधीन रसिकवर गोकुलचन्द उजागरि ।
सिर पर सीस मोर मदनोन्मत जाकी रचना राचै
सोई राधा हाथ बिकानो तापर नाच जु नाचै ।
ब्रह्मा जाके चरन-कमल को चापि भाग निज मानै
जो राधा-पद परसन जाचक आवन मिस तगमानैं ।
जाको नाम रटत सब सुर नर मुनि जोगी सिध साधा
ताको तो नित लगी रहन है एक नाम रट राधा ।

---

१ संग्राहक बाबा वंशीदास (वृन्दावन)
२ श्री निम्बार्क माधुरी पृष्ठ-३१६

जाको ध्यान धरत हैं साधक किते कष्ट तप करहीं
सो राधा के ध्यान मत्त-गृह काज न करत संभरहीं ।
जाकी कृपा मनावत शिव विधि निसि दिन गावत गाथ
सो तो राधा कृपा-दृष्टि के चाहि लग्यो रहु साथ ।
जाको दरस हेत सनकादिक करि-करि भाग मनावैं
सो राधामुखकमल निहारत लोभी भ्रमर कहावैं ।
तीन लोक जाकी पदरज को नाम लेत सिर नावत
सो तो राधा पावन परि-परि जब तब सदा मनावत ।
धरे पुष्ट-धन गूढ़ भेद को है श्री राधा-नाम
विष्णु-हृदय आराध आप निज यह ही आठो याम ।
श्री वृन्दावनदेव छाप सो भये अलौकिक पायो
'सुंदरिकुंवरि' चरन-कमल पै हूं बलि बल मन रहु मडरायो । २

श्री ललित किशोरी देव जी

(राग-देवगंधार)

हमारे हरि हैं सदा सुहाई ।
जोइ जोइ रुचै करें पुनि सोई पोषत मन भाई ॥
हरष-हरष अनुराग बढ़ावत कीरति अति सुखदाई ।
श्रीहरिदासी 'ललित किशोरी' हँसि हँसि कंठ लगाई ॥ २

श्री रसिक देव जी

(राग बिहागरी)

भाग बड़ो वृन्दावन पायो ।
जा रज को सुर नर, मुनि कमलापति विधि शंकर सिर नायो ॥
बहुतक तुम या रज बिन बीते जन्म जन्म डहकायो ।
सो रज अब कृपा करि दीनी अभय-निशान बजायो ॥
आय मिल्यो परिवार आपने हरि हँसि कण्ठ लगायो ।
स्यामा स्यामजू बिहरत दोऊ सखी-समाज मिलायो ॥

---

१ 'श्री निम्बार्क माधुरी' पृष्ठ-२१५, २१६
२ 'श्री निम्बार्क माधुरी', पृष्ठ-११८

लोग सन्ताप करो मति कोई दास भलो बनि आयो ।
'श्रीरसिकबिहारी' की गति याही बसि-बसि लोक कहायो ॥ १

श्री कमल नयन जी का पद

(राग-बसन्त)

श्री वृन्दावन छवि कही न जात । जहाँ प्रफुल्लित कुसुम अनेक भाँत ॥
कालिन्दी कलिन पुलिन अपार । भामिनी बसि जहाँ करैं सुखार ॥
कुंज धाम जहाँ रच्यो बसंत । बैठे दम्पति सुख अनंत ॥
कनक मृदुल मखमली सुधार । प्रीतम प्यारी जहाँ करैं बिहार ॥
ललितादिक जहाँ सखी वृन्द । बदन जोति मानों कोटि इन्दु ॥
प्रतिबिम्बित दम्पति बिपिन धाम । मत्त मदन में मोर मराल ॥
त्रिबिध पौन जहाँ बहै नित । निरखि बिहारिनि हरषि चित ॥
बसंत गावत करत धमार । छबि पर वारों कोटि मार ॥
नाना रंग सौं रंगे हैं लाल । तापर ओढ़ें पट गुलाल ॥
आए खेलि न्हान जमुना तीर । गोकुल बीर स्यामल सरीर ॥
रस बसन तजि नवल वारि । सूहे पहिरें करि सिंगारि ॥
बिजन भोजन करि रसाल । बीरी खात सखी कै उगाल ॥
करैं केलि आनन्द कुंज पाँति । नूपुर किंकिनि सुर सुहाँति ॥
ऐसो कौतुक संतत अपार । शुक नारद निगम कहैं गान ॥
निरखि कुसम बर मति हुलास । श्री कमल नैन हित सखी पास ॥
पैन्यौ हित हरिप्रिया बर कृपा पाइ । अति रहसि बन बिमल महल माइ ॥ २

उपर्युक्त पदों की तुलना कतिपय सांगीतिक निबन्धनाओं से की जाय तो दोनों में भावगत साम्य पर्याप्त दृष्टिगत होगा । वैराग्य गुरु भक्ति, हरि-नाम स्मरण अथवा वृन्दावन गोकुल इत्यादि की महिमा को भावों का विषय बनाकर सांगीतिक निबन्धनाएँ भी बराबर रची जाती रही हैं । प्रत्यय-हेतु निम्नस्थ उदाहरण द्रष्टव्य हैं

१ 'श्री निम्बार्क माधुरी', पृष्ठ ११७
२ 'श्रृङ्गार-रस-सागर' प्रथम भाग, पृष्ठ-१० प्रकाशक और संग्रहकर्ता बाबा कृष्णदास (वृन्दावन)

राग मालकौंस-त्रिताल (मध्यलय)१

(म)ग गम
रि मऽ

स्थायी

ध – सा –	(सा)नि सा (नि)ध नि	सा – म –	म म – –
मी ऽ के ऽ	धी है ऽ	धा ऽ है ऽ	हूँ ऽ ऽ ऽ
०	३	×	२
(ध)म म ग ग	(ध)म ध नि सां	सां – नि ध	– म (म)ग म
घु म र न	क र के	रा ऽ म ला	ऽ म दि न।
०	३	×	२

अन्तरा

(प)म म ध ध	म म (नि)ध –	(सां)नि – सां सां	– सां सां सां
स क स ब	ब त के	बी ऽ सो का	ऽ म ब ब
०	३	×	२
(नि)सां – सां सां	(पं)सां – नि ध	(ध)म मध (ध)नि –	ध – (नि)ध नि
छां ऽ ड ब	सो ऽ ये ऽ	ब रऽ भी ऽ	धा ऽ म्न हि
०	३	×	२
सां – (सां)मं मं	मं – मं –	(म)ध (मं)ग मं गं	– सां सां –
सीं ऽ म च	मे ऽ पा ऽ	ए ऽ क ला	ऽ म यो ऽ
	३	×	२
(नि)सां – सां –	नि ध (ध)म ध	(प)नि ऽ ध –	म ध (म)ग म
ऐ ऽ है ऽ	हूँ ऽ सो ऽ	पा ऽ ते	हूँ ऽ, दि न।

१ आचार्य भातखण्डे कृत हिन्दुस्तानी संगीत-पद्धति क्रमिक पुस्तक मालिका तीसरा भाग (तृतीय संस्करण) पृष्ठ-७११, ७१२

राग साहुनी-बिलास (मध्यलय) १

स्थायी

			सां नि ध / पु रू
नि सां निध नि	(प)म प (ध)म ध	नि सां रें सां	नि सां – –
गु र नऽ व	र न क र	म गु का ऽ	ऽ ऽ ऽ ऽ
•	१	×	२
(सां)नि सां रें नि	– सां नि ध	(ध)म प नि सां	नि ध नि ध
बि फ स व	ऽ य म न	मो ऽ स स	क म ब प
•	१	×	२
सा सा म ग	(प)म ध नि सां	सां रें सां रें	नि सां नि ध
ध रि प स	क ब हु न	पा ऽ छि छि	र त पु रु
•	१	×	२

अन्तरा

(म)ग – (प)म ध	(सां)नि – सां सां	सां रें सां रें	नि नि सां सां
मा ऽ मा ऽ	ती ‿ र थ	हु र रं ग	तु ष्टि र त
•	१	×	२
(सं)नि रें गं रें	सं रें सां सां	नि ध नि सां	निध (प)सां सां
ए ऽ क मा	‿ म म ध	बि ध न हु	र त पु रु
•	१	×	२
नि ध म ग	(प)म ध नि सां	रें रें सां –	नि सां नि ध
ध र न ग	र न क र	म गु का ऽ	ऽ ऽ पु रु।
•	१	×	२

१ वही पृष्ठ-४ ४, ४०१

राग बिन्द्राबनी सारंग-त्रिताल (मध्यलय) [1]

स्थायी

			पप रऽ
(म)रे – सा सा	(सा)नि़ नि़ सा –	(रे)नि़ सा रे सा	रे – रे प
टा क र	र स ना ऽ	रा ऽ म की	मा ऽ म र
•	१	×	२
(म)रे – (म)नि पम	(म)रे रे सा –	(म)रे म प पम	(म)रे – – रे
टा ऽ क रऽ	र स ना ऽ	रा ऽ म काऽ	मा ऽ ऽ म
	१	×	२
(म)रे – (म)म रे	– रे सा सा	(सा)नि़ मा रे सा	(प)नि – प प
रा ऽ म रा	ऽ म र प्रु	प ति र प्रु	मा ऽ ब क
•		×	२
(रे)म – म प	– प प प	(प)म – नि पम	(म)रे – रे पम
के ऽ मन के	ऽ मन क स	गा ऽ क रऽ	स्या ऽ म रऽ
	१	×	२

अन्तरा

(प)म – प –	(प)नि प नि –	सां – सां सां	(सां)नि सां सां सां
गो ऽ पी ऽ	प ति गो ऽ	पा ऽ म म	रा ऽ प र
	१	×	२
(सां)रें – सां –	(प)नि पम (म)रे –	(म)रे म (म)नि पम	(म)रे – रे पम
रा ऽ धा ऽ	ब रऽ सो ऽ	ब म ब मिऽ	रा ऽ म रऽ
•	१	×	२

१ वही पृष्ठ-४१७, ४१८

राग बिलावली सारंग चौताल (विलम्बित)[१]

स्थायी

रे	सा	—	(सा)नि	सा	सा	रे	सा	—	(ध)नि	सा	सा
ध	न	ऽ	ध	॰	न	बि	द्रा	ऽ	ब	ऽ	न
×		०		२				३		४	
रे	सा	—	(म)रे	—	प	म	रे	—	(ध)रे	—	सा
ध	न		ध	ऽ	न	गो	ऽ	ऽ	कु	ऽ	न
×		०		२		०		३		४	
धा	सा	—	(म)रे	म	म	प	प	—	पम	नि	प
ब	म	ऽ	मा	ऽ	के	त	ट	ऽ	पऽ	ऽ	र
×				२		०		३		४	
(प)नि	(ध)नि	प	(म)प	म	रे	(म)रे	म	प	(म)प	म	रे
पी	ऽ	ऽ	प	र	ऽ	छा	ऽ	ई	री	ऽ	ऽ
×		०		२		०		३		४	

अन्तरा

(प)ध	म	प	(ध)नि	सां	नि	सां	—	(ध)नि	सां	—	सां
ध	न	ऽ	धी	ऽ	पि	त्या	ऽ	त	बा	ऽ	त
×		०		२		०		३		४	
सां	नि	सां	(मं)रें	मं	रें	सां	—	सां	(प)नि	—	पम
ध	न	ऽ	धा	हा	ऽ	मूं	ऽ	द	म	ऽ	मऽ
×				२		०		३		४	
म	रे	—	म	प	निप	(ध)नि	सां	—	रें	सां	—
ब	न		मु	र	ऽऽ	भी	ऽ	ऽ	प	ई	ऽ
×				२		०		३		४	
(प)सां	—	(प)नि	प	म	रे	(म)रे	म	प	(म)प	म	रे
श्या	ऽ	ऽ	म	ऽ	ब	पा	ऽ	ह	री	ऽ	ऽ
×				२		०		३		४	

१ वही पृष्ठ-१४७ १४८

इन भक्तिमतिकाओं के गीतों में वैसा कवित्व चाहे न हो जैसा उपर्युक्त कवियों के पदों में परिलक्षित होता है, परन्तु दोनों की केन्द्रीय भावना एक ही है। यहाँ विचारणीय बात केवल इतनी ही है कि विभिन्न रागों के स्वरों से मण्डित होकर जब ऐसे गीत भी प्रभावपूर्ण हो जाते हैं जिनमें कवित्व प्राय: नहीं है तब उन पदों के स्वारस्य की वृद्धि में भला क्या सन्देह हो सकता है जो गीति काव्योपयोगी साहित्यपूर्ण कवित्व की चारुता से पहले से ही सम्पन्न हैं।

रीतिकालीन वैष्णव कवियों की वाणी अपने इष्टदेव की दिव्य रस-लीला में बड़ी तन्मयता से रमी थी। राधा-कृष्ण के ऐकान्तिक विहार रस का आस्वादन ही उनका चरम लक्ष्य था फलत दिव्य शृङ्गार रस (माधुर्य-भाव) की उपासना में तल्लीन होकर उन्होंने जिन पदों की रचना की उनमें भावोन्मेष की सचाई तो है ही सांगीतिक तत्त्वों का भी सन्निविष्ट समावेश है क्योंकि मन्दिरों में प्रतिष्ठित विग्रह के सम्मुख गाने के लिए ही इन पदों की रचना हुई थी।

विषय की दृष्टि से इन पदों में या तो मन्दिरों में होने वाले महोत्सवों का तथा राधा-कृष्ण की दिव्य शृङ्गार लीला का वर्णन है या फिर इनका सम्बन्ध अष्टयाम सेवा से है। उदाहरणार्थ निम्नलिखित पद लिया जा सकता है, इसमें भोजनोपरान्त पान खिलाने का उल्लेख है

श्री आनन्दीबाई जी

पद

राग सोरठ

हो प्रिय बीरी बनाय खवावै।
कर में भीनी कंचन थारी दमक चमक द्युति छावै।
निशीथ सुरत लगी रस भोजन भर रस मे रंग बढ़ावै॥
मैन कपोल चूमि मुसकावै चुकि अधर सुधा मधु प्यावै।
दासी आनन्दी हित प्रिय परि हँसि मीठी तान सुनावै॥१

इस पद के भाव को और भी मर्मस्पर्शी बनाने के लिए यहाँ सोरठ राग की सहायता ली गयी है। खमाज ठाठ से उत्पन्न होने वाला यह राग अपने सम प्राकृतिक राग देस से बहुत मिलता-जुलता है तथा उसी की तरह रात्रिगेय भी

१ सम्पादक बाबा वंशीदास जी [वृन्दावन]

है। अतः पद की तृतीय पंक्ति में आने वाला शब्द 'निसीथ' राग-समय की दृष्टि से सार्थक हो जाता है। सोरठ राग का भावस्वरूप यह है

> सा ऽऽऽ मरे, परे ऽऽ म प म प नि ऽऽ सां रें नि ध प ऽऽऽ प ऽ
> म ऽऽ रे, रे ऽ प ऽऽ म ऽ रे ऽऽ सा।

सोरठ के इन रागवाचक स्वरों के उच्चारण—विशेषतः मध्यम से रिषभ तक की मींड़—से एक ऐसा स्निग्ध वातावरण उत्पन्न हो जाता है जो शृङ्गार रसात्मक गीतों के लिए अतीव अनुकूल होता है। अतः उपर्युक्त शृङ्गारिक पद के लिए सोरठ जैसे राग का चयन सांगीतिक दृष्टि से सर्वथा उचित है। निश्चय ही सोरठ के स्वरों में इस पद के भाव को मूर्तिमान कर देने की पूर्ण क्षमता है।

निम्नलिखित पदों में भी राग-चयन भावानुरूप हुआ है। इनमें से प्रथम पद में राधा-कृष्ण को प्रातःकाल के समय जगाने की उत्कण्ठा का वर्णन है, दूसरे में राधा-कृष्ण सायंकालीन वन-श्री देखते हुए दृष्टिगत होते हैं तथा तीसरे और चौथे में वे शयन के लिए उद्यत हैं

राग भैरौं

> भरी पी रूप सहेलिनु कहत न परत है उभय रूप निधि संत।
> जगी विचक्षण जन पर भूषण लागति है भूषणत॥
> मन्दिर ललप जाइ लगीं रंगमनि सुमन बचावन हिय हुलसंत॥
> वृन्दावनहित रूपम मोहनी छबि की करावति पीछे सखि राधाकन्त॥१

राग गौरी

> साँझ फूली उतहि इतहि कानन लिख्यौ मानहु अनुराग रैनी रँगे बलि दल।
> दिखावति प्रिया कौं लाल कालिंद महा पावन हिय जब होत आनन्द भर॥
> सुन सु मानस पानीकीक-समयौ जु यह प्रम पावन कियौ सम्यौ सोभा जु मन।
> हंस किलकार कैसो सु कोकिला है हमरा ठौर पंछी बसनु डारि दल॥

१ बाबा श्री हितवृन्दावन दास जी कृत श्री अष्टयाम प्रथम संस्करण पृष्ठ-१

पुलिन प्रति रम्य करै वकिन चित वृत्त कों और उपमा नाहिं बनत दूजी जु मद
वृन्दावनहितरूप ममत मुरली धरन मित भये रंग बरसै महा मनोहर ॥१

राग संभाय

पंखियां मीद घुमाई हैं।
घमी घवत ही मन ही पलकनि माहि समाई हैं ॥
प्रीतम सौं बतराम चाइ भरि झूमि जु ध्याई हैं ॥
वृन्दावन हित रूप चोट एमि करन दिखाई हैं ॥२

सैन मन्दिर कौं मवनी है।
झूमति भुकति प्रिया प्रीतम के संग गजवनी है ॥
किधौं सोभा की घटा प्यायु इहि राजति सवनी है ॥
वृन्दावन हित रूप रंग रस बरसति कमनी है ॥३

काव्य की दृष्टि से उपर्युक्त पदों के भावों में चाहे सभी को समान रूप से तन्मय कर देने की क्षमता न हो परन्तु सम्प्रदाय विशेष (राधा-वल्लभ सम्प्रदाय) के भक्तों के लिए तो इन पदों में निश्चय ही आकर्षण विद्यमान है।

यदि संगीत की दृष्टि से इन पदों को परखा जाय तो चारों ही पदों में राग का चयन युक्तियुक्त दिखायी देगा। प्रथम पद 'भैरव' राग में है तथा दूसरा 'गौरी' में। शास्त्रीय दृष्टि से ये दोनों ही सन्धि प्रकाश राग हैं। सन्धि प्रकाश राग प्रातःकाल एवं सायंकाल में चार बजे से सात बजे के बीच में गाये जाते हैं। प्रातःकाल और सायंकाल के समय दिन रात की उत्तम सन्धि होती है, किन्तु प्रातःकालीन वातावरण में यदि एक प्रकार का उल्लास विद्यमान रहता है तो सायंकाल में उसकी जगह किंचित अवसाद सा छा जाता है। इसी प्रकार प्रातःकालीन सन्धिप्रकाश रागों की प्रकृति भी सायंकालीन सन्धिप्रकाश रागों से भिन्न होती है। इस भेद को स्पष्ट करने के लिए प्रायः प्रातःकालीन सन्धिप्रकाश रागों में उत्तरांग प्रबल रखते हुए शुद्ध मध्यम का प्रयोग किया जाता है और सायंकालीन रागों में प्रबल पूर्वांग के साथ तीव्र मध्यम प्रयुक्त

१ 'श्री प्रस्टयाम' पृष्ठ-४१
२ 'श्री प्रस्टयाम' पृष्ठ-७४ ७५
३ 'श्री प्रस्टयाम' पृष्ठ-७५

होता है। अतः क्रमशः प्रत्यूष और प्रदोषकाल से सम्बन्धित उपर्युक्त प्रथम और द्वितीय पद के लिए प्रातःकालीन सन्धिप्रकाश राग 'भैरव' और सायंकालीन सन्धिप्रकाश राग 'गौरी' का चयन पूर्णतः शास्त्र-सम्मत है। भैरव के शुद्ध मध्यम के स्थान पर तीव्र मध्यम का प्रयोग करते ही गौरी-ठाठ बन जाता है।[1] अस्तु, प्रथम पद में निर्दिष्ट भैरव राग का नादस्वरूप यह है :

सा ग रे ऽऽ सा नि (सा) नि ध ऽऽ ऩि सा ध नि सा रे ऽ

म म ऽ ऽ म(म) रे ऽ ऽ सा। ऩि सा ग म प ग म प ग म नि ध

ऽ ऽ ऽ प ध ध प म प म म ग म प ग म ध ऽ ऽ नि सां सां रें सां

नि सां रें रें सां नि (सां) ध ऽ प, ध ध प म प ग म

म(म) रे ऽ ऽ सा।

इस नादस्वरूप में मध्यम से कोमल ऋषभ तक की मींड़ बड़ी मार्मिक है। अन्य स्वर समुदायों के साथ यह मींड प्रातःकाल की सूचना तो देती ही है साथ

---

१ गौरी का यह स्वरूप आचार्य भातखण्डे जी के मत पर आधृत है। इसे उन्होंने पूर्वी ठाठ का सायंकालीन सन्धिप्रकाश राग माना है।

(द्रष्टव्य आचार्य भातखण्डे कृत 'हिन्दुस्तानी संगीत-पद्धति क्रमिक पुस्तक-मालिका' पाँचवाँ भाग प्रथम संस्करण पृष्ठ-१९१) भैरव ठाठ के अन्तर्गत प्रातर्गेय गौरी के एक अन्य प्रकार का भी उन्होंने उल्लेख किया है जो पूर्वी ठाठ के इस प्रकार विशेष से भिन्न है। (द्रष्टव्य वही पृष्ठ-१२२)

श्री पटवर्धन जी ने पूर्वी ठाठ की गौरी को भी स्वीकार करते हुए इस राग के एक अन्य प्रकार की विवेचना की है जो भैरव थाट पर आधृत है। (द्रष्टव्य 'राग विज्ञान' पाँचवाँ भाग, पृष्ठ-२१०)

श्री कृष्णराव जी ने 'शास्त्र प्रवेश' दूसरे भाग के पृष्ठ-१८ पर जिस गौरी राग की विवेचना की है वह वादी, संवादी स्वरों के भेद से 'राग विज्ञान' में वर्णित गौरी से पृथक है।

ही गीत के भावानुसार कण्ठस्वर-मार्दव से युक्त होकर कभी कसक तो कभी विह्वलता अथवा उत्कण्ठा को भी व्यक्त करने में समर्थ हो सकती है। अतः भैरव के स्वरों से समवेत होकर पद की प्रथम पंक्ति में जान आ गयी है। 'कल न परत' में जो बेचैनी है तथा 'तकत रहत निशि मग्न' में शीघ्र ही रात्रि के अवसान होने की जो सूचना है अथवा 'जगी' शब्द से स्वतः जाग जाने का जो भाव प्रकट हो रहा है वह भी भैरव राग के गान-समय की दृष्टि से ठीक है। यदि पूरे पद पर विचार किया जाय तो उसका केन्द्रीय भाव यही है कि राधा-कृष्ण कब जागें और कब हम उनका दर्शन करें। रात्रि का अन्त निकट होने से सखियों को उनके शीघ्र ही जागने की आशा भी है अतः प्रातःकालीन उल्लासपूर्ण वातावरण और भैरव राग की प्रकृति से उनकी मनःस्थिति का तादात्म्य भी सहज ही स्थापित हो जाता है।

दूसरा पद गौरी राग में है। इस राग के तीन चार प्रकार उपलब्ध हैं अतः मूल पद की स्वरलिपि के अभाव में यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है कि पद-रचयिता को गौरी का कौन सा प्रकार अभीप्सित है तथापि रिषभ-धैवत कोमल तथा गान्धार शुद्ध होने से इस राग के अधिकांश प्रकारों का जो गायस्वरूप बनता है वह अपनी प्रकृति में कुछ चपलता और किंचित गम्भीरता का प्रभाव सा समाहित किये रहता है फलतः अपनी विशिष्ट स्वर योजना के कारण यह राग एक ओर तो सन्धिप्रकाश समय के अनुकूल बन जाता है दूसरी ओर कोमल भावनाओं की रचना को और भी तारल्य प्रदान करने में समर्थ हो जाता है। अस्तु सायंकालीन गौरी राग के स्वरों से मण्डित होने से उपर्युक्त पद की प्रथम पंक्ति 'सांझ फूली उनहि इतहि कानन दिप्यौ' इत्यादि अतीव सजीव हो गयी है। १ इसके आगे पद में वर्णन भी प्रकृति की सायंकालीन सुषमा का ही है। यही नहीं 'पुलिन अति रम्य कै'

१ इस पद के रचयिता श्री हितवृन्दावन दास जी भी गौरी को सायंकालीन राग मानते हैं। प्रमाणस्वरूप उनके द्वारा रचित श्री अष्टयाम (प्रथम संस्करण पृष्ठ-२) से इस पद की निम्नस्थ पंक्तियाँ उद्धृत की जा सकती हैं जिनमें गौरी-गायन के समय (सायंकाल) का वर्णन हुआ है :

"गौरी गाइ रिझावत सजनी तान अपूरब सुर भर जब्बरि॥
अधिक स्वाद चाखत रस भोगी इत भोजन उत ललित सुरए प्रावरि॥
रजनी मुख सुख समधि हुलसत हैं परत बदन बिधु तें जु अमी भर॥"

बढ़िया दिन बूतकीं जैसी शब्दावली से प्रकृति के सायंकालीन उस वातावरण का भी सक्षम व्यंजन हो जाता है जो प्रातःकालीन उल्लासपूरित वातावरण की तुलना में किंचित अवसादपूर्ण होता है अतः पद के भावानुकूल राग का यह चयन भी श्लाघ्य है।

तीसरे और चौथे पद में रचयिता ने खमाच (खमाज) राग का प्रयोग किया है। इस राग का नादस्वरूप यह है

सा ग गमम सा ग म प ऽ ऽ म ग नि ध ग म प म म ग म म
रे सा। नि सा ग म प म म म नि ध ऽ ऽ म प ध ऽ म ग म ग रे सा।
सा ग म प ध ग ऽ म नि ध ऽ ऽ म प ध ऽ म ग ध नि सा सा ऽ नि ध
म प ध॰ म ग प ऽ ऽ ग म ग रे सा। ग म ध नि सा ऽ ऽ नि सा
प नि सा रें (सा) नि ध सा नि ध म प ध ऽ म ग म ग रे सा।

खमाज राग के इन स्वरों से जिस भावमय वातावरण की सृष्टि होती है श्रवणेन्द्रिय द्वारा उसे आत्मसात करके मन कोमल भावानुभूति से द्रवित हो उठता है। इसी में जब शृङ्गारपरक या भक्तिपरक शब्द-योजना भी संयुक्त हो जाती है तब भावात्मक सम्पूर्ण सृष्टि अधिक मूर्त और स्पष्ट होकर चित्त को और भी द्रवित कर देती है। यही कारण है कि तीसरे और चौथे पद की कोमल भावनाओं के लिए श्री हित वृन्दावन दास जी ने खमाज राग को चुना है। इस राग के गाने का समय भी रात्रि का द्वितीय प्रहर है जो शयन के लिए बहुत उपयुक्त समय है अतः एक ओर तो "अँखियाँ नींद घुमाई हैं" अथवा 'शयन मन्दिर कौं चली हैं' जैसी पंक्तियों को खमाज राग की दृष्टि से औचित्य प्राप्त हो जाता है तथा दूसरी ओर 'वृन्दावन हित रूप चोट सुमि करम निठायी हैं' जैसी शृङ्गारपरक मनोरम उक्ति को खमाज राग का हृदयहारी नादात्मक आधार भी प्राप्त हो जाता है।

इन भक्त कवियों ने विभिन्न उत्सवों के अवसर पर गाने के लिए जो पद लिखे उनमें भी उनका भावुक हृदय बड़ी तन्मयता से रमा है। इस प्रकार के पद संख्या में भी कम नहीं हैं। 'होरी धमारी के पद' अथवा 'बसन्त के पद' ही यदि एकत्रित किये जायें तो सौ-पचास नहीं हजारों सुन्दर पदों का संग्रह तैयार हो सकता है। 'होरी धमारी' के पदों में से कुछ पद यहाँ उपस्थित हैं

श्री सहचरि सुख जी महाराज कृत

राग गौरी

रूप बावरो नंद महर को बहुरि बन्यो होरी को ऐन ।
रोकत टोकत घूंघट खोलत भरि पिचकारी तकत
उरोजनि गोकुल की माई चलत न गैल ।।
हम सों मसल गुलाल मुठी भरि निरखि रहत
पुनि लाज न आवत हियें भरत होरी कै फैल ।
कहिये कहा और सहचरि सुख भरन मवास रहत
बल जाके धग धंध जु कटीली सैल ।। १

गोस्वामी श्री कमलनैन जी महाराज कृत

राग गौरी

खेलत श्याम बावरो नागर गावत मधुर सुर सरस धमारि ।
सुनि सुनि भामिनी धनि कुल कोकिल रही मौन लोचन निरधारि ।।
अपने अपने स्वरनि मिलावें पावन पावन भेद बिचारि ।
बैहेद मधुरे बाजे बाजें बैसीये भांति वेति करतारि ।।
चोवा चंदन कपूरि अंबर कुमेल केसरी घर घनसार ।
छिरकत रंगनि हो हो बोलत प्रेम मगन तन मन न सम्हार ।।
अद्भुत खेल मच्यो जमुना तट रंगि गई पुलिन सहित द्रुम डार ।
सबेई भीज गये तन सोहैं छैवत छूटि रहे उर हार ।।
रस खेल छाड्यो सब सखियनि भई परस्पर कमलनि मार ।
समरी सखी भई प्यारी तन हा हा करी सब नर कुमार ।।
तब प्यारी पकरे मनमोहन वैनी गूंथि सुढिम्मी सिंगार ।
पीतांबर सिखी सोंध नागरी ललिता ललित उढ़ाई सार ।।
फिर प्यारी पगिया सिर धारी पिय की बीन्धी तिय को सिंगार ।
भाजी भरि मुसिकाइ भाजिसी मुदित बदन छवि की मनिहार ।।
बाढ्यो रंग कह्यो नहि जावे छवि पर वारौं कोटि रतिमार ।
यें श्री कमल नैन हित विहरत संतत श्री वृन्दावन सुन्दर बिहार ।। २

---

१ 'शृङ्गार-रस-सागर', प्रथम खण्ड पृष्ठ-१६१
प्रकाशक और संग्रहकर्ता बाबा तुलसीदास (वृन्दावन)
२ वही पृष्ठ-१७१

गोस्वामी श्री रूपलाल जी महाराज कृत

राग काफी

लसत फाग सुहाग भरे अनुराग सों।
दंपति नित्य किशोर रसिक बड़ भाग सों॥
ताल मृदंग उपंग पणव डफ बाजहीं।
मुरली धुनि सुनि मदन मगन मन लाजहीं॥
भुकि भुकि भुकनि भुकनि सहचरि गावहीं।
लाल लड़ती की प्रेम छकीं हुलरावहीं॥
अपने अपने मेलनि लियें दुहु ओर तें।
रूपे सूर सनमुख कछु कहनि मरोर तें॥
चपलासी चमकाति चहु दिस भामिनी।
घेरि लिये घनश्याम किये हिन यामिनी॥
रंग भरी पिचकारी छूटति हैं हेम की।
मुरि मुरि भरति लगावति गारी प्रेम की॥
सोंधे भरी कमोरी कोरी लावहीं।
कुमकुम मेलि कुमेल मुखें लपटावहीं॥
लियो कपूर पराग झोरी भरि भरि सबै।
उड़वत अबीर गुलाल कहत हो हो सबै॥
भूमक है है गावत दंपति लाड़िले।
नेह भरे खिलवार छके चित चाड़िले॥
नील पीत पट गांठि जोरि ललिता दई।
निरखि दंपति मुख मोरि रूप हित बलि गई॥ १

श्री प्रेमदास जी महाराज कृत

राग कान्हरो

हारी राधा मोहन मध निकुंज में खेलन प्रेम रंगीले।
कंचन पट कुच भरे नैन रंग बिरह कटाछ मार
पिचकारी लाचन परम छबीले।

---

१ वही पृष्ठ-१७६

मलय किंकिनी बाजत ताल मृदंग फैलि रही शोभा
हसन अबीर उड़त रंग सहज असीम ।
प्रेमराशि हित कोक कलनि गुन मिली चलि भुज
मधमी मंडल सेज पै निर्तत रसीले ॥ १

उपर्युक्त चारों ही पद शृङ्गारपरक हैं। होली का त्योहार कुछ है ही ऐसा रंगीला कि होली से सम्बन्धित रचनाओं में शृङ्गारिक बातों को बचाना बड़ा कठिन हो जाता है फिर उपर्युक्त पदों [redacted] रचयिता तो थे ही माधुर्य भाव के उपासक, अतः होली के उत्सव के वर्णन में भी उन्होंने खूब रस लिया है। इन चारों पदों में वैयक्तिकता इतनी तीव्र नहीं है जितना वर्णन का आग्रह प्रबल है। इसका कारण यही है कि उत्सव का सम्बन्ध पूरे समाज से होता है किसी एक व्यक्ति से नहीं फलतः सामूहिक गान के लिए उपयोगी उत्सवों से सम्बन्धित पदों में वैयक्तिकता की कमी और वर्णनात्मकता का प्राधान्य हो जाना स्वाभाविक ही है।

संगीत की दृष्टि से देखा जाय तो उपर्युक्त पदों में से प्रथम दो का सम्बन्ध गौरी राग से तीसरे का काफी से और चौथे का कानड़ा [कान्हरो] से है। काफी राग होली के लिए रूढ़िगत हो गया है और अधिकतर होलियाँ इसी राग में गायी जाती हैं किन्तु होली सम्बन्धी वर्णनों का किसी राग से सीधा सम्बन्ध नहीं जोड़ा जा सकता। मूलतः संगीत एक भावात्मक एवं ध्वनिपरक सृष्टि है, अतः इसमें वर्णन की क्षमता नहीं होती। हाँ यह अवश्य है कि विभिन्न रागों के स्वर-विस्तार द्वारा शोक, करुणाशीलता अथवा उल्लास विषाद इत्यादि का ऐसा ध्वनिपरक वातावरण अवश्य निर्मित हो सकता है जो अपनी प्रकृति के अनुकूल गीतों को मर्मस्पर्शी बनाने में सक्षम होता है फलतः जिन गीतों में वैयक्तिक रागात्मक अनुभूति की तीव्रता होती है उन्हें अपने भाव के अनुरूप राग से अद्भुत तादात्म्य प्राप्त हो जाता है, किन्तु जिन गीतों में वर्णनात्मकता का प्राधान्य होता है उनके लिए प्रयुक्त राग के गायन समय पर ध्यान रखने से प्रायः काम चल जाता है। जहाँ तक होली के त्योहार का प्रश्न है इसमें होली गाने का कोई एक निश्चित समय नहीं है। लोग प्रायः फागुन के पूरे महीने होली गाते हैं और दिन रात में जब उमंग उठती है तभी गाने लगते हैं। यही कारण है कि गायक गौरी कान्हड़ा धनाश्री इत्यादि भिन्न

---

१ वही पृष्ठ-२०२

भिन्न समय के प्रायः सभी रागों में धमार गाये हैं। 'पलीस' 'गारी' 'हाथी' 'बना' 'मौप' इत्यादि पदों के लिए भी यही कहा जा सकता है। ये भी जिस समय पर गाये जाने के लिए बनाये जाते हैं उसी समय के किसी राग में बाँध लिए जाते हैं अतः सांगीतिक दृष्टि से उपर्युक्त 'होरीधमारों' के चार पदों में से गौरी में बँधे हुए प्रथम दो पद सायंकाल में चार बजे से सात बजे के भीतर किसी भी समय गाये जा सकते हैं। कान्हड़ा में बँधे हुए पद को मध्यरात्रि के समय गाना उचित होगा तथा काफी में बँधे हुए पद को किसी भी समय गाया जा सकता है, क्योंकि काफी यद्यपि मध्य रात्रिगेय राग है तथापि इस राग में होली सम्बन्धी गीत अधिक होने के कारण इसे दिन या रात में किसी भी समय गा लेने की प्रथा चल निकली है।

होली के विषय को लेकर इन भक्त कवियों ने कतिपय 'रसिये' भी लिखे। ऐसे पदों को 'होरी रसिया के पद' कहा जाता है। 'रसिया' वस्तुतः लोकगीत के अन्तर्गत आता है जिसकी अपनी निजी शैली और धुन होती है। इस धुन में वृन्दावनी सारंग के स्वरों का हलका सा पुट होता है। ब्रज में होली के दिनों में तो 'रसिये' गाये ही जाते हैं अन्य अवसरों पर भी जनसाधारण 'रसियों' द्वारा अपना मनोरंजन करते रहते हैं। होली के उत्सव पर राधाकृष्ण को झूला झुलाते समय भी होली से सम्बन्धित कुछ पद गाये जाते हैं। इन्हें 'होरी डोल के पद' कहा जाता है। इन दोनों प्रकार के पदों के उदाहरण ये हैं

श्री दयासखी जी कृत

होरी को रसिया

मनमोहन सिंगार री तेरे नैन सलोने री।
सौंह दिवाय कहत हौं तोसों पल छिन परहि अलोने री।।
तू अलबेली चाल चाव की अबही आई है गौने री।
मन मोहन तेरे द्वारे ठाढ़े, तू बसि बैठी है कौने री।।
होरी के उत्साह बाजन लागे तू यहि बैठी है मौने री।
दया सखी या ब्रज में बसि कें प्रेम निभायो है कौने री।। १

---

१ 'शृङ्गार-रस-सागर' प्रथम खण्ड, पृष्ठ ११८
प्रकाशक और संग्रहकर्ता बाबा तुलसीदास (वृन्दावन)

गोस्वामी श्री रूपलाल जी महाराज कृत

होरी डोल को पद

राग सारंग

डोल झूलत दंपति होरी रंग रह्यो ।
फाग सुहाग भरे अनुरागनि अंग अनंग मह्यो ॥
सखनि सखनि प्रति झलकत तन दुति बात न बैन कह्यो ॥
वै श्री रूपलाल हित सहचरि झुलवत प्रेम प्रवाह बह्यो ॥ १

ब्रज मण्डल में बसन्त और वर्षाऋतु में जो उत्सव होते हैं उनमें भी भक्तों का उत्साह आवेग के साथ उमड़ पड़ता है। मन्दिरों में भगवान् का शृङ्गार करके 'झाँकी' बनायी जाती है और दूर-दूर से आये हुए भक्तों की भीड़ से मन्दिरों के प्रांगण भर उठते हैं। ऐसे अवसरों पर ऋतुकालीन रागों में बँधे हुए सरस पदों से वातावरण और भी आनन्दमय हो जाता है। उदाहरणार्थ बसन्तोत्सव के अनेक सुन्दर पदों में से दो-तीन यहाँ उपस्थित हैं

श्री रसिक महाराज जी के पद

राग बसंत

राधे तेरे तन बन बसंत आयौ ॥
आनन अंग अनंग निरखि अलिमन अनुराग बनायौ ॥
बल्ली भुजा फली उरजनि फल सुमनै हास-विलास ॥
बहै त्रिविध मारुत सुघराई बचन प्रकाशित स्वास ॥
रसिक बिहारी कहै प्यारी तू नितु बिलसै सुख पाइ ॥
मिलि मिलि मिल सुमन सेज पर आनन्द कह्यो न जाइ ॥ २

श्री ललित मोहनी देव जी का पद

राग बसंत

बिहारी तेरे नैना रूप भरे ।
निरखि निरखि प्यारी राधे को अनत न कहूँ टरे ॥
गुन की डार समूह किशोरी उमंगि उमंगि अली भरे ।
ललित मोहनी की निज जीवन उर ज्यौं उरज भरे ॥ ३

---

१ वही पृष्ठ-१५२
२ शृङ्गार-रस-सागर पृष्ठ-११
३ वही पृष्ठ-७०

श्री भगवत रसिक जी का पद

राग बसंत

मगन दोऊ प्यारे बसंत में फूले।
गोरी किशोरी के अंस दिये भुज स्याम दिये भुज भूले।
सहज सिंगार वसन के अंगनि सोहत पीत दुकूले।
रस में रंग बढ़ावति लाड़िली लाल हिंडोरे से झूले॥
यह सुख निरख सिहावत नागरी नाहु भये अनुकूले।
भगवत रसिक विलोकत यह छवि नैन कुरंग से भूले॥ १

उपर्युक्त पदों की शब्द-योजना निश्चय ही संगीतोपयोगी है। प्रथम पद में यद्यपि सानुप्रासक का भी समावेश है परन्तु प्रसाद गुण की कमी किसी भी पद में न होने से पदों के भाव समझने में कहीं व्याघात उपस्थित नहीं होता। पदों में शृङ्गारिक भावना की भी शालीनता है अतः इनमें गीतिकाव्यानुकूल भाव-तारल्य और भाषा का सारल्य आद्यन्त अनुस्यूत होने के कारण गीत रचना की दृष्टि से पद सुन्दर बन पड़े हैं।

उपर्युक्त तीनों ही पदों का राग-शीर्षक बसन्त है। शास्त्रीय दृष्टि से इसके गाने का समय रात्रि का अन्तिम प्रहर है किन्तु ऋतुकालीन राग होने के कारण यह बसन्त ऋतु में किसी भी समय गाया जा सकता है। बसन्त राग के सम्बन्ध में गायकों में मतभेद भी है। कुछ लोग इसमें पञ्चम वर्जित करके तीव्र मध्यम और दोनों धैवत लगाकर गाते हैं तो कुछ लोग इसे पूर्वी ठाठ-जन्य तार षड्ज वादी और पञ्चम संवादीयुक्त सम्पूर्ण राग मानते हैं। ललितांग इसकी एक मार्मिक विशेषता है। बसन्त का यही प्रकार प्रचलित भी अधिक है किन्तु जब शास्त्रीय संगीत के ज्ञाताओं में ही राग-स्वरूप के सम्बन्ध में मतभेद है तब इन भक्त संगीतज्ञों के राग-स्वरूप में यदि शास्त्रीय दृष्टिबिन्दु का अभाव परिलक्षित हो तो आश्चर्य ही क्या? शास्त्रीय संगीत से भलीभाँति परिचित जिन लोगों ने मथुरा वृन्दावन के मन्दिरों में होने वाले संगीत को सुना है, उनसे यह छिपा नहीं है कि वहाँ के गायकों द्वारा व्यवहृत होने वाले रागों का स्वरूप यदा-कदा उनके शास्त्र निर्दिष्ट मान्यस्वरूप से थोड़ा बहुत भिन्न भी होता है। वहाँ के गायक यदि बसन्त राग के किसी शास्त्रीय प्रकार का व्यवहार करते हैं तो कभी उससे भिन्न स्वरूप भी अपना लेते हैं। ऐसी स्थिति में पदों का अभिधान 'बसन्त

---

१ वही पृष्ठ-७१

के पद' इसी कारण होता है कि उनमें बसन्त ऋतु या बसन्त के उत्सव का वर्णन उपस्थित रहता है। वर्षा ऋतु में राधा-कृष्ण के झूला झूलने से सम्बन्धित मल्हार राग में जो पद गाये जाते हैं उनके विषय में भी यही बात कही जा सकती है। मल्हार के भी लगभग आठ-दस प्रकार गायकों में प्रचलित हैं जिनमें से गौड़ मल्हार, मियाँ मल्हार और सूर मल्हार विशेष लोकप्रिय हैं। मल्हार के प्रकारों के अतिरिक्त सोरठ देस जयजयवन्ती जैसे रागों में भी अनेक आसि स्थिकाएँ ऐसी मिल जाती हैं जिनके बोल वर्षाऋतु सम्बन्धी हैं। ब्रज के भक्त गायक भी वर्षाऋतु अथवा हिंडोले के पदों को प्रायः मल्हार सोरठ देस जैसे रागों में ही गाते हैं परन्तु कभी-कभी वर्षा-वर्णन से सम्बन्धित किसी पद को सामान्यतः भी मल्हार का पद कह दिया जाता है और उसे किसी ऐसे नाद स्वरूप से मण्डित कर दिया जाता है जिसे मल्हार के किसी शास्त्रीय प्रकार में अथवा जयजयवन्ती देस सोरठ प्रभृति रागों के अन्तर्गत सम्मिलित रूप से स्थान देने में संकोच हो सकता है। वस्तुतः संगीत के सम्बन्ध में गायकों का जो दृष्टिकोण होता है उससे सर्वथा भिन्न दृष्टिकोण भक्त गायकों का होता है। संगीत गायक का साध्य है किन्तु भक्त के लिए वह उसकी साधना का अंग मात्र है। भक्त अपने पद के लिए संगीत से भावानुकूल ध्वनिपरक वातावरण प्राप्त करके सन्तुष्ट हो सकता है किन्तु गायक अपने राग की सूक्ष्म भावात्मकता को कलात्मक प्रभविष्णुता से मूर्तिमत्ता प्रदान करने के लिए ही पद या गीत का आधार खोजता है। वस्तुतः 'स्वर' और वर्ण से विभूषित जो ध्वनि जन-मानस का मनोरंजन ही नहीं अपोरंजन करने में भी समर्थ है उसी का नाम संगीत है, अतः भक्त गायकों के पदों को यदि ऐसी ध्वनि का अभीप्सित आधार मिल जाता है तो उनके भावों के तारतम्य की श्रीवृद्धि निश्चय ही हो जाती है। काव्य तथा संगीत का सम्मिलन भी यही है।

वर्षाऋतु के उत्सव से सम्बन्धित कुछ पद ये हैं

श्री घमीठमी जी (घमीठणी जी)

(राग-सोरठ)

हिंडोरे रंग रह्यो सरसाय।

झूलनि में झुकि झूमि रह्यो पिय प्यारी रूप सुहाय।

भीजें उन तरवर चूवैं सारा घनबाँही लपटाय

'रसिकबिहारीजी' रो झूलबो मारा मन मा भोग्य राय॥१

१ श्री निम्बार्क माधुरी पृष्ठ-६०१

श्री भगवतरसिक जी

(राग—मलार)

ललना लाल हिंडोरे झूलैं।
सावन में मनभावन मन को मन भावन करि भूलैं ॥
नीरद नवल माहु उर ऊपर दामिनि भामिनि भूलैं।
"भगवतरसिक" सुनावत गावत गहि डाढ़ी मुख चूमैं ॥१

रीतिकाल में जो भक्त-गायक हुए उनमें से कुछ तो ऐसे हैं जिनमें कवित्व अधिक है और कुछ ऐसे जिनकी रचनाओं में संगीतात्मकता अधिक है। कवित्व के उत्कर्ष के साथ जहाँ भाषा भी क्लिष्ट होने लगती हो वहाँ संगीतात्मकता कम होने लगती है क्योंकि भाषा के काठिन्य के परिणामस्वरूप रचना में जो दुरूहता आ जाती है उसके कारण पदों या गीतों की बोधगम्यता में व्याघात उपस्थित होने लगता है। उदाहरणार्थ श्री किशोर दास जी का यह पद लिया जा सकता है

(राग-केदारो। दीपक बिहार)

निरखि दम्पति परम प्रेम की यामिनी।
सकल सम्पति भई उचित शृङ्गार मणिदीप रचना करत कल बन कामिनी ॥
चलत रस सरित नवनलिन अति भ्रमत उन्मत्ति अलि कुसुमकलित अभिरामिनी
तरुपवनु पुंज बन ठौर मातुरमित मगन मनमथन तन बदन मिलि भामिनी ॥
लन मनमथन मिलि निरखि हरषि हरत जसो मिली रसरत मनोमत्त गजगामिनी
राग रागिनि रंगी बरषि सुम अगमनी दासकिशोर सब सुगम सुनि स्वामिनी ॥२

यह पद राधा-कृष्ण के दीपक-बिहार से सम्बन्धित है। इस पद के लिए केदारो राग का चयन भी प्रशंसनीय है क्योंकि एक तो केदार के गान का समय रात्रि का प्रथम प्रहर है दूसरे 'संगीत-दर्पण' में इसे दीपक राग की रागिनी भी माना गया है[3] अतः राधा-कृष्ण के दीपक-बिहार से सम्बन्धित पद के

१ वही पृष्ठ-१६२
२ वही, पृष्ठ-१५०
३ 'केदारिका दीपकरागिणीयम्' ॥

लिए केदार के निर्देश को और भी बल मिल जाता है। कवित्व की दृष्टि से भी यह पद प्रशंसनीय है। अनुप्रासमण्डित कोमलकान्त पदावली तथा संस्कृतनिष्ठ ब्रजभाषा से पद रचयिता का भाषा पर पूर्ण अधिकार प्रमाणित हो जाता है फिर भी इस पद में भाषागत वह सारल्य ही है जिसकी गीतिकाव्य में अनिवार्य आवश्यकता हुआ करती है। केदार राग में गाये जाने पर भी सामान्य श्रोताओं के लिए इसका अर्थ समझना कुछ कठिन ही होगा और जिस पद का अर्थ ही श्रोताओं को सरलता से समझ में नहीं आ सकता उसके गाये जाने पर वे एक सीमा तक ही उसमें रस ले सकते हैं। श्री रसिकगोविन्द जी ने जो स्तुतियाँ लिखी हैं उनमें भी उच्च कोटि के कवित्व और भाषा पर उनके असाधारण अधिकार के दर्शन होते हैं परन्तु भाषा की क्लिष्टता के कारण उनकी रचनाओं में संगीतात्मकता कुछ कम भी हो गयी है। उदाहरणार्थ यह स्तुति द्रष्टव्य है

श्री रसिक गोविन्द जी

श्री राधारमण-जयति

जयति राधारमन सुखसदन सुन्दरमन अमल ऐश्वर्य सर्वेश स्वामी
जयति ब्रजराज सुत महाप्रभुमतमते जयति परब्रह्म सब अंतर्यामी।
जयति अघमार जय बकीसंहार जय कंसमददलन सुखसार-हारी,
जय यशोदासुवन छबिधामसदन गोप गोपेश अमरराजधारी।
जयति सुरराज-मद-चूर वंशीधर जयति गोविन्द आनन्दकन्दं
जयति जय मोहितानंग महारासरंगं भक्तगुन-निकर वन्दनं।
जयति घनश्याम अभिराम छबिधाम मोहित अमित काम जय महोदारं
जयति पटपीतधर मुकुटधर मालधर जयति कटि किंकिणी कटकधारं।
जयति केयूरधर मुद्रिकाकरयुगल जयति जय मकर कुण्डलधरन जय
जयति मोतीधरन बिम्बओष्ठीधरन हरन-मन भगत-नूपुर-चरन जय। १

इस स्तुति की संस्कृतनिष्ठ शब्द-योजना से 'विनय पत्रिका' में दी हुई

१ 'श्री निम्बार्क माधुरी' पृष्ठ-४८१, ४८०

लक्ष्मण स्तुति १ श्री राम स्तुति २ इत्यादि का स्मरण हो आता है किन्तु जैसे तुलसी के सरल पदों को ही लोग अधिक गाते हैं उसी प्रकार रीतिकालीन पद साहित्य की भी ऐसी ही रचनाएँ अधिक संगीतोपयोगी हैं जो अपेक्षाकृत सरल हैं तथापि इस सम्बन्ध में यदि रचयिता की दृष्टि से विचार किया जाय तो पदों में उसके व्यक्तित्व की छाप पड़ना सर्वथा स्वाभाविक है। जिन लेखकों का साहित्यिक ज्ञान सम्पुष्ट होता है उनकी रचनाओं में कवित्व का उत्कर्ष सहज ही हो जाता है। रीतिकालीन कवियों में भाषा के परिष्कार और अलंकरण की जो प्रवृत्ति जाग उठी थी उसने पद-लेखकों को भी न्यूनाधिक रूप में प्रभावित किया ही था। प्रत्यक्ष-हेतु निम्नस्थ उदाहरण द्रष्टव्य हैं

श्री भगवत रसिक

(राग रामकली)

मेरे प्रानधन स्यामिनि स्याम राधै।
एक-रस-रूप छम-सील नारिक-नायक छक रहैं प्रेम यह नेम साधै॥
कण्ठ कलि विपरीत परस्पर बिछुर नहि जात कहुँ पलक आधै।
नैन की सैनकर बैन 'भगवतरसिक' देत सुख लेत सहचरि अगाधै॥१

---

१ द्रष्टव्य

राग धनाश्री

जयति लक्ष्मणानंत भगवंत भूधर भुजगराज भुवनेस भूभारहारी।
प्रबल-पावक-महाज्वालमाला-वमन, शमन-संताप, लीलावतारी।
श्री वियोगी हरि कृत 'विनय-पत्रिका' की टीका
(तृतीय संशोधित संस्करण) पृष्ठ-११२

२ द्रष्टव्य

श्री राम-स्तुति

जयति सच्चिदव्यापकानंद परब्रह्म-पद, विग्रह-व्यक्त लीलावतारी।
विकल ब्रह्मादि सुर सिद्ध संकोचवश विमल गुन-गेह नर-देहधारी।
श्री वियोगी हरि कृत 'विनय-पत्रिका' की टीका
(तृतीय संशोधित संस्करण) पृष्ठ-१४२

१ 'श्री निम्बार्क माधुरी', पृष्ठ-३११

(राग बिलावल)

है दामिनि के बीच में घन एक बिराजै
रूप अनूपम अद्भुत माधुरी छबि छाजै ।
इन्द्रधनुष नहिं देखिये बगपांतिन भ्राजै
मंद-मंद मृदु घोर सों सुर सज्जन गाजै ।।
उमड़ि घुमड़ि बरसाव करि मिलि स्वातिसमाजै
'भगवत' प्राणपपीहरा पोषत सुख साजै ।।१

श्री नरहरि देव जी

(राग देवगंधार)

प्रिया पिय सुरति-सेज उठि जागे ।
घूमत नैन मगन अलसाने मनहु समर सर भागे ।।
सिथिरे अंग छूटी सिर अलकैं बसन स्वेद कन लागे ।
मानहु बिधि कुसुमन कर पूज्यौं अंग अंग अनुरागे ।।
मिलैं परस्पर बीड़त दोऊ प्रेमकेलि रस पागे ।
'नरहरिदास' अंग छबि निरखत अंग नीर सौं दागे ।। २

उपर्युक्त पदों का साहित्यिक मूल्य निश्चय ही अधिक है। इनमें चलती हुई ब्रजभाषा नहीं साहित्यिक ब्रजभाषा प्रयुक्त हुई है। कवित्व की दृष्टि से भी पद सुन्दर हैं किन्तु काव्य के कलापरक उत्कर्ष को कविता में जैसा महत्व प्राप्त है वैसा गीतिकाव्य में नहीं। गीतिकाव्य की दृष्टि से पद-रचना में काव्य और संगीत का सुन्दर समन्वय ही वांछनीय होता है। कवि और गायक दोनों ही का उद्देश्य व्यक्तिनिष्ठ भावनाओं को आस्वादनीय और सहृदय-संवेद्य बनाना है, अतः गीतिकाव्य में यदि कवित्व का उत्कर्ष आवश्यकता से अधिक हो जाता है तो गीतों की उस काव्य सरसता को आघात पहुँचने लगता है जिस पर उनकी सहज आत्मीयता आधृत रहती है। इसी प्रकार गीतों में यदि सांगीतिक तत्त्व औचित्य का अतिक्रमण कर जाता है तब भी उनकी आत्मा को ठेस पहुँचने लगती है। सौभाग्यवश रीतिकाल के अनेक पद-रचयिता ऐसे ही हैं जिनकी अधिकांश

---

१ वही पृष्ठ-१६१
२ वही पृष्ठ-१६५

रचनाओं में कवित्व की व्याप्ति गीतिकाव्योचित मर्यादा तक ही सीमित रही है। इस कथन की पुष्टि के लिए निम्नलिखित उदाहरण द्रष्टव्य हैं

श्री भगवत रसिक जी

(राग सोरठ)

प्यारी जू ! की सहज अटपटी बोलनि।
हो पिय ! तुम उर बसी कौन तिय ? पहिरे नील-निचोलनि ॥
तुमहूं ते गुन-रूप-आगरी पाई कहाँ बिन मोलनि ?
बड़े-बड़े नैन चपल कजरारे बिथुरी अलक कपोलनि ॥
श्रम-जल-बूंद मनोहर मुखपर लसत उरज नगछोलनि।
उमंगि-उमंगि सन्मुख आवत मन आवत करत कलोलनि ॥
रति के चिन्ह देखियत अंग-अंग रंजित अधर तमोलनि।
'भगवतरसिक' कहो तुम सांची नाहिं करो मनबोलनि ॥ १

श्री अलबेलि अलि [2]

भैरव

लीन्हें कर बीन ललित लाड़िली बजावै।
प्रेम पुलकि अंग-अंग हरष बरन अति उमंग
मधुर-मधुर तान नयी कान सों सुनावैं ॥
झीनि पट बसन चोल कौंपि अंग अंग होत
भूषन दुति अति उदोत उडुगन चमकावैं।
आरस रस-भरे नयन छाई मनु मयन-मयन
रैन की उनींद पलक झपकि-झपकि जाय।
'अलबेलि अलि' उरझि जात लगी मनोरूप माल
मंद-मंद हास बदन आसि में दुराय ॥ ३

---

१ 'श्री निम्बार्क माधुरी', पृष्ठ-१६४

२ अलबेलि अलि विष्णु स्वामी सम्प्रदाय के अनुयायी श्री वंशी अलि जी के शिष्य थे। इनका कविता-काल विक्रम की अठारहवीं शताब्दी माना जाता है।

द्रष्टव्य श्री वियोगी हरि द्वारा सम्पादित 'ब्रजमाधुरीसार' पृष्ठ-२०५ तथा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल कृत 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' पृष्ठ-३८८ संस्करण संवत १९९९

३ श्री वियोगीहरि द्वारा संपादित 'ब्रजमाधुरीसार' (द्वितीय संस्करण) पृष्ठ-२११

श्री बनीठनी जी (बणीठणी जी)

(सोरठ)

आज बरसाने मंगल गाई ।
कुँवरि लली को जनम भयो है घर-घर बजत बधाई ।
मोतिन चौक पुरावो गावो देहु असीस सुहाई
'रसिकबिहारी' की यह जीवनि प्रगट भई सुखदाई । १

श्री नागरीदास जी

(राग-आसावरी)

सजन की पीर न जात सही ।
राति दौंस तलफत ही बीतै चैन नहीं छिन एकघरी ।
बिना मिलें घनस्याम परम तन तपति बुझै ना जात धरी
नागरिया व्याकुल ब्रज-बीथिन टेरत बोलत हरी-हरी । २

श्री आनन्दघन[3] जी कृत

होरी धमारि को पद

रसिक छैल नव की री नगनि में होरी खेलें ।
भरि अनुराग दृष्टि पिचकारी आनि अचानक मेलें ॥
और कहाँ लौं कहो लली री सब बिधि करत भावती केलैं ।
आनँद भूमि रसिया आनंद घन रिझै मिलै रस पलें ॥ ४

उपर्युक्त उदाहरणों में संगीत की दृष्टि से विशेष विचारणीय बात यह है कि श्री भगवत रसिक जी के पद में यदि भाव की अभिव्यक्ति है तो श्री बनीठनी जी के पद का विषय 'कुँवरि लली के जन्म की बधाई' है परन्तु विषय की दृष्टि से अन्तर होते हुए भी दोनों ही पदों में एक ही राग 'सोरठ' प्रयुक्त है । यहाँ

---

१ 'श्री निम्बार्क माधुरी' पृष्ठ-६०१

२ वही पृष्ठ-६२२

३ श्री वियोगी हरि ने 'ब्रजमाधुरीसार' (द्वितीय संस्करण) पृष्ठ-१७४ पर तथा आचार्य शुक्ल ने 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' पृष्ठ-१६८ पर आनंदघन जी को निम्बार्क सम्प्रदाय का अनुयायी माना है ।

४ 'शृङ्गार-रस-सागर' पृष्ठ-२४६

यह प्रश्न स्वाभाविक ही है कि क्या 'सोरठ' ऐसा राग नहीं है जो किसी भावना विशेष या रस विशेष के लिए अधिक अनुकूल माना जा सके ? इस प्रश्न का उत्तर यही है कि भिन्न-भिन्न अभिव्यक्तियों के लिए एक ही राग का प्रयोग कुशल गायक की अपेक्षा रखता है। गीत के भावानुसार राग के स्वरों में विह्वलता ओज उल्लास मार्दव इत्यादि का समावेश गायक की कण्ठ-साधना पर निर्भर होता है। संगीत की पारिभाषिक शब्दावली में इसी का नाम काकु प्रयोग है। सतत् अभ्यास द्वारा ही गायक ऐसे प्रयोगों में दक्ष हो पाता है। रीतिकालीन पद रचयिताओं का मानस माधुर्य-भाव के आनन्द में निमग्न था तथा उनके हृदय का यही आनन्द उनके पदों में सर्वांतमय अभिव्यक्ति बनकर फूट पड़ा था। आत्मा का जैसा सम्बन्ध शरीर से है संगीत का बहुत कुछ वैसा ही सम्बन्ध इन भक्त कवियों की रचनाओं से है। यही कारण है कि इन रचनाओं में प्राणों की चेतना की दीप्ति समिद्ध है। संगीत के सच्चे स्वर स्वतः अर्थ की मार्मिकता स्वमेव ही स्पष्ट कर देते हैं। अर्थ-बोध कराने के लिए उन्हें काव्य-कला के समान शब्दों की अनिवार्य आवश्यकता नहीं होती और जब उन्हें कविता का आधार भी प्राप्त हो जाता है तब तो स्वरों की सुकुमार अभिव्यंजना भावनाओं को और भी अधिक कोमलता प्रदान कर उठती है।

अस्तु, अभी तक प्रधानतः रीतिकालीन कृष्णभक्त कवियों का ही उल्लेख हुआ है, किन्तु राम-भक्त कवियों का भी इस युग में एकान्त अभाव न था फिर भी रचना-परिमाण की दृष्टि से रीतिकाल में कृष्ण भक्ति-परक पद-साहित्य जितना लिखा गया उतना राम भक्ति सम्बन्धी नहीं। इसका कारण रीतिकालीन धार्मिकता और भक्ति का विशिष्ट स्वरूप है। आत्मबल का सम्बल प्रदान करने वाले धर्म का वह स्वरूप जो स्वस्थ नैतिक आधार पर अवलम्बित रहा करता है इस युग में तिरोहित हो गया था। रीतिकालीन युग-धर्म ने जिस शृङ्गारिकता को अपना लिया था उसी का एक अंग भक्ति भी बन गयी थी अतः यह युग कृष्ण भक्ति के प्रचार के लिए जितना अनुकूल था उतना राम भक्ति के लिए नहीं। रीतिकाल के पूर्व भक्तिकाल में सूर नन्ददास आदि कृष्ण भक्त कवियों ने जो पद लिखे उनमें किसी सीमा तक शृङ्गारिकता भी समाहित थी किन्तु तुलसी ने मर्यादा पुरुषोत्तम राम की जिस भक्ति को जनता के समक्ष उपस्थित किया उसमें भगवान् का लोकमंगलकारी स्वरूप ही विशिष्ट था अतः भक्तिकाल के अवसान के पश्चात् पर्याप्त समय तक राम भक्ति के इस स्वरूप में परिवर्तन उपस्थित करने का किसी को साहस न हुआ। यद्यपि

तुलसी की 'गीतावली' में भी वसन्तोत्सव जैसे प्रसंगों में थोड़ी सी शृङ्गारिकता आ गयी थी ।१ परन्तु सीता राम की तुलना में राधा-कृष्ण की भक्ति का स्वरूप ही कुछ ऐसा है जिसमें रसिकता सहज ही समाविष्ट हो जाती है, अतः रीति कालीन भक्तों को कृष्ण भक्ति के रूप में एक ऐसा मनोवैज्ञानिक आधार उपलब्ध हो गया जिसका अवलम्ब ग्रहण करके वे अनैतिकता से बचे रहने का बहाना उपस्थित करते हुए सहज ही अपनी मनोवृत्ति के अनुकूल कामिकता को अपना सकते थे। यही कारण है कि इस युग में कृष्ण भक्ति का ही अधिक प्रचार रहा तथापि महाराजा विश्वनाथ सिंह, प्रताप कुँवरि, जुगलराम किंकर राम दयाल तिवारी श्याम सखे इत्यादि के पद इस तथ्य के साक्षी हैं कि रीति काल में राम-भक्ति-धारा संकुचित भले ही हो गयी हो सूखी न थी। उदाहरणार्थ ये पद द्रष्टव्य हैं

महाराजा विश्वनाथ सिंह

उठो कुवर होउ प्रात पियारे ।
हिमरितु प्रात पाय सब मिटिगे नभसर पसरे पुहकर तारे ।।
जगबन मँह निकस्यो हरषित हिय बिचरन हेत दिवस मनिवारे ।
विश्वनाथ यह कौतुक निरखहु रविमनि बरहु दितिनि उजियारे ।। २

प्रताप कुँवरि

होरी खेलन की रतनारी ।
नर तन पाय भरे मति हरि को मास एक दिन चारी
अरे मन मत अनारी ।
ज्ञान गुलाल अबीर प्रेम करि प्रीत तनी पिचकारी ।
सास उसास राम रंग भर भर सुरत सरी री नारी ।।
खेल इन संग रमा री　　３

---

१ द्रष्टव्य—तुलसी कृत गीतावली उत्तर काण्ड पद-संख्या, ७२ पृष्ठ—४२८, ४२९ प्रथम संस्करण (गीताप्रेस, गोरखपुर)

२ द्रष्टव्य—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल कृत 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' पृष्ठ १७१ संस्करण संवत् १९९९

३ डा० सावित्री सिन्हा कृत 'मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ' (प्रथम संस्करण) पृष्ठ—२१०

तुलछराम

सीताराम जी से खेलूँ मैं होरी । मर सूं गुलाल की मारी ॥
सखकर आई जनक किशोरी । चहुँ कुंकुम की झोरी ।।
मीठे बोल सियावर बोलत । सब सखियन की टोरी ॥
हँसि हर सूं कर जोरी ॥१

× × ×

सियावर श्याम लगे मोय प्यारे हैं ।
शीश मुकुट मकराकृत कुण्डल भाल तिलक सुखकारी हैं ।
मुख की शोभा कहा कहूँ उपमा कोटि चन्द उजियारी हैं ।
गल बिच कंठी है रतनारी बनमाला उरधारी हैं ।
केसरियो जामो जरकस को दुपटो लाल सुप्यारी हैं ।
पीताम्बर पट कटि पर सोहे, पायन झांझर प्यारी हैं ।
तुलछराम कहे मो हिरदय बिच धाय बसो सुखकारी हैं ॥ २

दिनकर

पद

दूरि करो गुमराई, बाबा
टेढ़ी बात से कछ नाहिं काम चलतो है गरिबाई ।
बुरे फेल से कोउ न छोड़े जम की बुरी बलसाई ।
कह दिनकर यक राम भजन बिन झूठी सब चतुराई । ३

राम दयाल तिवारी

भजु राम नाम राम नाम रामा ।
राम-नाम वेद-मूल इनके नहि और तूल
भजत नसत त्रिविध शूल छूटत भव धामा ॥१॥
राम-नाम विमल नीर, संयम सत्संग तीर,
मज्जत निर्मल शरीर पावत निज धामा ॥२॥

---

१ वही, पृष्ठ—२१२
२ वही पृष्ठ-२१२
३ 'मिश्रबन्धु-विनोद' (लेखक मिश्रबन्धु) चतुर्थ भाग (प्रथम संस्करण) पृष्ठ—१०

राम-नाम कमल-फूल संतन-मन भ्रमर-फूल
पीवत रस झूमि-झूमि अमृत अनुपामा ॥३॥
राम-नाम निराकार, राम धाम नमस्कार,
दीजै हरि भक्ति सार, यश पल भर रामा ॥४॥ १

श्याम सखे

रंगियन मारें छवि धाम।
मिमिकट धुधुकट मृदंग बजावत कोई सारिगम गति तान
कोई पद नाचत सैन दिखावत कोई कर रति उत्थान कोई मन पेखि छन मान।
रसिकन हित पिय करत पहुत रस पूरन रस सिंगार।
मधुर रस जान शंभु सनकादिक सिय पिय राम बिहार। २

× × ×

पनिघट पर हमको मोहि गई दशरथ के प्यारे साँवरिया।
जल भरत भरत कटि करकि गई सरकत सारी सरकि गई निरखत छवि।
घूँघट उघरि गई चित चोरन ज्यों भई बावरिया।
फिर संभरत नीर भरि शीश धरा मन मोहन साजन नजर पड़ा।
दृग लागत चौगुन चाह बढ़ा सुधि बुधि गई घर गागरिया।
धरि खींच लई पिय पीत पटा मानो दामिनि के संग मेघ घटा।
बिनु मोल बिकी हम श्याम सखे पिय के संग दीन्हीं भाँवरिया। ३

उपर्युक्त पदों में भी सामान्यतः वैसी ही भावनाओं की अभिव्यक्ति हुई है जैसी रीतिकालीन कृष्ण भक्ति-धारा के कवियों में परिलक्षित होती है। श्याम सखे की पदावली में तो माधुर्योपासना का स्वर ठीक रीतियुगीन रसिक भक्तों जैसा ही है। वस्तुतः रीतिकाल के समाप्त होते-न-होते राम भक्ति पर भी कृष्ण भक्ति-धारा का पर्याप्त प्रभाव पड़ गया था। धीरे-धीरे यह मनोवृत्ति इतनी बढ़ गयी कि राम भक्त कवि राम को कृष्ण से भी कहीं अधिक विलास-क्रीड़ा प्रवीण सिद्ध करने में प्रयत्नशील हो उठे। ४ वस्तुतः अपने समग्र रूप में रीति

---

१ वही पृष्ठ-८२
२ श्री भुवनेश्वर नाथ मिश्र 'माधव' कृत 'राम-भक्ति-साहित्य में मधुर उपासना' (प्रथम संस्करण बिहार-राष्ट्रभाषा परिषद पटना) पृष्ठ-२७१
३ वही पृष्ठ-२७०
द्रष्टव्य—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल कृत 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' पृष्ठ १७१ १७२ संस्करण संवत् १९९९

कालीन पद-साहित्य भगवत् प्रेम की लोकोत्तर शृङ्गारिक छटा से अनुप्राणित और दृढ़ तथा शुद्ध भक्ति का व्यंजक है। ये कवि अपने ही भाव में ऐसे निमग्न थे कि सामान्य लोगों पर उनकी शृङ्गारिक उक्तियों का क्या प्रभाव पड़ेगा इसकी उन्हें चिन्ता न होती थी तथापि इसमें सन्देह नहीं कि इन कवियों के काव्य की आत्मा संगीत रही है। संगीत में निमग्न होकर ही ये भाव-व्यंजना करते थे, अतः उन्हें काव्य करना नहीं पड़ता था वह स्वतः उद्भूत होता था। वस्तुतः यही वह स्थल है जहाँ काव्य संगीत के साथ एकाकार हो जाता है। अपने समस्त हृदय को और भी तन्मयता प्रदान करने के लिए ही ये कवि संगीत के स्वरों में तल्लीन हुए थे। वस्तुतः संगीत के प्रत्येक स्वर का एक निश्चित भाव रूप अथवा विशेषत्व होता है। उदाहरणार्थ रिषभ की प्रकृति यदि पराक्रम से युक्त है तो गान्धार और निषाद की प्रकृति शृङ्गारिक एवं करुण है। मध्यम की प्रकृति शान्त-गम्भीर है तो पंचम अपने आप में उल्लास को अपनाये हुए है। धैवत भय और उग्रता का उन्मेष करता है किन्तु स्वरों की इस आत्मा के दर्शन किसी विरले तपस्वी को ही होते हैं। स्वर्गीय पण्डित विष्णु दिगम्बर पलुस्कर की संगीत-साधना ऐसी ही थी। यही कारण था कि जब वे 'रघुपति राघव राजा राम' को ही भावावेश में गुनगुना उठते थे तब स्त्री-पुरुष बालक-वृद्ध की भीड़ उनके स्वरों के प्रभाव से विह्वल होकर उनकी पंक्ति को भावावेश से दुहरा उठती थी।

अस्तु, रीतिकालीन भक्तों ने भी स्वर की चोट का अनुभव किया था। उनका प्रधान लक्ष्य चाहे संगीत-साधना न रहा हो परन्तु चाचा हित वृन्दावन दास अलबेली अलि भगवत रसिक बनीठनी और किशोरी दास जी इत्यादि भक्त कवियों ने अपनी भक्तिपरक अभिव्यक्ति के लिए संगीत को प्रमुख साधन के रूप में अवश्य ग्रहण किया था।

इन भक्त गायकों के अतिरिक्त घनानन्द की रचनाएँ तो रीतिकालीन गीतिकाव्य का शृङ्गार ही हैं। घनानन्द स्वतः उत्कृष्ट गायक भी थे अतः एक ओर तो उनकी मुक्तक रचनाओं में आन्तरिक संगीत काव्योचित प्रेमानुभूति और गेयत्व का समावेश हो गया था तथा दूसरी ओर पदों में भी संगीत से समन्वित होकर उनका हृदय लिपटा हुआ चला आया। उनके अनेक पद ऐसे हैं जो आज भी गाये जाते हैं। संगीत के विद्यार्थियों के विभिन्न पाठ्यक्रमों में जो पुस्तकें स्वीकृत हैं उनमें भी घनानन्द की रचनाएँ विद्यमान हैं। उदाहरणार्थ घनानन्द का यह पद लिया जा सकता है

(पद संख्या १०२६)

'लागि रह्यो मन रावाबर सों और कहूँ कछु और उपर सों ।
बिन रतियाँ अँखियाँ आवें मेरी ठाढ़े रहें कछु रूप सुधर सों ।
घनआनँद प्रभु आये नेहा प्रेम रचौंगी मैं गिरधर सों ॥' १

यही पद 'हिन्दुस्तानी संगीत-पद्धति क्रमिक पुस्तक मालिका' के प्रथम भाग पृष्ठ-२५ पर खमाज राग में उद्धृत है।

घनानन्द मुहम्मद शाह रंगीले के मीर मुंशी थे। जैसा कि प्रस्तुत प्रबन्ध में अन्यत्र कहा जा चुका है मुहम्मद शाह रंगीले स्वतः उच्च कोटि के संगीतज्ञ थे। उनके रचे हुए अनेक ख्याल आज भी गायक बड़े आदर से गाते हैं। ऐसे संगीतज्ञ-नवाब के दरबार में संगीत-कला को अत्यधिक आदर मिलना स्वाभाविक था। घनानन्द की संगीताभिरुचि और प्रतिभा को इस वातावरण से निश्चय ही पर्याप्त प्रेरणा मिली होगी। साथ ही उनके जीवन की 'सुजान' नामी घटना भी अतीव महत्वपूर्ण है।

संगीत का शायद ही कोई ऐसा कलाकार मिलेगा जिसका हृदय वास्तविक प्रेमानुभूति से पूर्ण हो। साधना द्वारा संगीत में पाण्डित्य का सम्पादन हो सकता है परन्तु स्वरों में हृदय की स्निग्ध और सच्ची पुकार का मार्दव पाण्डित्य पर निर्भर नहीं हुआ करता। अनुभूति की दृष्टि से रीतिकाल में सबसे प्रमुख कवि घनानन्द ही हैं। अभिव्यक्ति की निश्छलता ही उनका वैशिष्ट्य है। उनके पदों में कृष्ण-भक्ति का जो रंग मिलता है वह लौकिक प्रेम का ही सहज उन्नयन है। उनकी प्रेमाभिव्यक्ति वाणी का विलास नहीं 'नेह की पीर' है। हृदय-तत्त्व के प्राधान्य के कारण उनके पद रस-सिक्त हैं तथा उनकी काव्यानुभूति में उनका संगीत-ज्ञान भी समाहित हो गया है इसी कारण उनके पद गायकों के कण्ठहार बने हुए हैं। उनके पदों में आन्तरिक और बाह्य संगीत का सुन्दर समन्वय बहुत ही हृदयहारी है। उदाहरणार्थ टोड़ी (चौताल) में उनका एक पद यह है

'उमँडि उमँडि घुमडि घुमडि झुरि झुरि झुरि झुरि खेलत
राधा-मोहन रस-फागु पागी ।
झमकि बिकसि निकसि अपने अपने कुंजनि में घूमत घुमन्त
झपटि लपटि बातनि बातनि कहुत गहुत अलक बनी घनआनी ।

---

१ 'घनआनँद ग्रन्थावली' (सम्पादक पण्डित विश्वनाथ प्रसाद मिश्र) पृष्ठ–२०४, प्रथम संस्करण

मचत रचत पचत बचत सचत सचत सिरत सिरत मीरत
मरुमोरत करि ऐंचातानो ।
आनंदघन मिलवत रिझवत भींजत रीझत रस लेत देत मन-
मैननि सुखदानी । १

प्रात कालीन सन्धि प्रकाश राग भैरव में बँधा हुआ निम्नांकित पद भी इनके संगीत-समन्वित काव्य-कौशल का अच्छा प्रमाण है

भैरों] (पद संख्या-२२४) [मुलतान]

रसमसे लाल तिहारे नैन कहत ये निशि जगिबे के चैन ।
अली कली मोरहीं चाय राय भरे हमें आए सुख दैन ।
सौंहैं देखि न सकत डीठि-डर मदछकि बने नवल छबिऐन ।
आनंदघन प्रानति सींचत हौं बोलि अमोलि बैन । २

रामकली के इस पद में भी यही बात दृष्टिगोचर होती है

(पद संख्या-४२५)

नींद उनींदे नैन तिहारे हो लाल सुहावने लगें ।
मोहन पियो हियो जु परम विधी भावत भाव जगे हो ।
भरियै डीठि भोर भई कै तुम घाम अनूपम रूप पगे ।
अंग अंग रस बरसत आनंदघन प्राननि पागि लगे ।। ३

घनानन्द की ब्रजभाषा के शुद्ध टकसाली स्वरूप में यथास्थान संगीत-गुणों के समावेश के कारण उनके पदों का माधुर्य और भी बढ़ गया है। उन्होंने अपनी उक्तियों को रमणीय उपकरणों से सजाकर रसोद्रेक का कहीं प्रयास नहीं किया, हृदय की टीस के कारण उनकी उक्तियों में संगीतोपयोगी वक्रता का स्वाभाविक समावेश हो गया है। घनानन्द के संगीत-कौशल और प्रेम की वास्तविक विह्वलता से उनके पद रीतिकालीन गीतिकाव्य में निर्विवाद रूप से शीर्ष स्थान प्राप्त कर लेते हैं।

---

१ 'घनानन्द ग्रन्थावली' (सम्पादक पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र) पृष्ठ-४६३ प्रथम संस्करण

२ वही पृष्ठ-४२१

३ वही पृष्ठ-४२१

निष्कर्ष

१ *रीतिकाल में भी भक्तों द्वारा प्रचुर पद-साहित्य निर्मित हुआ जिसका* सम्बन्ध परम्परागत पद-शैली से सरलतापूर्वक स्थापित हो जाता है।

२ इस युग में निर्गुणोपासक भक्तों ने भी पद लिखे और सगुणोपासकों ने भी किन्तु कृष्ण भक्ति-शाखा के कवियों में माधुर्योपासना की जो प्रवृत्ति व्याप्त रही थी उसकी अतिशय शृङ्गारिकता के कारण उन्होंने अपने पदों को अपने सम्प्रदाय तक ही सीमित रखना उचित समझा फलतः यह पद-साहित्य अभी तक सम्यक रूप से प्रकाश में नहीं आ सका है।

३ राम-भक्ति की अपेक्षा कृष्ण-भक्ति रीतिकालीन मनोवृत्ति के अधिक अनुकूल थी अतः इस युग में कृष्ण भक्ति का प्रचार अपेक्षाकृत अधिक हुआ। यही कारण है कि रीतिकालीन पद-साहित्य में कृष्ण भक्तिपरक पदों का जितना आधिक्य है उतना रामभक्तिपरक पदों का नहीं। कृष्ण-भक्तों की माधुर्योपासना का शनै-शनै राम भक्तों पर भी प्रभाव पड़ा फलतः मर्यादा पुरुषोत्तम राम को भी भगवान् कृष्ण के समान रसिक बन जाना पड़ा अतः राम-भक्ति भी कृष्ण-भक्ति के समान ही संगीत को अपनाकर अग्रसर हुई।

४ रीतिकालीन पद-रचयिताओं ने अपने पदों के लिए जिन रागों का चयन किया है वे निश्चयात्मक रूप से उनके पदों के भावोत्कर्षाधायक हैं।

५ स्वरलिपि अथवा इसी प्रकार के किसी अन्य साधन के अभाव में यद्यपि यह कहना कठिन है कि इन पदों के रचयिता उन्हें कैसे गाते थे परन्तु उनके पदों पर राग-नाम का उल्लेख इस तथ्य का परम प्रमाण है कि मूलतः उनकी रचनाएँ संगीत के आधार को लेकर चली थीं।

६ *संगीत इन भक्तों की साधना का अपरिहार्य अंग बन गया था।* संगीत में निमग्न होकर ही उन्होंने अपने भावों को व्यंजना प्रदान की। वे जिस भाव का परितोष करना चाहते थे उसी के अनुरूप स्वर-योजना में तन्मय होकर संगीतमय रचना कर डालते थे। वस्तुतः उनकी हृदय रागिनी में ही काव्य कुछ ऐसा सम्पृक्त था कि उनकी अभिव्यक्ति में स्वयमेव काव्य और संगीत एकाकार हो उठे थे।

७ संगीत के स्वरों द्वारा जो शुद्ध भावात्मक वातावरण निर्मित होता है यद्यपि उसकी भावात्मकता अतीव सूक्ष्म होती है फिर भी कविता से

संयुक्त होकर वह सूक्ष्मता सर्वथा विस्पष्ट हो उठती है। संगीत के वर्ण अलंकार, काकु इत्यादि की रस-सृष्टि से अपनी निजी सत्ता है। इसके सम्प्रयोग ने रीतिकालीन भक्तों को अपनी संगीतमय भक्ति-साधना में अपूर्व सहायता प्रदान की थी।

८ रीतिकाल में प्रचलित विभिन्न काव्य-रूपों में से गीतिकाव्य का संगीत से सर्वाधिक सम्बन्ध होना एक तो वैसे ही स्वाभाविक है फिर जहाँ संगीत भक्तों की उपासना का आवश्यक अंग ही बन गया हो वहाँ संगीत-तत्त्वों का मधुर समावेश हो जाना कौन बड़ी बात है?

९ रीतिकालीन सम्पूर्ण पद-साहित्य में घनानन्द के पदों का स्थान बहुत ऊँचा है।

रीतिकालीन मुक्तक काव्य और संगीत

(क)

रीतिकालीन कवि और संगीतज्ञ दोनों ही दरबार की शोभा के शृङ्गार थे। दोनों एक ही स्थान पर रहकर अपनी-अपनी कला द्वारा दरबार के एक ही उद्देश्य—कलात्मक मनोरंजन—में रत थे। काव्य और संगीत की पारस्परिक घनिष्ठता ने भी दोनों को एक दूसरे की ओर स्वभावतः आकृष्ट किया फलतः तत्कालीन अनेक कवियों की रचनाओं को उस युग के संगीतज्ञों ने अपना लिया। ऐसी अनेक रचनाओं का संग्रह कृष्णानन्द व्यास कृत 'राग कल्पद्रुम' में सरलतापूर्वक मिल जाता है। इधर उस युग के कवियों ने भी छन्द शब्दालंकार इत्यादि आन्तरिक संगीत के विधायक तत्त्वों से अपनी कविता का मनोनीत शृङ्गार किया।

रीतिकाल में परम्परागत शैली में जो गेय पद लिखे गये उनमें राग-दीपक का उल्लेख हो जाने के कारण संगीत का स्पष्ट समावेश हो ही गया था—यही नहीं वे पद उनके रचयिताओं अथवा शिष्य-वर्ग द्वारा गाये भी जाते रहे किन्तु जिन्हें साधारणतः पाठ्य मुक्तक कहा जाता है उनमें संगीत का समावेश कुछ प्रच्छन्न रूप में हुआ। इस प्रकार की रचनाओं में दोहा कवित्त सवैया प्रभृति छन्दों के माध्यम से संगीतात्मक लय का समावेश हुआ और अनुप्रास, यमक विभिन्न प्रकार की वीप्साओं अथवा अनुकरणमूलक शब्दों के विन्यास से आन्तरिक संगीत भी आ गया। 'राग कल्पद्रुम' में ऐसी अनेक रचनाएँ संगृहीत हैं जिन्हें सामान्यतः पाठ्य मुक्तक माना जाता है गेय मुक्तक नहीं, किन्तु उन रचनाओं में गीति-तत्त्वों के मुखर होने के कारण उन्हें भी तत्कालीन संगीतज्ञों द्वारा क्रियात्मक संगीत के लिए उपयोगी मान लिया गया था। यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि गेय पदों के सम्बन्ध में उनके निर्माणकर्ता द्वारा राग-ताल इत्यादि का प्रायः उल्लेख कर दिया जाता है, अतः गायक के लिए उनके गाने में थोड़ी सी सुविधा हो जाती है किन्तु कवित्त सवैया दोहा इत्यादि में यद्यपि प्रायः राग-ताल इत्यादि का उल्लेख नहीं होता वहाँ भी कुशल गायक के लिए उन रचनाओं को मनोवांछित सांगीतिक रूप प्रदान कर देना कोई बड़ी बात नहीं है।

रीतिकालीन पाठ्य मुक्तकों की रचना सांगीतिक गीत रचना के नियमों[1] के अनुसार नहीं हुई। गेय मुक्तकों तथा इतर मुक्तकों के पारस्परिक भेद को प्रस्तुत प्रबन्ध में अन्यत्र स्पष्ट किया जा चुका है, अतः यहाँ इतना ही कहना अलम् होगा कि गेयों के रचयिता के मानस में राग, उसके नियम, ताल, पद और राग के पारस्परिक सम्बन्ध, पद के शब्दों का लय के अनुसार स्वरपरक विन्यास इत्यादि बातों का गीत के साथ ही स्फुरण होता है। अतः पद जब बनकर तैयार होता है तब उसी के साथ उसका क्रियात्मक-संगीतपरक रूप भी प्रस्तुत हो जाता है। यही कारण है कि सूर, तुलसी, मीरा, घनानन्द, हरिश्चन्द्र प्रभृति पद रचयिताओं के संगीतज्ञ या गायक होने के प्रमाण भी साथ ही साथ उपलब्ध हो जाते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि किसी पद को देख कर कोई कुशल कवि क्रियात्मक संगीत में कुशल न होने पर भी उसी के अनुकरण पर कोई दूसरा पद रच सकता है, परन्तु इसमें भला क्या सन्देह हो सकता है कि संगीत-प्रबोध कवि को पद रचना में जैसी सफलता प्राप्त हो सकती है वैसी किसी अन्य के लिए असम्भव नहीं तो कठिन तो निस्सन्देह है।

रीतिकाल में जो पाठ्य मुक्तक लिखे गये उनमें गेय मुक्तकों की विशेषताओं की अपेक्षा काव्य-तत्त्व अधिक सबल था किन्तु उनमें भाषागत शालीनता और सुकुमारता तथा भावगत कोमलता विद्यमान थी और जिन रचनाओं में ये विशेषताएँ अधिक थीं उन्हें उस युग के संगीतज्ञों ने राग-ताल से युक्त करके अपने काम का बना लिया था। वे गायक अपनी कला में तो दक्ष थे किन्तु कवि नहीं थे, अतः जब उन्हें अपने राग-ताल के अनुकूल कोई सुन्दर कविता बनी बनाई मिल जाती थी तो उससे काम चला लेते थे, उन्हें भला क्या संकोच हो सकता था!

रीतिकाल में गायकों द्वारा जो पद रचे गये उनके वर्ण्य-विषय के सम्बन्ध में प्रस्तुत प्रबन्ध के ८० परिच्छेद में प्रकाश डाला जा चुका है। उनके गीतों की तरह ही रीतिकालीन पाठ्य मुक्तकों के विषय भी प्रायः नखशिख-निरूपण, नायिका भेद, षड्ऋतु अथवा प्रेम या शृङ्गार थे। इस कारण भी पाठ्य मुक्तक गायकों के हाथों में पड़कर गेय स्वरूप धारण कर गये थे। किन्तु जिन पाठ्य मुक्तकों में चमत्कार पाण्डित्य प्रदर्शन और भाषा सम्बन्धी काठिन्य अथवा भाव वर्णनात्मकता थी वे गायकों द्वारा गृहीत न हो सके। क्योंकि उनके साथ ताल

---

1 Laws of musical composition

पर श्रोताओं के लिए उनके भावों को समझना सरल न था अतः ऐसे मुक्तक केवल अपने साहित्यिक रूप में ही बने रहे ।

यदि रीतिकालीन मुक्तकों में निहित आन्तरिक संगीत के कारण पर विचार किया जाय तो उसके लिए भी अधिक भटकना न पड़ेगा । दरबारी कवि को दरबारी संगीतज्ञों को सुनने अथवा उनसे सम्बन्ध रखने में कोई कठिनाई न थी । यही कारण है कि जाने-अनजाने अनेक कवियों ने संगीत के प्रभाव का अपनी कविताओं में प्रशंसात्मक उल्लेख किया । अनेक स्थलों पर तो संगीत के पारिभाषिक शब्द भी उनकी रचनाओं में बड़ी कलात्मकता से समाहित हो गये । छन्दों की लयात्मकता और शब्द-संगठन की नादात्मकता पर भी उनका पूरा ध्यान था । यही कारण है कि रीतिकालीन प्रायः समस्त कविता में अनुप्रास का आग्रह इतना प्रबल हो गया है कि उसे देखते हुए ब्रजभाषा की प्रकृति को ही अनुप्रासमय स्वीकार करने का मोह जाग्रत हो जाता है । इन्हीं विशेषताओं के साथ इन पाठ्य मुक्तकों में जहाँ वैयक्तिक रागात्मकता भी समाहित हो गयी है वहाँ निस्सन्देह पाठ्य मुक्तक मात्र कहने भर के लिए पाठ्य हैं अन्यथा उनमें गीतिकाव्य की विशेषताएँ कम नहीं हैं । उस युग के अनेक कवियों का संगीत-प्रेम और ज्ञान उनकी रचनाओं में भी स्पष्ट है । देव ने तो संगीत पर 'राग रत्नाकर' जैसी एक पुस्तक ही लिख डाली थी । घनानन्द कवि थे तो गायक भी थे । इसी प्रकार बिहारी की प्रसिद्ध उक्ति

'तंत्री-नाद कवित्त-रस सरस-राग रति-रंग
अनबूड़े-बूड़े तरे जे बूड़े सब अंग ।'
(बिहारी-रत्नाकर, दोहा संख्या-२४)

में मात्र विरोधाभास अलंकार का चमत्कार नहीं गहरे अनुभव के आधार पर उद्घोषित एक ऐसा चिरन्तन सत्य है जिसकी अनुभूति संगीत के सच्चे पुजारी को एक न एक दिन अवश्य होती है ।

केशव भी इन्द्रजीतसिंह की प्रशंसा करते समय उनके संगीत प्रेम को नहीं भूले ।१ यही नहीं यदि वे स्वयं भी संगीत-प्रेमी न होते तो मकरंद राय की

---

१ 'करयो अखारे राज को शासन सब संगीत ।
ताको देखत इन्द्र ज्यों इन्द्रजीत रणजीत ॥'
भाव—'इन्द्रजीत ने समस्त राज्य पर सुन्दर शासन जमाकर संगीत का अखाड़ा जमाया और [वे] इन्द्र की तरह संगीत में ही मस्त रहा करते थे ।
लाला भगवानदीन द्वारा लिखित 'कवि प्रिया' की टीका 'प्रिया-प्रकाश', पृष्ठ-९, प्रथम संस्करण

नृत्य-चातुरी १ और तानतरंग के तान-कौशल २ में रस भरे दे सकते थे ?

सेनापति अपनी सद्यःस्नाता नायिका की अलंकृत शोभा को ताल और गीत से रहित प्रवीण गायक की अलापचारी के समान अपने संगीत ज्ञान के बल पर ही बता सके थे। ३ यही नहीं गुजरी, ललित गौरी रामकली मुद्रा कल्याण गुजरी सांझ कल्याणि रागों के श्लिष्ट प्रयोग द्वारा बाला को रागमाला के समान सिद्ध करने में भी उनका संगीत-ज्ञान ही सहायक हुआ है

---

१ "हावभाव संभावना, चीता सम सुखदाय ।
रिझवन हेति सुजान गति नवरंग नवरंगराय ॥"

भावार्थ— नवरंगराय चातुरी नृत्य कला में ऐसी चतुर है कि हावों तथा भावों की कृत्रिम चेष्टाओं को करके अपने प्रियतम (इन्द्रजीत) के मन को आन्दोलित कर देती है अतः वह चीता के समान सुखदायक है। जिस तर्जना या भर्त्सना के द्वारा प्रथम करके प्रियतम के मन को दूर हटाती है फिर तुरन्त ही प्रेम प्रमोद और विश्वास के भावों को प्रगट करके पुनः उसके मन को अपनी ओर आकर्षित करती है यही काम चीता का है।"

वही पृष्ठ—११

२ "तानें तानतरंग की तनु तनु बेधत प्रान ।
बचत कुसुमसर-सरन की अति सजान तनमान ॥"

भावार्थ— तानतरंग की तानें प्राणियों के प्राणों के सूक्ष्मातिसूक्ष्म भागों में घुस जाती हैं। इन तानों में काम के बाणों की शक्ति है उनसे बचने के लिये केवल अति सजान ही समर्थ हो सकता है अर्थात् सजानी ही इन तानों के प्रभाव से बच सकता है अन्यथा उनसे बचाव नहीं।

वही पृष्ठ-१२

३ "सेनापति सहज की तन की निकाई ताकी
देखि कै दुचन जिय उपमा बिचारी है ।
ताल गीत बिन एक रूप कै हरति मन
परवीन गायन की ज्यों अलापचारी है ॥"

सेनापति कृत 'कवित्त रत्नाकर' (सम्पादक श्री उमाशंकर शुक्ल)
दूसरी तरंग छन्द संख्या-२४, पृष्ठ ६१ प्रथम संस्करण

'सीनै सुघराई संग सोहत ललित अंग
सूरत के काम के सुघर ही बसति है।
गोरी नव रस राम करी है सरस सोहै
सूहे के परस कलियान सरसति है॥
सेनापति जाके बांके रूप उरमत मन
बीना में मधुर नाद सुधा बरसति है।
गूजरी मलक मांझ सुभग तलक हम
देखी एक बाला राग माला सी लसति है॥ १

अस्तु रीतिकालीन कवियों की अभिरुचि संगीत की ओर होने में कोई सन्देह नहीं है। ओज माधुर्य इत्यादि गुणों से युक्त रीतिचातुरी के कारण ही उनकी रचनाओं में संगीतात्मकता आ गयी थी किन्तु प्रसाद गुण का अभाव हो जाने के कारण उनकी कविताओं का आन्तरिक संगीत व्यावहारिक संगीत में योग न दे पाता था। उदाहरणार्थ केशव का यह सवैया लिया जा सकता है

'प्रच्छन्न-संयोग-शृङ्गार (सवैया)

बन में वृषभानु कुमारि मुरारि रमैं रुचि सौं रस-रूप पियें।
कल कूजत पूजत काम-कला विपरीत रची रति केलि कियें॥
मन सोभित स्याम जराइ जरी अति चौकी चलै चल चारु हियें।
मखतूल के झूल झुलावत 'केसव' भानु मनौं सनि अंक लियें॥ २

सवैये की लयात्मकता और शब्दालंकारों के सौष्ठव के कारण आन्तरिक संगीत यहाँ भी विद्यमान है, किन्तु अन्तिम पंक्ति में जो उत्प्रेक्षा है वह चाहे केशव के पाण्डित्य की परिचायिका भले ही हो, उसमें प्रसाद गुण का अभाव है। अतः सम्भवतः गायक इसे किसी राग-ताल में बाँध कर गाने की इच्छा नहीं करेगा। गाना सुनते समय यदि अर्थ गुणदोष न हो तो गीत का आकर्षण कम होने लगता है। अतः उपर्युक्त उदाहरण एक ओर तो आन्तरिक संगीत की दृष्टि से सराहनीय है, दूसरी ओर इस बात का भी प्रमाण है कि आन्तरिक संगीत से युक्त होने पर भी यदि कविता में प्रसाद गुण न हो तो वह प्रत्यक्ष गाय जाने के लिए विशेष उपयोगी नहीं होती। इसके विपरीत यह उदाहरण लीजिए

१ वही पहली तरंग छन्द संख्या–१८ पृष्ठ–७ ८

२ केशव-ग्रन्थावली खण्ड–१ (सम्पादक पण्डित विश्वनाथ प्रसाद मिश्र) पृष्ठ–१

'श्रीकृष्णजू को प्रसंग-विध्वंस'

यथा-(कवित्त)

'बनजि की ओर सुनि मोरनि को सोर सुनि
सुनि सुनि 'केशव' अलाप अलीजन को।
दामिनी दमक देखि दहू की दिपति देखि
देखि शुभ-सेज देखि सदन सु बन को।
कुसुम की बास घनसार की सुबास भयो
फूलन की बास मन फूलि कै मिलन का।
हँसि हँसि बोले दोऊ अनहीं मनाए मान
छूटि गयो एकै बार राधिकारमन को। १

यहाँ शब्दों की कारीगरी से आन्तरिक संगीत खूब उभरा है। अर्थ-काठिन्य भी नहीं है, अतः यह कवित्त स्वर-ताल की बन्दिश में अच्छा प्रतीत होगा। फिर भी सांगीतिक निबन्धता में रागात्मक अनुभूति की जो तीव्रता काम्य है, वह इतनी ही नहीं है। रागात्मक अनुभूति भी रस की दृष्टि से अनेक प्रकार की हो सकती है, किन्तु हास्य भयानक बीभत्स इत्यादि रसों की अभिव्यक्ति अधिक संगीतोपयोगी नहीं बन पाती। केशव का अधोलिखित कवित्त इस कथन के प्रमाणस्वरूप उपस्थित किया जा सकता है

'राधिकाजू को बीभत्स रस'

यथा (कवित्त)

'माता ही को मास तोहि भायतु है मीठो गुरु
पियत पिता को लोहू नेक ना घिनाति है।
भैयनि के कठनि को काटति न कसकति
तेरो हियो कैसो है जु कहति सिहाति है।
जब जब होत भेंट तब तब मेरी भटू
ऐसी सौहें दिन उठि न्याति न अघाति है।
मेतिनी पिशाचिनी निसाचरी की जाई है तू
'केसोदास' की सौं कहि तेरी कौन जाति है। २

१ 'केशव ग्रन्थावली' (सम्पादक पण्डित विश्वनाथ प्रसाद मिश्र) पृष्ठ-६१
२ 'केशव ग्रन्थावली' (सम्पादक पण्डित विश्वनाथ प्रसाद मिश्र) पृष्ठ-८६

यहाँ कवित्त में लयात्मक प्रवाह भी है तथा अनुप्रास की नादात्मकता भी, क्लिष्टत्व दोष भी इस रचना में नहीं है फिर भी गायक इसे गाने की आकांक्षा कदापि नहीं करेगा। ताल-स्वर की उत्तम से उत्तम बन्दिश में बाँधने पर भी जैसे ही श्रोता गायक के मुख से इस कवित्त की प्रथम पंक्ति सुनेंगे वैसे ही उनका मन उस गायक और उसके संगीत से विरक्त हो जायगा और कौन गायक भला यह कामना करेगा कि जैसे ही वह अपना गाना आरम्भ करे वैसे ही महफ़िल उखड़ जाय श्रोता भाग खड़े हों और साजिन्दे भी उसका साथ देना छोड़कर आश्चर्य और हास्यमिश्रित मुद्रा से उसकी ओर मुँह बनाकर देखने लगें।

तात्पर्य यह कि संगीत के लिए जो मुक्तक रचनाएँ उपयोगी होती हैं उनमें आन्तरिक संगीत के ऐश्वर्य के अतिरिक्त भाषा की सरलता, भावों की तरलता, वैयक्तिक रागात्मक अनुभूति की कोमलता इत्यादि का समावेश हो जाने पर वे क्रियात्मक संगीत के लिए भी असन्दिग्ध रूप से उपादेय हो जाती हैं, अन्यथा उनमें छन्द-संगठन और अर्थ-व्यंजन-समृद्ध शब्द-योजना से आन्तरिक संगीत तो परिव्याप्त हो जाता है किन्तु वे क्रियात्मक संगीत के लिए उपयोगी नहीं होतीं। यह अन्तर बहुत कुछ वैसा ही है जैसा पाठ्य नाटकों और अभिनेय नाटकों में हुआ करता है। पाठ्य नाटक पढ़ते समय पाठक के मन में उसका मूक अभिनय तो होता रहता है परन्तु उसका प्रत्यक्ष अभिनय सम्भाव्य नहीं होता। इसी प्रकार जो मुक्तक रचनाएँ भावाश्रित शब्द-योजना से रहित और मात्र आन्तरिक संगीत से समृद्ध होती हैं वे संगीत के वातावरण का सृजन करके पाठक या श्रोता में तन्मयता का उद्रेक तो करती हैं परन्तु प्रायः व्यावहारिक संगीत के लिए उपयोगी नहीं होतीं। इसके प्रत्युदाहरण स्वरूप केशव का ही यह कवित्त लिया जा सकता है जिसमें आन्तरिक संगीत के अतिरिक्त गीतिकाव्य-सुलभ वह सरलता भी विद्यमान है जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है

मन प्रभाव-हेतु वर्णन (सवैया)

भाग्यो न मैं मद जोबन को उतर्यो अब काम को काम गयो है।
छाँड़्यो न चाहत जीव कलेवर जीव कलेवर छाँड़ि दयो है।
आवति जाति जरा दिन लीलति रूप जरा सब लीलि लयो है।
'केशव' राम ररौ न ररौ अनसाधे ही साधन सिद्ध भयो है। [1]

---

१ 'केशव ग्रन्थावली' (सम्पादक पण्डित विश्वनाथ प्रसाद मिश्र) पृष्ठ-१५०

उपर्युक्त विवेचना से यह स्पष्ट हो गया है कि रीतिकालीन कवियों की काव्य-चातुरी में प्रकारान्तर से संगीत के तत्व समाहित हो गए थे। अब यदि उस युग के संगीतज्ञों की रचनाओं पर विचार किया जाय तो उन पर रीतिकालीन काव्य मनोवृत्ति की छाप स्पष्टतः परिलक्षित होती है। काव्य-चातुरी में प्रवीण न होने के कारण तत्कालीन संगीतज्ञ स्वरचित गीतों में भाव और शब्द-योजना की दृष्टि से अपने युग के कवियों का अनुकरण करते हुए अपने गीतों के बोल बना लेते थे। रीतिकाल में तत्त्वज्ञान, भक्ति, नीति, वीर और प्रेम सम्बन्धी जो भाव धाराएँ मुक्तकों में आ गयी थीं उन्हीं के अनुरूप सांगीतिक निबन्धनाओं का भी निर्माण होने लगा। शनैः शनैः शब्द रचना और भावधारा में रूढ़िमूलक जड़ता समाहित हो गयी, फलतः रीतिकालीन सांगीतिक निबन्धनाओं से लेकर आधुनिक काल तक की सांगीतिक निबन्धनाओं में रीतिकालीन भावधारा और शब्द-योजना का प्राधान्य दिखायी देता है। इस दृष्टि से वर्तमानकालीन संगीत की परम्परा रीतिकालीन संगीत से अधिकांश में अपरिछिन्न है। उदाहरणार्थ तत्त्वज्ञान, भक्ति और नीतिपरक भावधाराओं से युक्त निम्नलिखित छन्दों के समानान्तर अनेक सांगीतिक निबन्धनाएँ सहज ही उपलब्ध हो जाती हैं

सेनापति

कीनौ बालापन बालकेलि में मगन मन
  लीनौ तरुनापै तरुनी के रस तीर कौ।
अब तू जरा में पर्‌यौ मोह पींजरा में सेना
  पति भजु रामै जो हरैया दुख पीर कौ॥
चितहि चिताउ भूलि काहू न सताउ आउ
  जाहि जैसौ ताउ न बचाउ है सरीर कौ।
नेह देह करि कै पुनीत करि लहु देह,
  जीभै अवलेह देह सुरसरि-नीर कौ॥ १

× × ×

तुम करतार जन रच्छा के करन हार,
  पुजवन हार मनोरथ चित चाहे के।
यह जिय जानि सेनापति है सरन आयौ
  हूजियै सरन महा पाप-ताप दाहे के॥

---

१ सेनापति कृत 'कवित्त-रत्नाकर' पाँचवीं तरंग, बारहवाँ कवित्त

को कोऊ कहौ कि तेरे करम न तैसे हम
        गाहक हैं सुकृति भगति रस साहे के ।
आपने करम करि हौं ही निबहौंगो तौव
        हौं ही करतार करतार तुम काहे के ? १

×   ×   ×

मोहि महाराज आप नीके पहिचाने राखी
        बालकीमौ आगे हेतु लछन कुमार को ।
विभीषन हनुमान तजि अभिमान मेरो
        करैं सनमान जानि बड़ी सरकार को ।।
एरे कलिकाल ! मोहि कासौ न निवारि सकै
        तू तौ मति मूढ़ मति कायर गंवार को ।
खानाजाद मिरदार, पाइपोस-बरदार
        हौं तौ राजा रामचन्द्र जू के दरबार को । २

देव

ऐसो जो हौं जानतो कि जैहै तू बिषै के संग एरे मन मेरे हाथ पाँव तेरे तोरतो ।
आजु लौं हौं कत नरनाहन की नाहीं सुनि नेह सों निहारि हारि बदन निहारतो ।।
चलन न देतो 'देव' चंचल अचल करि, चाबुक चितावनीन मारि मुंह मोरतो ।
भारी प्रेम पाथर नगारो दै गरे सों बांधि राधावर बिरद के बारिधि में बोरतो ।। ३

राय ईश्वरी प्रताप नारायण राय

मोह को जाल पसार चहूं बिधि रावत बैसत काल घनेरो ।
        भाग तू मोह मया तजि भूरख काहू का तू न कोऊ नहि तेरो ।।
नरवर या तन को समझाय प्रताप छटै छिन साम सबेरो ।
        छोड़ि सबै भ्रमजाल निरंतर श्रीवन में बस है मन मेरो ।। ४

---

१ सेनापति कृत 'कवित्त रत्नाकर' पाँचवीं तरंग, उनतीसवाँ कवित्त
२ सेनापति कृत 'कवित्त-रत्नाकर' पाँचवीं तरंग तैंतिसवाँ कवित्त
३ 'कविता-कौमुदी' भाग पहला सम्पादक श्री राम नरेश त्रिपाठी
पृष्ठ-४०६, पाँचवाँ संस्करण
४ 'कविता-कौमुदी' भाग पहला सम्पादक श्री राम नरेश त्रिपाठी
पृष्ठ-५१०, पाँचवाँ संस्करण

ग्वाल

तात मात भ्रात सुता औ सुत बनितादि
　　मानके अतीव साथ चले हैं न लेखा पै ।
हाथी हथियार हय गय ग्राम धाम
　　धोरे भूषन बसन छूटि जैहैं नैक देखा पै ॥
'ग्वाल' कवि कीजे सतसंगत औ पूजें पग
　　राखि निज चित एक सामरे की सेवा पै ॥
कोऊ है न हित सब चित के लिवैया अरे,
　　भूले मति चित चित काम के कलेवा पै ॥ [1]

राम घनश्याम के न नाम तैं उचारे कबूं
　　काम बस ह्वै कै बाम गरे बांह डाली है ।
एक एक स्वांस पे अमोल कढ़े जात हाय
　　लोभ चित पर्‌यो बोल फोरत उताली है ।
ग्वाल कवि कहै तू बिचारै क्यों बड़े नर
　　एरे ! अब छिन छिन आयु की बहाली है ।
जैसे बार दीजत फुहारे की भरत जाके
　　पाछु जल घटे होत होत जाके खाली है ॥ [2]

उपर्युक्त रचनाओं में संसार से विरक्ति तथा ईश्वर में आस्था की भावनाएं अतीव सबल हैं । उत्तम पुरुष के सर्वनामों का प्रयोग कवि की वैयक्तिकता को भी स्पष्ट कर देता है । अपने जीवन काल में एक न एक दिन मनुष्य ऐसी वैराग्य परक भावनाओं में अवश्य निमग्न होता है अतः ये भावनाएं मानव-हृदय के चिरन्तन सत्य को ही अभिव्यक्त करती हैं । इन रचनाओं की 'भज हरि नाम तू'[3]

१ 'ग्वाल-रत्नावली' सम्पादक कवि 'किंकर' संस्करण सन् १९४२, पृष्ठ-२४ २५

२ 'कविता कौमुदी' भाग पहला सम्पादक श्री राम नरेश त्रिपाठी पृष्ठ-४११ ४१२ पांचवां संस्करण

३ द्रष्टव्य　　राग यमन-त्रिताल (विलंबित लय)
स्थायी
भज हरि नाम तू भोरे मनवा

मोरे मनवा' 'तू ही भज भज रे मना कृष्ण वासुदेव' १ 'रब सों नेह लगा तू मनवा २ इत्यादि सांगीतिक निबन्धनाओं से मिलाने पर अद्भुत साम्य दृष्टिगत होता है। यहाँ यदि कोई अन्तर है तो बस इतना ही है कि संगीतज्ञों की रचनाओं में काव्य-कला का वैसा निखार नहीं है जैसा रीतिकालीन काव्य-कला कुशल कवियों की रचनाओं में सहज ही उपलब्ध हो जाता है।

उपर्युक्त उदाहरण रीतिकालीन उन मुक्तकों के हैं जिन्हें पाठ्य माना जाता है गेय नहीं किन्तु जब इनमें ही संगीतात्मकता और गीतिकाव्यानुकूल वैयक्तिकता

सब सुखकारन भवभय हारक
पूरन होत सकल तेरे काम।
अंतरा
यह संसार घड़ी का सपना साथ एक ईश्वर को नाम।

आचार्य भातखण्डे हिन्दुस्थानी संगीत-पद्धति क्रमिक पुस्तक मालिका पृष्ठ-१० ११ तृतीय संस्करण

१ राग यमन कल्याण-चौताल (विलंबित)
स्थायी
तूं ही भज भज रे मन कृष्ण वासुदेव
पद्मनाभ परमपुरुष परमेश्वर नारायण।
अंतरा
योग याग जप तप कर वामदेव नारद मुनि
वसिष्ठ सनकादिक सकल सुर गावत ध्यावत
अष्टयाम करत रहत पारायन।

वही, पृष्ठ-२१, २४, २५

२ राग बिलावल-त्रिताल (मध्यलय)
स्थायी
रब सों नेहा लगा तूं मनवा
दूजो नाहिं सजनवा।
अंतरा
सांचो सुखी कोउ जग मों न दीखत
हररंग नाम रटनवा।

वही, पृष्ठ-७१ ७४

विद्यमान है तब सहजोबाई, दयाबाई, सुन्दरदास नागरीदास वृन्द इत्यादि ने तत्वज्ञान नीति अथवा भक्ति सम्बन्धी जो रचनाएँ अपने मन को शान्ति और एकाग्रता प्रदान करने के हेतु गाने के लिए ही लिखी थीं उनमें संगीत-तत्व समाहित हो जाने में भला क्या सन्देह हो सकता है ?

प्रसिद्ध कवि दीनदयाल गिरि ने एक स्थान पर कहा है

> "तान सुर ग्राम कौं न काम अनुरागै जौन
> जाकौं मन पागै तौन लागै भली गीति है।" १

यह संगीत का वह दृष्टिकोण है जो अपनी प्रकृति में शुद्ध कलावादी नहीं है किन्तु संगीतज्ञ के लिए संगीत का कलापक्ष उपेक्षणीय नहीं होता। मन्दिरों में कीर्तन करने वाले भक्त जन नीति-वैराग्यपरक रचनाओं को गाते हुए मिलाटन करने वाले या संगीत के माध्यम से अपनी आत्मा को शान्ति और मन को प्रबोध देने वाले साधु-सन्यासी इस बात की चिन्ता ही कब करते हैं कि जो कुछ वे गा रहे हैं वह संगीत-शास्त्र-सम्मत घरानेदार गायकी और गामकी है या नहीं। उनके लिए तो वस्तुतः यही सत्य है कि 'जाकौं मन पागै तौन लागै भली गीति है' और यदि संगीत की शास्त्रीय ऊहापोह से तटस्थ रहकर कोई व्यक्ति किसी छन्द को अपनी हुई धुन में गा लेता है तो संगीतज्ञ उसे राग-तालयुक्त शास्त्र-सम्मत रूप प्रदान करके भी गा सकता है। अस्तु, एक ओर यदि उपर्युक्त प्रकार भावों की रचनाएँ गायी जाती रहीं तो दूसरी ओर उनके अनुकरण पर अथवा उनके समानान्तर सांगीतिक निबन्धनाएँ भी निर्मित होती रहीं। तुलनामूलक अध्ययन के लिए निम्नस्थ उदाहरण पर्याप्त होंगे

सहजोबाई

> ना सुख दारा सुत महल ना सुख भूप भये।
> साधु सुखी सहजो कहै तृष्णा रोग गये ॥ २
> बैठ बैठ बहुतक गये जग तरवर की छाँहि।
> सहज बटाऊ बाट के मिलि मिलि बिछुरत जाँहि ॥ ३

---

१ 'दीनदयाल गिरि ग्रन्थावली, काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित (संवत् १६७६) पृष्ठ-६ छन्द संख्या-१८

२ 'कविता कौमुदी भाग पहला सम्पादक श्री राम नरेश त्रिपाठी पृष्ठ-४१८ पाँचवाँ संस्करण

३ वही पृष्ठ ४१८

है अखण्ड व्यापक सकल सहज रहा भरपूर।
ज्ञानी पावे निकट ही मूरख जाने दूर ॥ १

दयाबाई

दया कुँवर या जगत में नहीं रह्यो थिर कोय।
जैसो वास सराय को तैसो यह जग होय ॥ २
तात मात तुम्हरे गये तुम भी भये तयार।
आज काल में तुम चलो दया होहु हुसियार ॥ ३
बड़ो पेट है काल को नेक न कहूँ अघाय।
राजा रानी छत्रपति सब को लीले जाय ॥ ४

गुरु गोविन्द सिंह

का भयो जो सबही जग जीत सु लोगन को बहु त्रास दिखायो।
और कहा जु पै देस बिदेसन माँहि भले गज गाहि बँधायो ॥
जो मन जीतत है सब देस वहै तुमरे नृप हाथ न आयो।
लाज गई कछु काज सर्यो नहिं लोक गयो परलोक गँवायो ॥ ५

सुन्दरदास

कौन कुबुद्धि भई घट अन्तर तू अपने प्रभु सूँ मन चोरै
भूलि गयो विषया सुख में सठ लालच लागि रह्यो अति घोरै ॥
ज्यूँ कोउ कंचन छार मिलावत ले करि पत्थर सूँ नग फोरै।
सुन्दर या नरदेह अमूलक तीर लगी नवका कित बोरै ॥ ६

---

१ वही पृष्ठ-४६८
२ वही पृष्ठ-४७०
३ वही पृष्ठ ४७०
४ वही, पृष्ठ-४७०
५ 'कविता कौमुदी' भाग पहला सम्पादक श्री राम नरेश त्रिपाठी, पृष्ठ-४०० पाँचवाँ संस्करण
६ वही पृष्ठ-१४१, १४२

दीनदयाल गिरि

मर्‍यो है कुरंग बीन सबदविषय संग
जर्‍यो है पतंग दृग उमंग रूप रासि रे।
पर्‍यो है मतंग गाढ़ परस विषै अधीन
हर्‍यो मीन रसनें मधुप गन्ध पासि रे।
एक एक विषै तें मरे हैं एक एक जीव
नर क्यों न मरै जाहि पाँचनि ने नासि रे।
ऐसो डर ताहि ज्ञान-ध्यान ते कराय
जानि विषै विषहूँ बिसास ताहि त्यागि रे॥ १

जिहै न कोउ पारखी सो मन नाहिं दुख]सोय।
मुंगा मानिक एक सम करैं जहाँ जड़ लोय॥ २

करको मानिक निदरि नर दुहुन दूर समात।
गज तीर तिमनै तऊ दूर हीरपनि जात॥३

नागरी दास

कबहू कलपना काम कलेस निवारनी।
पर निन्दा परद्रोह न कबहु बिचारनी॥
मम प्रबंध सम्भार न चित्त चढ़ाइये।
ब्रजसागर भरमाम सु निसिदिन गाइये॥ ४

वृन्द

जो जाको गुन जानही सो तिहि आदर देत।
कोकिल अम्बहि लेत है काग निबौरी हेत॥५

अगम पन्थ है प्रेम को जहाँ ठकुराई नाहिं।
गोपिन के पाछे फिरे त्रिभुवन-पति बन माहिं॥६

---

१ 'दीनदयाल गिरि ग्रन्थावली' काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित (संवत १९७६) पृष्ठ १७०
२ 'दीनदयाल गिरि-ग्रन्थावली' काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित (संवत १९७६) पृष्ठ ७५
३ वही, पृष्ठ-७५
४ 'कविता कौमुदी' भाग पहला सम्पादक श्री रामनरेश त्रिपाठी पृष्ठ-४४१ चौथा संस्करण
५ 'वृन्द सतसई सटीक' टीकाकार श्रीकृष्ण शुक्ल पृष्ठ-९, द्वितीयावृत्ति
७ वृन्द सतसई सटीक टीकाकार श्रीकृष्ण शुक्ल, पृष्ठ-११२ द्वितीयावृत्ति

उपर्युक्त रचनाएँ प्रसादगुणपूर्ण सरस वैयक्तिक रागात्मक अनुभूति एवं संगीत में गृहीत शब्द-योजना और भावधारा के कारण विद्वान् संगीतज्ञों को सहज ही आकर्षित करने में समर्थ हैं। ज्ञान वैराग्य और नीति को लेकर लिखी हुई ऐसी ही गायिकाओं की संगीत-क्षेत्र में भी कमी नहीं है। उदाहरणार्थ निम्नलिखित गायिकाएँ द्रष्टव्य हैं

राग दरबारी कानड़ा-त्रिताल (मध्यलय) १

स्थायी

समझत ना मन तू मेरा
लाख बार समझावत हूं मैं
काहे न तजत अंधेरा।

अंतरा

झूटी माया झूटी काया
झूटा जगत पसेरा
अंत समय कोइ काम ना आवत
बस प्रभु एक तेरा।

× × ×

राग अडाना-त्रिताल (मध्यलय) २

स्थायी

करना हो सो करले प्यारे
जनम जात दिन रैन सवारे।

अंतरा १

धन जोबन नर थीर नहीं है
चेतन हो तो चैन सवारे।

अंतरा २

मनरत प्रभु मत भूल जगत संग
काहे को सिर पर भेद तु मारे।

---

१ द्रष्टव्य : आचार्य भातखण्डे कृत हिन्दुस्तानी संगीत-पद्धति क्रमिक पुस्तक मालिका' चौथा भाग (द्वितीय संस्करण) पृष्ठ-१६२, १६३

२ द्रष्टव्य : वही पृष्ठ १०७ १०८

राग आसावरी–त्रिताल (मध्यलय) १

स्थायी

अरे मन समझ समझ पग धरिए
इस जग में नहीं अपना कोई परछाईं सों डरिए ।

अंतरा

दौलत दुनियां कुटुम कबीला
इनसों नेह न कबहुं करिए
राम नाम सुख धाम जपत चल
सुमरन सौं जग तरिए ।

इन गायिकियाओं की शब्द-योजना पर ध्यान देते ही यह स्पष्ट हो जाता है कि सहजोबाई, दयाबाई, सुन्दरदास इत्यादि न संसार की नश्वरता और सुत, दारा वनिता इत्यादि से प्राप्त होने वाले सुख को जिस प्रकार झूठा सुख माना है, उसी प्रकार इन गायिकियाओं में भी संसार से विरक्ति की भावनाएँ अभिव्यक्त हुई हैं ।

नीतिपरक भावनाएँ भी सांगीतिक निबन्धनाओं का विषय रही हैं । उदाहरणार्थ यह प्रायः कहा जाता है कि सर्वत्र भाग्य ही फलित होता है, विद्या और पौरुष नहीं । कामेमी के अधोलिखित ख्याल में भी यही भावना विद्यमान है

राग बागेश्री–एकताल (विलंबित) २

स्थायी

यह गुन काम न आवे सजनी
जब लग करम नाहिं जागे ।

---

१ द्रष्टव्य आचार्य भातखण्डे कृत 'हिन्दुस्तानी संगीत-पद्धति क्रमिक पुस्तक मालिका' दूसरा भाग (तृतीय संस्करण) पृष्ठ-११८, ११९

२ द्रष्टव्य आचार्य भातखण्डे कृत 'हिन्दुस्तानी संगीत-पद्धति क्रमिक पुस्तक मालिका' चौथा भाग (द्वितीय संस्करण) पृष्ठ-४१४ ४१५

अंतरा

जवाहर चुनी है लाल रंगीले
रूप जोबन गुन भरो ही रहत
इन भागन के आगे।

प्रस्तुत प्रबन्ध के छठे परिच्छेद में रीतिकालीन रचनाओं की भाव-धाराओं पर विचार करते हुए यह स्पष्ट किया जा चुका है कि इस युग के भक्ति-काव्य की परम्परा भक्ति-काल से सम्बद्ध है। रसिक गोविन्द कृत 'युगल रस माधुरी' सोमनाथ कृत 'कृष्ण लीलावती' अथवा नागरीदास या चाचा हित वृन्दावन दास ने जो गेय पद लिखे उनमें कृष्ण भक्ति के साथ शृङ्गार भी समाहित हो गया था। कृष्ण-लीला से सम्बन्धित ऐसी ही आख्यायिकाएं संगीतज्ञों द्वारा भी निर्मित हुई जिनमें शृङ्गार का भी पर्याप्त पुट था। उदाहरणार्थ ये आख्यायिकाएं देखिए

राग केदार-त्रिताल (मध्यलय) १

स्थायी

तुम पर वारि कृष्ण मुरारि
सखी हमारि सुनो बनवारि।

अंतरा

ले कर और कदम पर बैठे
हम जल मांझ उघारी।

राग तोड़ी-त्रिताल (मध्यलय) २

स्थायी

लाज करत मोसे रार एरी माई
अब ही आय कहु जसोदा घर
भंवर भवर मोरि गगरी दीनी डार।

---

१ द्रष्टव्य वही, पृष्ठ-३४६, ३४७

२ द्रष्टव्य आचार्य भातखण्डे कृत 'हिन्दुस्थानी संगीत-पद्धति क्रमिक पुस्तक मालिका' दूसरा भाग (तृतीय संस्करण) पृष्ठ-४३१, ४१९

अंतरा

मैं हूँ पि सेवन बात बिछावन
धाम पधारक तुमरो बार
बाट बाट में रोकत टोकत
अपने भगत को लीजे संभार।

इन आशिष्टिकाओं के अतिरिक्त ऐसी भी अनेक आशिष्टिकाएँ लिखी गयीं जिनमें रीतिकालीन कवियों के समान गंगा गणेश कृष्ण इत्यादि की स्तुति की गयी है। उदाहरणार्थ शंकरे की इस निबन्धना में बहुत कुछ वैसी ही भावना है जैसी पद्माकर कृत 'गंगालहरी' के छन्दों में परिलक्षित होती है

राग शंकरा—झपताल (मध्यलय) १

स्थायी

जय गंगे तारनि जगत जननि पाप हरनी
अमल बरनि बैकुंठ की निसानि।

अंतरा

भागीरथी विष्णु पद पूत त्रिपथगा
जाह्नवी पावनी जग जानि जग मानि।

पद्माकर

विधि के कमंडल की सिद्धि है प्रसिद्ध यही
हरि-पद-पंकज-प्रताप की लहर है।
कहै 'पद्माकर' गिरीश-सीस-मंडल के
मुंडन की माल ततकाल अघहर है॥
भूपति भगीरथ के रथ की सुपुण्य-पथ
जन्हु-जप-जोग-फल-फैल की फहर है।
छेम की छहर गंगा रावरी लहर,
कलिकाल को कहर जमजाल को जहर है॥ २

---

१ ग्रन्थ वही चौथा भाग (द्वितीय संस्करण) पृष्ठ-२२६, २२७

२ श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र द्वारा सम्पादित 'पद्माकर-पंचामृत' में गंगालहरी का पृष्ठ-२८७, प्रथम संस्करण

इन भावनाओं के इस साम्य के अतिरिक्त और भावनाएँ तथा प्रेम और शृङ्गार की भावनाएँ भी रीतिकालीन मुक्तकों और सांगीतिक आस्थायिकाओं में समान रूप से आ गयी थीं। अडाना शंकरा हिंडोल प्रभृति रागों के स्वर-विन्यास में ऐसा ओज विद्यमान है जो सहज ही श्रोता के मानस में वीरता के भावों का उद्रेक कर सकता है। इधर रौद्र भयानक और इत्यादि रसों के निरूपण में रीतिकालीन वीर काव्य में जो शब्द-योजना हुई उसमें ओज गुण और परुषावृत्ति के द्वारा बराबर नादात्मक कठोरता के सृजन का प्रयास हुआ। रीतिकालीन अलंकार-योजना और संगीत के सम्बन्ध को स्पष्ट करते समय इस सम्बन्ध में विचार किया जा चुका है, अतः यहाँ सांगीतिक निबन्धमालाओं के कतिपय ऐसे उदाहरण पर्याप्त होंगे जो अपनी भाव-धारा और शब्द-योजना के वैशिष्ट्य के कारण रीतिकालीन वीररसात्मक रचनाओं के निकट हैं

राग अडाना—झपताल (मध्यलय) १

स्थायी

कला जिनका जोस यूं है जीक
शाह औरंगजेब पकड़ जीते जंग।

अंतरा

इंद्र मघवा हस्ती ऐरावत तनमस्यो
हिम सम जसमन्धा नदिया को हरत।

निम्नस्थ उदाहरण में भी किसी शाह मरदान अली के प्रताप-वर्णन में रसपरक अनुकूल शब्द-योजना का प्रयोग हुआ है साथ ही इस आस्थायिका में राजाश्रित कवियों जैसी वह मनोवृत्ति भी विद्यमान है जिसके फलस्वरूप वे अपने आश्रयदाताओं का यशोगान किया करते थे

राग अडाना—सूलताल (मध्यलय) २

स्थायी

अति मतवारी शाह मरदान अली।

---

१ द्रष्टव्य भातखण्डे कृत 'हिन्दुस्तानी संगीत-पद्धति क्रमिक पुस्तक मालिका' चौथा भाग (द्वितीय संस्करण) पृष्ठ-७१४ ७१२

२ वही पृष्ठ-७१८, ७१९

अंतरा

चोंसि के चमक सें कौंरत बीचा
लंका खोहनी।

सांगीतिक निबन्धनाओं में वीर रस की अभिव्यक्ति अधिक नहीं हुई। रीति काल में भी वीर-काव्य अधिक नहीं रचा गया। हाँ शृङ्गार और प्रेम को लेकर उस युग के काव्य और संगीत दोनों ही में बहुत कुछ लिखा गया। मानव-हृदय को अत्यन्त निकटता से स्पर्श करने वाली भावनाएँ प्रायः शृङ्गारपरक ही हैं। ऐसा कोई व्यक्ति कदाचित् ही मिले तो मिले जिसने कभी न कभी प्रेम की अनुभूति न की हो। इन भावनाओं की विशद अभिव्यक्ति के लिए काव्य और संगीत का सम्मिलित क्षेत्र अत्यधिक अनुकूल है। इसीलिए रीतिकालीन मुक्तकों और सांगीतिक निबन्धनाओं में प्रेमाभिव्यक्ति की दृष्टि से जितनी अधिक समानता दृष्टिगत होती है उतनी अन्य भावधाराओं में दिखाई नहीं देती।

रीतिकालीन कवियों ने शृङ्गार के ही अन्तर्गत नख-शिख ऋतु-वर्णन नायिका भेद इत्यादि के जो वर्णन उपस्थित किये वे सांगीतिक निबन्धनाओं के गीतों के कितने निकट हैं इसका दिग्दर्शन छठे परिच्छेद में किया जा चुका है अतः उनका पुनः उल्लेख यहाँ वांछनीय न होगा तथापि प्रसंग के आग्रह से यहाँ कतिपय अन्य ऐसे शृङ्गारपरक विषय उपस्थित हैं जो तत्कालीन कविता और सांगीतिक निबन्धनाओं में समान रूप से गृहीत हुए। उदाहरणार्थ शृङ्गार रस का निरूपण करते हुए रीतिकालीन कवियों ने स्वप्न में प्रिय के दर्शन और फिर आँख खुल जाने पर प्रिय के अभाव के कारण अद्भुत् विह्वल मनोदशा के एक से एक सुन्दर चित्र उतारे। सांगीतिक निबन्धनाओं में भी इस विषय को यथोचित स्थान मिला है। रात्रि के द्वितीय प्रहर से सूर्योदय के पूर्व तक गाये जाने वाले अनेक रागों में ऐसे गीतों की कमी नहीं है जिनमें स्वप्न-दर्शन जन्य-दैन्य की मार्मिक अभिव्यक्ति हुई है। देव सोमनाथ ठाकुर इत्यादि ने इस विषय को लेकर जैसी रचनाएँ की हैं वैसी ही रचनाएँ संगीतज्ञों द्वारा भी हुईं। इस सम्बन्ध में निम्नस्थ उदाहरण पर्याप्त होंगे

देव

हौं सपने गई देखन को
नदु नाचत नन्द जसोमति को नट।

वा मुसकाइ कै भाव बताइ कै
मेरो हियँ खैंचि करो पकरो पट ।
तौ अति माइ जगाइ उठी कहि
देव अपूनि मच्यो छवि को घट ।
जागि परी तो न कान्ह कहूँ
न कदम्ब न कुंज न कालिंदी को तट ॥ १

झहरि झहरि झीनी बूँद हैं परति मानों
घहरि-घहरि घटा घेरी है गगन में ।
आनि कह्यो स्याम मो सौं चलौ झूलिबे को आज
फूली ना समानी भई ऐसी हौं मगन मैं ।
चाहत उठाई उठि गई सो निगोड़ी नींद
सोय गए भाग मेरे जागि वा जगन मैं ।
आँख खोलि देखौं तौ न घन हैं न घनस्याम
वेई छाई बूँदें मेरे आँसु ह्वै दृगन में ॥२

सोमनाथ

आये गुपाल सखी सपने में समीप हमारे रतीक टरे नहीं ।
हौं कितनी समुझाई रही उठ लाज तें नैन उठे अहरे नहीं ॥
चाहत हौं मुसकाइ कछू बतराइ के वे तौ परीक टरे नहीं ।
मैं तौ अभागिनी परस्यो धुनिमंक हूँ मोहन अंक भरे नहीं ॥ ३

ठाकुर

सपने हौं छुमपाई भई हरि अंक भरी भुज कंठन मेली ।
हौं सकुची कोउ सुन्दरि देखत मैं जिन बाहु सों बाँह पछेली ॥
ठाकुर भोर भये गये नींद कै देखहु तो घर माँझ अकेली ।
माँग गुथी तब पास न साँवरो वाम न बावरो पुष्प न बेली ॥ ४

१ 'रीतिशृङ्गार' सम्पादक डा० नगेन्द्र, प्रथम संस्करण पृष्ठ-१०२
२ वही पृष्ठ-१०३
३ 'सोमनाथ रत्नावली' (सम्पादक पं० ओंकार नाथ पाण्डेय) द्वितीय संस्करण, पृष्ठ-११
४ 'ठाकुर ठसक' (सम्पादक लाला भगवानदीन) पृष्ठ-२०

निम्नस्थ सांगीतिक मालिकाओं में भी स्वप्न दर्शन से उद्भूत ऐसी ही व्याकुलता मुखर है

राग सोहनी–त्रिताल (मध्यलय) १

स्थायी

देखवे को जिया ललचाय
पिया के दरस बारी मगरी
जिया न माने मोरा।

अंतरा

रात सगर पिया सपने में देख
भोर भये नजर नायो पिया।

राग ललित–त्रिताल (विलंबित) २

स्थायी

रैन का सपना री मैं कासे कहूँ री।

अंतरा

सोवत सोवत आंख खुली जब
कोउ न पायो सपना।

राग पूरिया—त्रिताल (मध्यलय) ३

स्थायी

सपने में आये सजनी मोरो मा
सुख चैन को कल बिसर गई।

अंतरा

हूँ जो जागूं सदारंग महल को माह
पकर न सकी पग उबर गई।।

---

१ द्रष्टव्य : आचार्य भातखण्डे कृत 'हिन्दुस्तानी संगीत-पद्धति क्रमिक पुस्तक मालिका' तीसरा भाग (तृतीय संस्करण) पृष्ठ-४१७
२ द्रष्टव्य आचार्य भातखण्डे कृत 'हिन्दुस्तानी संगीत-पद्धति क्रमिक पुस्तक मालिका' चौथा भाग (द्वितीय संस्करण) पृष्ठ-२०६
३ वही पृष्ठ-४४८, ४४९

प्रेम-निमग्न नारी हृदय की व्याकुलता को अभिव्यक्त करने के लिए उस युग के कवियों ने भ्रमरगीत के उस प्रसंग को भी अपना लिया था जिसके माध्यम से भक्तिकालीन कवियों ने निर्गुण का खण्डन और सगुण का मण्डन करते हुए प्रेम की प्रतिमूर्ति गोपियों के सरल हृदय की सुन्दर अभिव्यंजना की थी। रीतिकालीन प्रेम एकोन्मुख नहीं है अतः भ्रमरगीत प्रसंग को अपनाते हुए उस युग के कवियों ने एक ही पुरुष की सौम्या बनी हुई अनेक प्रपीड़िता नारियों के भग्न हृदय की मर्मस्पर्शी अभिव्यक्ति की। भ्रमरगीत प्रसंग का सम्यक भाव न होने के कारण संगीतज्ञों ने इस सम्बन्ध में जो रचनाएँ की उनमें वर्णन की सांगोपांगता चाहे युक्तियुक्त न हो किन्तु उनकी भावना रीतिकालीन कवियों के भ्रमरगीत सम्बन्धी मुक्तकों के ही अनुरूप है। उदाहरणार्थ ये बानिस्तिकाएँ प्रस्तुत हैं

राग बिहागमी सारंग—त्रिताल (मध्यलय) १

स्थायी

ना बोलो श्याम हमी सन
काम नाहिं तुमरे संग।

अंतरा

कुबजा नारी मन मन भाई
अब कैसो हमरो संग।

राग पूर्वी—त्रिताल (मध्यलय) २

स्थायी

मथुरा न आयो कौन बहाँ है
कुबजा नारी नारि अनारि।

अंतरा

तू ताते मारि भरम मोरि मानो
उतहू न जैयो कृष्ण मुरारि।

---

१ द्रष्टव्य आचार्य भातखण्डे कृत 'हिन्दुस्तानी संगीत-पद्धति क्रमिक पुस्तक मालिका' तीसरा भाग (तृतीय संस्करण) पृष्ठ-७०२

२ द्रष्टव्य आचार्य भातखण्डे कृत 'हिन्दुस्तानी संगीत-पद्धति क्रमिक पुस्तक मालिका, दूसरा भाग (तृतीय संस्करण) पृष्ठ-२१७,२१८

'कुब्जा नारी' के प्रति मन मान की यही बात आलम की निम्नस्थ रचना में भी विद्यमान है

"वे तौ ऊधो परम पुनीत पुन्य पावन
मावन प्रवीन प्यार पावन हरन जू।
गाँव की अहीरी हम गोरस की आस भरीं
लगीये गँवारि गुन रूप ही न रस हू॥
कहै कवि 'आलम' विराजित हैं राजा कान्ह,
रावनि के राजा गुन पूरन परस हू।
बिसर्‌यो बसेरो बन बीथी बन ब्रजबासी
प्रति मन भाई पाई कुबिजा सरस हू॥ १

होली के वर्णन में भी रीतिकालीन कवियों और संगीतज्ञों ने समान रुचि ली है। संगीतज्ञों के लिए धमार की गायकी में होली-वर्णन अपेक्षित रहता है। इसके अतिरिक्त काफी अथवा अन्य रागों में भी उन्होंने होली का वर्णन किया। इधर रीतिकालीन कवियों ने भी होली के शृङ्गारिक वातावरण से लाभ उठाकर होली के वर्णन में रस लिया। इस सम्बन्ध में पद्माकर और ग्वाल की ये रचनाएँ द्रष्टव्य हैं

पद्माकर

मधुर-मधुर मुख मुरली बजाय, धुनि
धमकि धमारन की धाम-धाम कै गयो।
कहै 'पद्माकर' त्यौं अगर अबीरन की
करि कै धमाधमी उमाहनी चितै गयो॥
का वह ग्वालिनी गुपालन के संग में
अनय छबिवारो रसरंग में भिजै गयो।
यौं ग्यो रमैह फिरी एबै ग्यो छरा को छोर,
फगुवा न दै गयो हमारो मन लै गयो॥ २

---

१ 'आलम-केलि' शृंगारोत प्रसंग (सम्पादक—लाला भगवानदीन) पृष्ठ-१०
२ 'पद्माकर-पंचामृत' (जगद्विनोद) सम्पादक श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र पृष्ठ २०६, २०४ प्रथम संस्करण

ग्वाल

आई एक ओरे तें नवीन सी किशोरी गोरी
आयो एक ओर तें किशोर श्याम धाम पै ।
भाजि चल्यो छैल छोरो छोड़ पै छबीलिन में
भरी को उछाह भाय मारी उर माल पै ॥
'ग्वाल' कवि हो हो कहि और कहि घेरो कहि,
बीच में नचायो येई तत थेई ताल पै ।
लाल पै तमाल पै गुलाल उड़ि छायो ऐसी
भयो एक और नन्दलाल नन्दलाल पै ॥ १

इन रचनाओं के अनुरूप सांगीतिक स्वरलिपिकाएँ ये हैं

राग भैरवी—धमार (विलंबित) २

स्थायी

भर केसर पिचकारि सखी
मोपे डारत कन्हैया ।

अंतरा

बाट घाट में रोकत टोकत
कहा करूँ मोरी बैयां डारत ।

राग पूरिया—धमार (विलंबित) ३

स्थायी

आज मोरी अंगीआ रंग सें भीजोई
गय हो खिलारी बिज के ।

अंतरा

जाने ना दूँगी फेंट गहूँ राखूँगी
गारी दूँगी जसोदा के द्वार ।

---

१ 'ग्वाल-रत्नावली' सम्पादक कवि 'किंकर' संस्करण सन् १९४२, पृष्ठ १८

२ द्रष्टव्य आचार्य भातखण्डे कृत 'हिन्दुस्तानी संगीत-पद्धति क्रमिक पुस्तक मालिका' दूसरा भाग (तृतीय संस्करण) पृष्ठ ४२१

३ द्रष्टव्य आचार्य भातखण्डे कृत 'हिन्दुस्तानी संगीत-पद्धति क्रमिक पुस्तक मालिका' चौथा भाग (द्वितीय संस्करण) पृष्ठ-४७५, ४७६

नायिकाओं के मान वर्णन और मान के निरस्त करने के हेतु दूतीप्रयोग भी रीतिकालीन मुक्तकों में पर्याप्त हुआ है। मानिनी का उदाहरण उपस्थित करते हुए पद्माकर ने दूती के मुख से यह कहलवाया है

'मोहि तुम्हैं न उन्हैं न इन्हैं मनभावती को यु मनावन ऐहै।
त्यौं 'पदमाकर' मोरन को सुनि सोर कहौ नहि को अकुलैहै॥
और घरो किन मेरे गुबिंद बरीक में जो या घटा घहरैहै।
आपुहि तैं तजि मान तिया हहरै-हहरै गरबै लगि जैहै॥'"२

विहाग के निम्नलिखित बड़े ख्याल में भी नायक की दूती मानिनी के मान-मोचन में तत्पर है

राग विहाग—एकताल (विलंबित) ३

स्थायी

कवन ढंग तोरा सजनी तू तो
इतरात उतरात बीती जात।

अन्तरा

छांड़ मान कछु मेरी कहा लेहूं
बीत जात रहि जात।

रीतिकालीन मुक्तक और संगीत से सम्बन्धित इस विवेचन से यही निष्कर्ष निकलता है कि उस युग में इन दोनों की मूल प्रकृति में अद्भुत समानता विद्यमान थी। यह ठीक है कि काव्य और संगीत दोनों एक ही कलाएँ नहीं हैं किन्तु एक दूसरे की सहायता लेकर दोनों अपने आप का पूर्णता प्रदान करने में अवश्य सक्षम रहती हैं फलतः रीतिकालीन कवि ने संगीत के उन तत्त्वों को परिश्रमपूर्वक अपनाया जो उनके मुक्तकों का कलागत सम्पन्नता प्रदान करने में सहायक हो सकते थे और रीतिकालीन संगीतज्ञों ने उस युग की काव्य-कला से जो कुछ ग्रहण किया वह तो परिष्कृत होकर अभी तक संगीत-कला में अपना विशिष्ट स्थान बनाये हुए है।

---

२ 'पद्माकर-पंचामृत' (जगद्विनोद) सम्पादक श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र पृष्ठ-१११ प्रथम संस्करण

३ द्रष्टव्य आचार्य भातखण्डे कृत 'हिन्दुस्तानी संगीत-पद्धति क्रमिक पुस्तक मालिका, तीसरा भाग (तृतीय संस्करण) पृष्ठ-२११, २१२

नष्कर्ष

१ रीतिकाल में कवि और संगीतज्ञ दोनों ही दरबार की शोभा थे अतः कवियों पर संगीत का तथा संगीतज्ञों पर उस युग की मुक्तक रचनाओं का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था।

२ रीतिकालीन कवियों ने यदि अनुप्रास वीप्सा, यमक इत्यादि शब्दालंकारों और छन्द सौष्ठव से अपने मुक्तकों में आन्तरिक संगीत भरने का प्रयास किया तो उस युग के काव्य में प्रचलित तत्व ज्ञान भक्ति नीति और और प्रेमसम्बन्धी भावधाराओं को अपनाकर तत्कालीन संगीतज्ञों ने सांगीतिक निबन्धनाओं के गीत भी रचे।

३ रीतिकालीन कवियों की जिन मुक्तक रचनाओं में भावपक्ष सरसता और भावगत उत्कर्ष विद्यमान है उनमें परोक्ष रूप से प्रगीत मुक्तक की विशेषताएं उभर आयी हैं। ऐसी रचनाएँ आन्तरिक संगीत से तो समृद्ध हैं ही क्रियात्मक संगीत के लिए भी उपयोगी हैं।

रीतिकालीन प्रबन्ध काव्य और संगीत

(घ)

प्रबन्ध काव्यों की रचना में कवि का दृष्टिकोण विषयप्रधान रहता है फलतः वैयक्तिक रागात्मक अनुभूति को अभिव्यक्त करने का उसे प्रायः अवसर नहीं मिलता। सम्भवतः इसी प्रतिबन्ध की यह प्रतिक्रिया है कि प्रबन्ध काव्य का लेखक प्रत्यक्ष रूप से नहीं तो परोक्ष रूप से ही गीत लिखने के लिए लालायित हो उठता है। आधुनिक युग में 'कामायनी' 'साकेत' 'यशोधरा' इत्यादि में भी गीतों का सुन्दर समावेश हुआ है। वस्तुतः कवि की वैयक्तिकता उसकी रचना से एकान्ततः दूर रह ही नहीं सकती अतः जहाँ वह प्रत्यक्ष रूप से गीत नहीं लिखता वहाँ कहीं न कहीं किसी पात्र से आत्मीयता स्थापित कर के उसी के माध्यम से अपनी वैयक्तिक रागात्मकता को अभिव्यक्त कर उठता है। प्रबन्ध काव्यों में जहाँ कहीं ऐसी वैयक्तिकता मुखरित होती है वहीं गीतिकाव्य के तत्त्व उभरने लगते हैं।

गीत मुख्यतः दो ही तत्त्वों पर आधृत है। एक वैयक्तिक रागात्मक अनुभूति की तीव्रता पर और दूसरे उस संगीतात्मकता पर जो आन्तरिक और बाह्य दो प्रकार की होती है। अतः रीतिकालीन प्रबन्ध काव्य और संगीत के पारस्परिक सम्बन्ध पर विचार करते समय इन दोनों बातों पर ध्यान रखना आवश्यक है।

जहाँ तक मात्र संगीत का सम्बन्ध है गीत में वैयक्तिकता अनिवार्यतः अपेक्षणीय नहीं है। दस-बीस नहीं सैकड़ों गीत ऐसे मिल जायेंगे जो विषयि प्रधान न होकर विषय प्रधान हैं। हाँ इतना अवश्य सत्य है कि गीत जब तीव्र वैयक्तिक रागात्मक अनुभूति के माधुर्य-ऐश्वर्य से सम्पन्न होता है तब उसकी संगीतात्मक श्रवणीयता में भी निश्चय ही वृद्धि हो जाती है। तथापि इस तथ्य के अभाव का यह अर्थ नहीं कि प्रबन्ध गाये नहीं जा सकते। तुलसी कृत 'राम चरित मानस' को लोग गाकर ही सुनते सुनाते हैं। सैकड़ों वर्षों से कथावाचक इसे गाकर ही जीविकोपार्जन करते आये हैं। आल्ह खण्ड भी गाया ही जाता है जिसे सुनने के लिए लोगों की भीड़ जमा हो जाती है। यह बात दूसरी है कि प्रबन्ध

काव्य उस प्रकार नहीं गाये जाते जैसे गीत गा लिया जाता है। गीत घड़ी दो घड़ी का गाना है और प्रबन्ध काव्य अपने आकार और श्रोताओं की श्रद्धा के अनुसार घण्टों दिनों सप्ताहों और महीनों का गीत है।

रीतिकाल वस्तुतः प्रबन्ध काव्यों के अनुकूल युग न था। ऐश्वर्य और विलास में निमग्न रहने वाले राजा महाराजाओं की अभिरुचि चमत्कारपूर्ण मुक्तक रचनाओं की ओर तो हो सकती थी किन्तु प्रबन्ध काव्यों के रसास्वादन के लिए उनके पास समय ही कहाँ था? अतः कुशल कवि मुक्तकों में ही अपना कौशल दिखा रहे थे। कुछ कवियों ने प्रबन्ध काव्य अवश्य लिखे परन्तु उनमें यथार्थ कवित्व का आकर्षण कम ही है। इस युग के कथा-प्रबन्धों में सबल सिंह का महाभारत गुरु गोविन्द सिंह का चण्डी चरित्र जोधराज का हम्मीर रासो सूदन का सुजान चरित्र छत्रसिंह की विजय मुक्तावली लाल कवि का छत्र प्रकाश गुमान मिश्र का नैषध चरित्र ब्रजवासी दास का ब्रजविलास, देवीदत्त की बैताल पच्चीसी, हरनारायण की माधवानल कामकन्दला मधुसूदन दास का रामाश्वमेध चन्द्रशेखर का हम्मीर हठ श्रीधर का जंगनामा पद्माकर का राम रसायन नवलसिंह की भाषा सप्तशती कृष्णदास की भाषाभागवत् इत्यादि के नाम उल्लेखनीय हैं किन्तु इन कथात्मक काव्यों में कवित्व की दृष्टि से चार पाँच ही ऐसे हैं जिन्हें महत्व प्रदान किया जा सकता है। चन्द्रशेखर के हम्मीर हठ, लाल कवि के छत्रप्रकाश जोधराज के हम्मीर रासो और सूदन के सुजान चरित्र में इतर कथा-काव्यों की अपेक्षा अधिक रसात्मकता है।

सबलसिंह के महाभारत में चाहे काव्योचित रसात्मकता अधिक न हो परन्तु सरल ब्रजभाषा में महाभारत की कथा होने के कारण इसमें प्रसाद गुण अधिक आ गया है। भारत की जनता स्वभाव से ही धर्म प्राण है, अतः गाँवों में आज भी सबलसिंह के महाभारत का खूब प्रचार है। लोग इसे गाकर ही पढ़ते हैं और कभी कभी तो कथावाचक भी तुलसी कृत 'रामचरितमानस' की तरह इसकी कथा कहते हुए देखे जा सकते हैं। इस प्रबन्ध के कर्णपर्व की कतिपय पंक्तियाँ ये हैं

"यह कहि नीलबाण कर लीने जो वर ऋषि दुर्वासा दीन्हे।
इन्द्रसेन रथ को मन दीन अब पारथ की रक्षा कीजै ॥
गोपिन नाथ लिये संभाला बेगि शम्भु महि आनि बचाना ।
जाके रक्षक श्री जगनाथा ताको कर्ण कीन्ह चहै घाता ॥

हृदय ताकि मारेउ तब बाना पलटि न कबहुँ फेरि संधाना ।
यह कहि मनुपकण्ठ मणि ताना कर्ण हाथ मूद्यो तब बाना ।
अन्तरिक्ष सर आवत कैसे छूटै वज्र इन्द्र कर जैसे ।
अर्जुन लखे कठिन सर मारण पै न सके यह बाण निवारण ।।
आवो बाण कण्ठ तकि जबहिं, भक्तिपोष कायेउ प्रभु तबहीं ।
घुटिके मस्त रथहिं छिप जायो कट्यो मुकुट श्रीकृष्ण बचायो ।।
मुकुट काटि सर बेधेउ धरणी जग में रही सदा यह करणी ।
धन्य कृष्ण पाण्डव सन भावा दीनदयाल धारणहिं राखा ।।
जाके सारथि चक्रधर, मारि सकै तेहि कौन ।
अर्जुन के रक्षक सदा श्रीपति राधारौन ।।"१

सबलसिंह का यह सम्पूर्ण ग्रन्थ दोहा-चौपाइयों में लिखा गया है। कहीं-कहीं सोरठा छन्द का भी प्रयोग हुआ है, अतः कथावाचकों के लिए 'राम चरित मानस' की शैली पर इसकी कथा को गाकर सुनाना सुविधाजनक भी होता है। इधर सामान्य जनता ने तुलसी कृत 'राम चरित मानस' को जितना सुना है उतना महाभारत को नहीं अतः जब 'महाभारत' गाकर सुनायी जाती है तब नवीनता के कारण जनता इसकी ओर पर्याप्त आकृष्ट होती है।

सूदन ने 'सुजान चरित' में भरतपुर के महाराज बदनसिंह के सुपुत्र सुजान सिंह (सूरजमल) के सात युद्धों का वर्णन किया है। सूदन की रचना में ऐसे अनेक स्थल भरे पड़े हैं जो मात्र आन्तरिक संगीत के अतिशय मोह के कारण ही लिखे गये प्रतीत होते हैं। उदाहरणार्थ निम्नांकित पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं। भाव की दृष्टि से ये पंक्तियाँ महत्त्वपूर्ण नहीं हैं, यहाँ तो कवि ने अनुप्रास-योजना और वर्ण-मद शब्दावली के समावेश से मात्र आन्तरिक संगीत द्वारा रसक्षेत्र के विषय में ध्वनि का रंग भरने का प्रयास किया है

छप्पय—युद्ध युद्ध के काज युद्ध भट भए सनम्मुख।
सूरन के मुख नूर आयरनु लूमि भए रुख ।।
भरि भरि मुष्ठनि हृदय सेसु लागन पटतारत।
सोह धन्व धमकाइ बाण किरवान सँभारत ।।

१ सबलसिंह कृत 'महाभारत' का कर्णपर्व, पृष्ठ-२११, २१० प्रथम संस्करण

धरि धम्म पाथ फर मग्ग मैं जग्ग कहत जुम्मिन जानिय ।
जुह स्वामि-काम संग्राम मैं धीर बीररस मैं पगिय ॥

त्रिभंगी—उच्चौं भरभट्टे आगे पट्टे धौ धौ कट्टे झरपट्टे ।
इच्चौं समवासी पे समरासी हुवे हुलासी झरपट्टे ॥
हय सौं हय जुट्टे मेजु न छुट्टे वैरौं कुट्टे सिर फुट्टे ।
छोटेटौं भरि जुट्टे कैसो सुट्टे मुट्टक मुट्टे भुज छुट्टे ॥
फिरि फेरि झटक्कैं पकरि पटक्कैं खाव सटक्कैं भाव कहैं ।
इक इक्क हटक्कैं देत चटक्कैं छैल खटक्कैं चोप चहैं ।
बिन हट्ट मटक्कैं भरत बटक्कैं भाव भटक्कैं देखि रहैं ।
इक भात पटक्कैं जग्य भटक्कैं सीस कटक्कैं धीर गहैं ॥ १

'सुजान चरित' में कवि ने युद्ध का वर्णन ऐसे ढंग से किया है मानो वह स्वयं युद्ध में उपस्थित हो और किसी पार्श्ववर्ती व्यक्ति से उत्साह के साथ उस युद्ध का वर्णन कर रहा हो। अतः जहाँ उसकी आत्मीयता अभिव्यक्त हो गयी है वहाँ उसकी अभिव्यक्ति में भी आत्मीयता उभर आयी है

"संकनि के सोर चहुँ ओर महावीर जुरे
मानो घन घोरि घोरि उठे घुम घोर तें ।
फहरें पताका त चमाका नील पीत स्याम
कैधौं रंग रंग के बिहंग भारि मोर तें ॥
मीत मनु दामिनि मयंद-मद नीर घाट
बाजत हयंद ज्यौं परजु घन घोर तें ।
पावस प्रताप कौं बहुत पाक सावन ज्यौं
सफदरजंग ने पमानो करषी कोरतें ॥"२

'सुजान चरित' में कवि की आत्मीयता जैसी स्तुतिपरक छप्पयों में दृष्टिगत होती है वैसी अन्य स्थलों में नहीं। भावानुकूल शब्द-योजना भावात्मक

१ 'सुजान रत्नावली' (सम्पादक 'सत्यमित्र') पृष्ठ-४८,
संस्करण—सन् १९५४
२ 'सुजान रत्नावली' (सम्पादक 'सत्यमित्र') पृष्ठ-६१,
संस्करण—सन् १९५४

प्रवाह और आत्मीयता के कारण ये छप्पय संगीत की दृष्टि से भी उपयोगी हैं। उदाहरणार्थ दो छप्पय ये हैं

"धरि सत रज तम रूप भजति पालति संहारति ।
धारत सक्ति सुरराज बिपति प्रभुरन कौं टारति ॥
धूम्र चण्ड वर मुण्ड महिष रक्ता रन भंजति ।
सिम्भु निसुम्भु बधाई घार रन सोनित रंजति ॥
जाकी विभूति परब्रह्म निरगुन तें गुनमय बरनि ।
मुनि देव मनुज सुजन रटत जयति जयति संकर घरनि ॥"१

"लुलित केस अधर गुसित भेस सोभम रिनेस सिसु ।
चन्द्रभाल त्रय नैन ज्वालमाला कृपाल बिभु ॥
कर कपाल नीभुज सुव्याल सप स्वान माल-धर ।
असि त्रिसूल पद्नाम डमरू कर भस्म दिगम्बर ।
सिवस्थितानर मममाम बृह डमर सुरापानहिं करहिं ।
जय बटुकनाथ जगनाथ जय भूत नाथ जय उच्चरहिं ॥ २

'सुजान चरित' की अपेक्षा 'हम्मीरहठ' का काव्य-सौष्ठव कहीं अधिक समृद्ध है। इस पुस्तक का सम्पादन बाबू जगन्नाथ दास 'रत्नाकर' ने किया था। काशी नागरी प्रचारिणी सभा से यह पुस्तक प्रकाशित भी हो चुकी है। इसके लेखक चन्द्रशेखर वाजपेयी ने इसमें रणथम्भौर के राजा हम्मीर देव और दिल्ली के अलाउद्दीन के बीच हुए युद्ध का वर्णन किया है।

'हम्मीरहठ' के अनेक स्थल ऐसे हैं जहाँ समुचित शब्द-योजना के साथ आन्तरिक संगीत का पूर्ण उत्कर्ष हुआ है। कवि की आत्मीयता हम्मीर देव के साथ अधिक होने के कारण हम्मीर की उक्तियों के साथ कवि की वैयक्तिकता ने तादात्म्य स्थापित कर लिया है। फलतः हम्मीर की उक्तियाँ वर्णनात्मक प्रसंग को मात्र आगे बढ़ाने वाली ही नहीं रह गयी हैं उनमें गीतिकाव्योचित रागात्मक अनुभूति का स्पन्दन भी है। 'मगोल' जब हम्मीर की शरण में आ जाता है तब कवि हम्मीर के उत्साह का वर्णन करते हुए कहता है

---

१ 'सूदन रत्नावली' (सम्पादक 'सत्यप्रिय')
पृष्ठ-८८, संस्करण—सन् १९४१
२ वही पृष्ठ-१७

भुज फरकत हरषत सुनत　सरनागत की बात ।
बोले बिहंस हमीर तब　उमग न गात समात ॥ १

इसके आगे हम्मीर के वचन ये हैं

हम्मीर देव उवाच—छप्पय

उवै भानु पच्छिम प्रतच्छ दिन चन्द प्रकासै ।
उलटि गंग बरु बहै काम रति प्रीति बिनासै ॥
तजै गौरि अरधंग अचल ध्रुवआसन चल्लै ।
अचल पौन बरु होई मेरु मंदर-गिरि हल्लै ॥
सुरतरु सुखाई लोमस मरै मीर　संक सब परिहरौ ।
मुख बचन बीर हम्मीर को　बोलि न यह बहुरौ टरौ ॥ २

उसै भानुबिम्मान बिकल तारा ससि भर्पे　।
प्रबल अवनि असमान बसौ दिसि थरथर कंपै ॥
बर्षे घन　घनघोर　घोर　मारुत सब　चल्लै ।
सकरपन फुंकरै काल हुंकरै उथल्लै ।
मरजाद छाड़ि सागर चले　कहि हमीर धरनी-करन ।
अलाउदीन　पावै न तौ मैं अगोस राख्यौ　सरन ॥३

राजा उवाच

पड़ गज्जै　सोहु नहि　परि बोर्य सिर बोस ।
कटि भटि तन रन मैं परै　तौ नहि देहु मंगोल ॥४

कथात्मक प्रबन्धों के अतिरिक्त रीतिकाल में　अनेक वर्णनात्मक प्रबन्ध भी लिखे गये । वस्तुतः वर्णनात्मक प्रबन्ध बड़े प्रबन्ध काव्यों के अन्तर्गत ही आ जाते

---

१ 'हम्मीर हठ' (सम्पादक बाबू जगन्नाथ दास रत्नाकर) पृष्ठ-११
द्वितीय संस्करण
२ वही पृष्ठ-११
३ वही, पृष्ठ-११
४ वही पृष्ठ-१४

है। इन प्रबन्ध काव्यों में वन-विहार, मृगया, जल विहार, झूला, होली-वर्णन इत्यादि के प्रसंग रहते ही हैं, परन्तु जिस प्रकार नख-शिख, ऋतुवर्णन जैसे विषय श्रृङ्गार रस के क्षेत्र में आते हुए भी काव्य-पद्धति में स्वतन्त्र रूप से गृहीत हुए उसी प्रकार मानलीला, दानलीला, मंगल-वर्णन, जन्मोत्सव वर्णन, झूला, होली इत्यादि विषयों पर भी स्वतन्त्र रूप से प्रबन्ध काव्य लिखे गये। राधावल्लभीय सम्प्रदाय के चाचा हित वृन्दावन दास के 'श्रीलाड़ सागर' में श्रीराधा बाल विनोद, श्री राधा ब्याह सुहाग, श्री कृष्ण सगाई इत्यादि ऐसी ही रचनाएं हैं। इस प्रकार की रचनाएँ प्रायः गेय पदों में लिखी गयी हैं। ये गेय पद स्वतन्त्र रूप से अलग अलग भी गाये जा सकते हैं और यदि क्रमानुसार पढ़ें या गाये जायँ तो इनमें कथा का भी थोड़ा बहुत निर्वाह होता चलता है। उदाहरणार्थ 'श्री लाड़ सागर' का प्रथम पद ही रामकली राग में है। इसमें कवि ने 'नंद सुत वृषभानु तनया चरित्र'[1] वर्णन किये जाने की सूचना दी है। इसके बाद कवि ने जो पद लिखे हैं वे अतीव स्थूल रूप से कथा के प्रसंग को भी आगे बढ़ाते हैं और स्वतन्त्र रूप से भी गेय हैं। उदाहरणार्थ इसका दूसरा और तीसरा पद इस प्रकार है

राग रामकली—पद

देखौ प्रात कौतुक एह ।
पौढ़ी कीरति अंक राधा रह्यो जगमगि गेह ॥
गगन ससि तें सतगुनौं बाढ़त जु छिन छिन तेह ।
जगि जगि रानी बहुरि पौढ़ति राति करि सनेह ॥
कुँवरि अंचल गहि कहति मैया बचन सुनि लेह ।
गयि गयी निसि तिमिर ह्वै गयौ भोर लाडू देह ॥
मुदित सुनि जननी भई बरष्यौ अमी मनु मेह ।
वृन्दावन हितरूप अंक लगाइ भींजत नेह ॥ २

राग रामकली—पद

गाढ़ौ यही है री माइ ।
भोर मागी भूख श्री राधा कहति तुतराइ ॥

---

१ श्री हित वृन्दावन दास कृत 'श्री लाड़ सागर' पृष्ठ-१ १
प्रथम संस्करण

२ वही पृष्ठ-२

नींद बस कीरति जु अतिलड़ि अचरिस देति जगाइ ।
मोहि लैके अंक मैया भली बेगि जिमाइ ।।
श्रीश्यामा कबहिं नयन ती आलसी अहुराइ ।
चिबुक गहिकैं कुँवरि छिनकति उठि आलसहि पंचाइ ।
सखी मुख के आँवने माँहि मात आन्यौ जाइ ।
बहुत विधि सौं कहति रानी लिखि अंक लगाइ ।।
बेटी चंद्र प्रकाश अबहीं उठी कहा अराइ ।
बंधु तें जिनि डरै प्यारी वही तोहि भगाइ ।।
चिरैया चुहुकति जु जननी सुनि जिन चितलाइ ।
बाबा सौं कहिहौं सिखावति मोहि राति बताइ ।।
नींद अलसाई उठी रानी लई अकुलाइ ।
नैन पूरित बारि पूँछति वचन पुनि पछिताइ ।।
श्रीर मुख जु प्रकास भाई वही सिखा मिलाइ ।
लाइ सींचति हिये अपने कर जु पान कराइ ।।
बहुरि मठरी रस पगी दई हाथ कुँवरि अहाइ ।
अजिर खेली बैठि जननी मुदित देति बधाइ ।।
नूपुरनि पुनि होति मृदु मृदु चरन धरत उठाइ ।
सोभा की सिरता मनौं यह पवन झोका आइ ।।
मान भरी ओट ह्वै के निरखि परम सिहाइ ।
वृन्दावन हितरूप पीवैं रंक पायी नाइ ।। १

कवि ने आरम्भ के सात आठ पद रामकली में ही लिखे हैं और इन सभी में प्रायः प्रातःकाल-सूर्योदय के क्रियाकलापों का उल्लेख हुआ है। रामकली भी प्रातःकालीन अग्निप्रकाश राग है अतः पद के भाव और उसी के अनुकूल राग-चयन इन पदों के सौन्दर्य को और भी स्पष्ट कर देता है। इन पदों में कवि की भक्ति भावना और तन्मयता भी विद्यमान है। रामकली प्रातःकालीन अग्निप्रकाश राग होने के कारण भक्ति-भावना के भी अनुकूल पड़ता है।

इस शैली के प्रबन्ध काव्यों में दान लीला मानलीला झूला होली आदि के प्रसंग प्रायः भक्तों के लिए सामूहिक गान की दृष्टि से अतीव उपयोगी होते

१ श्री हित वृन्दावन दास कृत 'श्री लाड़ सागर' पृष्ठ-२
प्रथम संस्करण

हैं। मन्दिरों में भूल-हिंडोले होली आदि के ऐसे वर्णनात्मक प्रसंग सावन-भादों या फागुन में होने वाले विशेष उत्सवों पर बड़े चाव से गाये जाते हैं।

अस्तु, रीतिकालीन प्रबन्ध काव्यों का भी संगीत से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। प्रबन्ध काव्यों में आन्तरिक संगीत विरल नहीं होता इसके अतिरिक्त प्रबन्धों में जो स्थल मार्मिक और संगीत के लिए उपयोगी होते हैं उन्हें स्वतन्त्र रूप से भी गाया जाया करते हैं भक्तिपरक कथात्मक प्रबन्ध तो विशेष ही सामूहिक गान के लिए गाते हैं।

निष्कर्ष

१ प्रबन्ध काव्य में जहाँ कवि वैयक्तिक रागात्मक अनुभूति को व्यक्त करने लगता है वहाँ गीतिकाव्य की विशेषताएँ झलकने लगती हैं, फलतः इसमें भी संगीत-तत्वों का समावेश हो जाता है। आन्तरिक संगीत का इनमें भी एकान्त अभाव नहीं रहता।

२ प्रबन्ध काव्य भी गेय हैं। अधिकांश प्रबन्ध काव्य किसी न किसी रूप में गाये जाते रहे हैं यह बात दूसरी है कि उनके गाने का ढंग मुक्तकों या प्रगीत मुक्तकों से कुछ भिन्न होता है।

३ कथात्मक प्रबन्धों को मन्दिरों में गाने की परिपाटी अभी तक चली आ रही है।

परिच्छेद ६

उपसंहार

उपसंहार

परिच्छेद-९

प्रस्तुत अध्ययन के निष्कर्षस्वरूप यह कहा जा सकता है कि रीतिकाल में संगीत और काव्य साथ-साथ चलते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। रीतिकालीन कविता के शिल्प विधान में संगीत के तत्व समाहित हो गये थे और यदि इन तत्वों की दृष्टि से रीतिकालीन कविता को देखा जाय तो उस युग के कवियों की कला चातुरी समझने में सहायता ही नहीं मिलती तत्कालीन कविता के रसास्वादन में भी अधिक आनन्द आने लगता है।

रीतिकाल में परम्परागत शैली का गीतिकाव्य कम मिलता है, परन्तु कवित्त के शिल्प विधान में आन्तरिक संगीत का आधिक्य निस्सन्देह बढ़ा हुआ दिखायी देता है। इस युग के कवि चाहे सूर, तुलसी के समान भक्त गायक न हों किन्तु उनकी संगीताभिरुचि कदापि कुण्ठित न हुई थी। ऐसा लगता है मानो परम्परागत शैली के गीतिकाव्य को न लिखने के कारण ही उनकी अतृप्त संगीताभिरुचि कवित्त-सवैयों के आन्तरिक संगीत में प्रकारान्तर से अपनी तृप्ति खोजने लगी थी। क्रियात्मक संगीत में प्रवीण घनानन्द 'रीझी साज कवित्त रस सरस राग रति रंग' की गहराई को समझने वाले बिहारी 'राग रत्नाकर' के रचयिता देव, इन्द्रजीत सिंह के दरबारी संगीत को समझने वाले केशव, संगीत के पारिभाषिक शब्दों को लेकर अपनी कविता में चमत्कार दिखाने वाले सेनापति जैसे कवि जिस युग में विद्यमान हों उस युग की काव्य-चातुरी में संगीत-तत्वों का समाविष्ट हो जाना कोई बड़ी बात नहीं।

इस युग के कवियों की कविताओं का तत्कालीन संगीतज्ञों पर भी प्रभाव पड़ा फलतः अपनी पाठशिक्षिकाओं में उन्होंने इन कवियों का अनुकरण भी किया। रीतिकालीन यह प्रभाव वर्तमानयुगीन सांगीतिक निबन्धनाओं में भी यथावत् विद्यमान है। यही नहीं श्री कृष्णानन्द व्यास कृत राग-कल्पद्रुम से यह

भी प्रमाणित हो जाता है कि उस युग के प्राय: सभी प्रमुख कवियों की ऐसी रचनाएँ जो वैयक्तिक रागात्मक अनुभूति से सम्पन्न थीं अथवा अपने विषय या अन्य सांगीतिक विशेषताओं के कारण उपादेय थीं संगीतज्ञों द्वारा अपना ली गयीं। खेद है कि 'राग कल्पद्रुम' में संगृहीत ऐसी रचनाओं की स्वरलिपियाँ प्राप्त उपलब्ध नहीं हैं अत: क्रियात्मक संगीत के क्षेत्र में चाहे ये रचनाएँ अधिक उपयोगी सिद्ध न हों परन्तु इससे रीतिकालीन कवियों की रचनाओं का गेयत्व सम्बन्धी ऐतिहासिक सत्य आच्छादित नहीं हो जाता।

यहाँ यह प्रश्न स्वाभाविक ही है कि यदि उपर्युक्त उपपत्ति सत्य है और रीतिकालीन मुक्तक रचनाएँ सांगीतिक निबन्धनाओं में ढलने की इतनी क्षमता रखती हैं तो आजकल गायक उन्हीं को क्यों नहीं गाते ? इसके मुख्य कारण दो हैं। एक तो यह कि किसी कविता को सांगीतिक निबन्धना का रूप देने की क्षमता साधारण गायकों में नहीं होती। कविता को आक्षिप्तिका का कच्चा पक्का रूप प्रदान कर देना तो किसी सामान्य संगीतज्ञ के लिए भी कठिन नहीं है, परन्तु जिसे उत्कृष्ट 'बन्दिश' कहा जाता है उसके निर्माण के लिए जिस कुशलता की अपेक्षा होती है वह सभी संगीतज्ञों में सहज सुलभ नहीं है। दूसरी बात यह है कि संगीत कालान्तर में ऐसे लोगों के हाथों में पड़ गया जो समाज के निम्नवर्ग के लोग थे। अशिक्षित होने के कारण साहित्य से उनका यथोचित सम्बन्ध न था। वाग्गेयकार के लिए संगीतज्ञ के साथ कवि होने का जो प्रतिबन्ध था वह इस प्रकार भग्न ही नहीं हो गया प्रत्युत ऐसी भी गीत रचनाएँ हुईं जिनके एक-आध बोल भले ही सार्थक हों शेष अंश भ्रामक या निरर्थक रहे। असाहित्यिक होने के कारण अनेक गायकों के लिए रीतिकालीन कवियों की मुक्तक रचनाओं का आस्वादन कठिन हो गया। फलत: शास्त्रीय संगीत (राग दारी संगीत) शनै: शनै: शब्दनिष्ठ और अर्थनिष्ठ कम होता हुआ प्रधानत: नादनिष्ठ रह गया। इधर संगीतज्ञों में 'घरानेदारी' या खानदानी आक्षिप्तिकाओं के प्रति मोह ऐसा दृढ़ हो गया कि अपने अपने घराने की बन्दिशों के अतिरिक्त उन्हें और कोई बन्दिश ग्राह्य न थी। निश्चय ही ये बन्दिशें राग और स्वर-योजना की दृष्टि से उत्कृष्ट थीं, परन्तु इनके बोल उत्तम कवित्वमय न थे फिर भी ये ही बन्दिशें अधिक प्रचलित हो गयीं। इस प्रकार मध्ययुगीन कविता की जिन रचनाओं ने आक्षिप्तिकाओं का रूप ग्रहण कर भी लिया था वे पीछे छूटने लगीं।

युग अब फिर बदल रहा है। आकाशवाणी के विभिन्न केन्द्रों से सूर, तुलसी

मीरा इत्यादि के पदों के अतिरिक्त रीतिकालीन कवियों के दोहे, कवित्त सवैये इत्यादि भी अब गाये जाने लगे हैं। निश्चय ही यह उस बाह्य संगीत की बात है जो भक्तिकालीन अथवा रीतिकालीन कविता में आधुनिक संगीतज्ञों द्वारा मिलाया जा रहा है किन्तु इस बात को यदि छोड़ भी दिया जाय तब भी इस तथ्य को विस्मृत नहीं किया जा सकता कि संगीत और कविता का शाश्वत सम्बन्ध है, अमिट है। रीतिकालीन कवियों ने तो एक-एक शब्द को बड़ी कारीगरी के साथ अपनी कविता में सजाया था। इस कारीगरी म जो संगीतात्मकता समाहित हो गयी है वह रीतियुगीन कविता-प्रेमियों के कानों में सदैव गूंजती रहेगी।

प्रस्तुत अध्ययन की प्रतिपत्तियों की ओर 'मुखबन्ध' में तथा शोध खण्ड के प्रत्येक परिच्छेद के अन्त में पहले ही संकेत किया जा चुका है तथापि प्रधान उपस्थापनाओं को यहां भी इंगित कर देना अप्रासंगिक न होगा। अस्तु, इस प्रबन्ध प्रबन्ध के प्रमुख निष्कर्ष ये हैं

१ संगीत के स्वर वस्तुतः नादरूप शब्द हैं जिनकी अर्थ-सम्पत्ति अपनी प्रकृति में सूक्ष्म किन्तु अतीव समृद्ध होती है। काकु-भेद के द्वारा ये स्वर विभिन्न प्रकार की अभिव्यक्तियों में ऐसी प्राणवत्ता समाहित कर देते हैं जिसका अवलम्ब ग्रहण करके कवि की वाणी हृदय को अतीव निकटता से स्पर्श करने की अमोघ शक्ति प्राप्त कर लेती है। वस्तुतः हिन्दी के सम्पूर्ण पद-साहित्य में यही विशेषता कूट कूट कर भरी हुई है अतः इस वैशिष्ट्य पर दृष्टिपात किये बिना रीतिकालीन पद-साहित्य का अध्ययन भी सर्वांगीण नहीं हो सकता।

२ भक्तिकाल के पश्चात् हिन्दी-साहित्य में जिस रीतिकाल का प्रादुर्भाव हुआ वह वस्तुतः कलायुग था। काव्य और संगीत एक दूसरे को अनुपूरक कलाएं हैं अतः रीतिकालीन काव्य-कला में संगीत-तत्वों का और भी अधिक समावेश हो गया। उस युग के कवि और संगीतज्ञों का राज दरबारों में सह अस्तित्व था अतः कवि को संगीत चातुरी और गायक को काव्य-माधुरी देखने-सुनने का पर्याप्त अवसर मिल जाता था। यही कारण है कि एक ओर तो उस युग के संगीतज्ञों की रचनाओं में ऋतु-वर्णन नायिका-भेद नख-शिख मान स्वप्न-दर्शन उभयमुखी शृङ्गार इत्यादि का समावेश एवं उनकी रागिनियों के 'ध्यान' सम्बन्धी स्वरूप में नायिका भेद की छाया दृष्टिगत होने लगी दूसरी

ओर तत्कालीन कवियों की अभिरुचि संगीत की ओर विशेषतः उन्मुख हुई जिसके परिणामस्वरूप कभी उन्होंने संगीत सम्बन्धी पुस्तकें लिखीं तो कभी संगीत की पारिभाषिक शब्दावली को अपनी रचनाओं में ग्रहण किया कभी संगीत की लय को अपने छन्दों में भरने का सफल प्रयास किया तो कभी शब्दालंकारों एवं वर्णध्वननकारी शब्दों के चमत्कार से अपनी रचनाओं में आन्तरिक संगीत की कलापूर्ण सर्जना की। रीतिकालीन कविता और संगीत का यह पारस्परिक आदान-प्रदान अतीव महत्वपूर्ण है। तत्कालीन कवियों को शब्दों की कारीगरी में निष्णात बनाने में इन विशेषताओं ने निश्चय ही अभूतपूर्व योग प्रदान किया है।

६ रीतिकालीन विविध काव्य-रूपों का उस युग के संगीत से प्रभाव सर्वत्र दृष्टिगत होता है। तत्कालीन पद साहित्य तो भक्त-कवियों द्वारा निर्मित हो जाने के लिए हुआ था इधर प्रबन्ध काव्य भी प्रधानतः गेय ही रहे। सबलसिंह का 'महाभारत' यदि गेय रूप में प्रचलित हुआ तो कथात्मक प्रबन्ध मन्दिरों में सामूहिक गान के लिए उपयोगी सिद्ध हुए। श्री कृष्णानन्द व्यास कृत 'राग कल्पद्रुम' से यह भी सिद्ध होता है कि उस युग की मुक्तक रचनाओं को भी संगीतज्ञों ने अपना लिया था। यही नहीं 'राग कल्पद्रुम' में प्रकाशित रीतिकालीन कवियों की अनेक रचनाएं आज भी कभी न कभी पुरानी परिपाटी के गायकों द्वारा व्यवहृत हो जाया करती हैं।

अस्तु, रीतिकालीन काव्य का उस काल के संगीत से एवं उस युग के संगीत का तत्कालीन काव्य से अगाढ़ सम्बन्ध सुस्पष्ट है। संगीत की दृष्टि से रीतिकालीन काव्य को देखने पर उसमें अनेक ऐसी विशेषताएं परिलक्षित होने लगती हैं जिनकी ओर (इसके अभाव में) सहसा ध्यान आकृष्ट नहीं होता। निश्चय ही रीतिकालीन काव्य के सांगीतिक मूल्य की भी एक अधिकारपूर्ण निजी सत्ता है, अतः रीतिकालीन काव्य के अध्ययन का एक दृष्टिकोण यह भी है।

सहायक पुस्तकों
की
सूची

११ कामायनी — श्री जयशंकर प्रसाद
१२ कालिदास ग्रन्थावली — सम्पादक पण्डित सीताराम चतुर्वेदी
१३ काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध — श्री जयशंकर प्रसाद
१४ काव्य के रूप — बाबू गुलाब राय
१५ काव्य दर्पण — पण्डित राम दहिन मिश्र
१६ काव्य प्रकाश — मम्मट
१७ काव्य मीमांसा — राजशेखर
१८ काव्यालंकार — भामह
१९ काव्यालंकार सूत्र — वामन
२० केशव ग्रन्थावली — सम्पादक पण्डित विश्वनाथ प्रसाद मिश्र

ग

२१ गीतगोविन्द — जयदेव
२२ गीतावली (तुलसी) — गीता प्रेस गोरखपुर
२३ गीतिकाव्य — पण्डित राम खेलावन पाण्डेय
२४ गुलाल साहब की बानी — बेलवेडियर प्रेस प्रयाग
२५ गोस्वामी तुलसीदास — सम्पादक बाबू श्याम सुन्दर दास और श्री पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल
२६ ग्वाल रत्नावली — सम्पादक कवि 'किंकर'

घ

२७ घनानन्द ग्रन्थावली — सम्पादक पण्डित विश्वनाथ प्रसाद मिश्र

च

२८ चिन्तामणि — आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

ज

२९ जायसी ग्रन्थावली — सम्पादक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
३० जीवन के तत्व और काव्य के सिद्धान्त — श्री लक्ष्मी नारायण 'सुधांशु'

ठ

३१ ठाकुर ठसक — सम्पादक लाला भगवानदीन 'दीन'

त

३२ तुलसीदास और उनकी कविता — पण्डित रामनरेश त्रिपाठी

द

३३ दीनदयाल गिरि रत्नावली — काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित

३४ देव और उनकी कविता — डा० नगेन्द्र

३५ देव रत्नावली — सम्पादक कवि 'किंकर'

न

३६ नाट्य शास्त्र — भरत मुनि

प

३७ पद्माकर पंचामृत — सम्पादक पण्डित विश्वनाथ प्रसाद मिश्र

३८ 'परिमल' की भूमिका — श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

३९ 'पल्लव' की भूमिका — श्री सुमित्रा नन्दन पन्त

४० प्रिया प्रकाश — टीकाकार लाला भगवानदीन 'दीन'

ब

४१ बिहारी रत्नाकर — सम्पादक बाबू जगन्नाथदास रत्नाकर

४२ ब्रजभाषा साहित्य का नायिका भेद — श्री प्रभुदयाल मीतल

भ

४३ भारतीय काव्य शास्त्र की भूमिका — डा० नगेन्द्र

४४ भारतेन्दु ग्रन्थावली — सम्पादक श्री ब्रजरत्न दास

४५ भाव विलास (देव) — सम्पादक पण्डित लक्ष्मी निधि चतुर्वेदी

४६ भीखा साहब की बानी — बेलवेडियर प्रेस प्रयाग
४७ भ्रमर गीत-सार — सम्पादक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
४८ भूषण ग्रन्थावली — सम्पादक पण्डित विश्वनाथ प्रसाद मिश्र

म

४६ मतिराम ग्रन्थावली — सम्पादक पण्डित कृष्ण बिहारी मिश्र
५ मध्यकालीन प्रेम साधना — पण्डित परशुराम चतुर्वेदी
५१ मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ — डा० सावित्री सिन्हा
५२ मलूकदास जी की बानी — बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग
५३ महादेवी का विवेचनात्मक गद्य — संकलनकर्ता पण्डित गंगाप्रसाद पाण्डेय
५४ महाभारत — सबलसिंह
५५ मिश्रबन्धु विनोद — मिश्रबन्धु
५६ मीरा-माधुरी — श्री ब्रजरत्नदास
५७ मीराबाई की पदावली — पण्डित परशुराम चतुर्वेदी
५८ मेघदूत (कालिदास) — अनुवादक राजा लक्ष्मण सिंह

य

५६ यशोधरा — श्री मैथिलीशरण गुप्त
६० यारी साहब की रत्नावली — बेलवेडियर प्रेस प्रयाग

र

६१ 'रत्नाकर' — सम्पादक बाबू श्याम सुन्दरदास
६२ रत्नाकर उनकी प्रतिभा और कला — डा० विश्वम्भर नाथ भट्ट
६३ राम रत्नाकर (वेद) — काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित
६४ रामचरितमानस — तुलसीदास
६५ रीतिकाव्य की भूमिका — डा० नगेन्द्र
६६ रीति शृङ्गार — डा० नगेन्द्र
६७ रैदास जी की बानी — बेलवेडियर प्रेस प्रयाग

	ल
६८ लहर	— श्री जयशंकर प्रसाद
	व
६९ वाङ्मय विमर्श	— पण्डित विश्वनाथ प्रसाद मिश्र
७० विचार और विश्लेषण	— डा० नगेन्द्र
७१ विद्यापति की पदावली	— संकलनकर्ता श्री रामवृक्ष बेनीपुरी
७२ विनय पत्रिका	— टीकाकार श्री वियोगी हरि
७३ वृन्द सतसई	— टीकाकार श्री कृष्ण शुक्ल
	श
७४ शब्दावली (दूसरा भाग)	— तुलसी साहिब (हाथरस वाले)
७५ श्रृङ्गार शतक	— भर्तृ हरि
७६ श्रीमद्‌भगवद्‌गीता	
७७ श्री लाड़ सागर	— श्री हित वृन्दावन दास
	स
७८ सन्त काव्य	— पण्डित परशुराम चतुर्वेदी
७९ साकेत	— श्री मैथिली शरण गुप्त
८० सान्ध्य गीत	— सुश्री महादेवी वर्मा
८१ साहित्यालोचन	— बाबू श्याम सुन्दर दास
८२ सिद्धान्त और अध्ययन	— बाबू गुलाब राय
८३ सुवृत्ततिलक	— क्षमेन्द्र
८४ सूदन रत्नावली	— सम्पादक सत्यप्रिय
८५ सूर एक अध्ययन	— डा० शिखर चन्द्र जैन
८६ सूर और उनका साहित्य	— डा० हरवंश लाल शर्मा
८७ सूर पंचरत्न	— सम्पादक लाला भगवानदीन 'दीन'
८८ सूर सागर	— काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित
८९ सूर सौरभ	— डा० मुंशी राम शर्मा 'सोम'
९० सोमनाथ रत्नावली	— सम्पादक पण्डित ओंकारनाथ

९१ स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य — श्री जयशंकर प्रसाद

ह

९२ हम्मीर हठ (चन्द्रशेखर) — सम्पादक श्री जगन्नाथदास रत्नाकर
९३ हिन्दी काव्य शास्त्र का इतिहास — डा० भगीरथ मिश्र
९४ हिन्दी रीतिकाव्य — श्री ओमप्रकाश अग्रवाल
९५ हिन्दी नवरत्न — मिश्रबन्धु
९६ हिन्दी भाषा और साहित्य — बाबू श्याम सुन्दर दास
९७ हिन्दी साहित्य — डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी
९८ हिन्दी साहित्य का आदि काल — डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी
९९ हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास — डा० रामकुमार वर्मा
१०० हिन्दी साहित्य का इतिहास — आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
१०१ हिन्दी साहित्य की भूमिका — डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी

सगीत

(हिन्दी और सस्कृत)

अ

१ अनूप सगीत विलास — पण्डित भाव भट्ट
२ अनूप संगीत रत्नाकर — पण्डित भाव भट्ट
३ अनूप सगीतांकुश — पण्डित भाव भट्ट
४ अभिनवगीतमंजरी — श्री नारायण रातांजनकर

च

५ चत्वारिंशच्छतरागनिरूपणम् (नारद) — प्रकाशक बालचन्द्र सीताराम सुकथनकर

ठ

६ ठुमरी सग्रह — श्री नरहरि शम्भु राव भाटे

ध

७ ध्वनि और संगीत — प्रोफ़ेसर ललित किशोर सिंह

न

८ नाद विनोद ग्रन्थ — गोस्वामी पन्नालाल

प

९ प्रणव भारती — पण्डित ओंकार नाथ ठाकुर

म

१० मारिफुन्नग़मात (राजा नवाब अली) — अनुवादक डा० विश्वम्भरनाथ भट्ट

र

११ राग विबोध प्रवेशिका (सोमनाथ) — प्रकाशक बालचन्द्र सीताराम सुकथनकर

१२ हिन्दुस्तानी संगीत-पद्धति
(तीसरा भाग) — आचार्य भातखण्डे
१३ हिन्दुस्तानी संगीत-पद्धति
(चौथा भाग) — आचार्य भातखण्डे
१४ हिन्दुस्तानी संगीत-पद्धति क्रमिक
पुस्तक मालिका (पहला भाग) — आचार्य भातखण्डे
१५ हिन्दुस्तानी संगीत-पद्धति क्रमिक
पुस्तक मालिका (दूसरा भाग) — आचार्य भातखण्डे
१६ हिन्दुस्तानी संगीत-पद्धति क्रमिक
पुस्तक मालिका (तीसरा भाग) — आचार्य भातखण्डे
१७ हिन्दुस्तानी संगीत-पद्धति क्रमिक
पुस्तक मालिका (चौथा भाग) — आचार्य भातखण्डे
१८ हिन्दुस्तानी संगीत-पद्धति क्रमिक
पुस्तक मालिका (पाँचवाँ भाग) — आचार्य भातखण्डे
१९ हिन्दुस्तानी संगीत-पद्धति क्रमिक
पुस्तक मालिका (छठा भाग) — आचार्य भातखण्डे



पत्र-पत्रिकाएँ (पुरानी सचिकाए)

१ नागरी प्रचारिणी पत्रिका
२ अवन्तिका
३ आलोचना
४ सरस्वती

अंगरेजी

(साहित्य)

1	A making of Literature	— R. A. Scott—James
2.	An Introduction to the Study of Literature	—William Henry Hudson
3.	Arts and the Man	—Irwin Edman
4	Biographia Literaria	—Coleridge
5	Essay on Criticism	—A. Pope
6	Greek Literary Criticism	—J D Denieton
7	History of Aurangzeb	—J N Sirkar
8	Life and works of Amir Khushro	—Dr Mohammad Vahid Mirz
9	Literary Criticism in Antiquity	—Atkins
10	Loci—critici	—Saintsbury
11	Principles of Literary Criticism	—I A. Richards
12	Rulers of India series: Aurangzeb	—Stanley Lane Poole
13	Studies in the Psychology of Sex	—Havelock Ellis
14.	The Study of Poetry	—A. R. Entwistle
15	The Social Function of Arts.	—Radha Kamal Mukerjee

*

अंगरेजी

(संगीत)

1	A Comparative Study of some of the Leading Music Systems of the 15th, 16th 17th and 18th Centuries	—Pandit V N Bhatkhande
2	Approach to Music	—Lawrence Abbott
3	A Short Historical Survey of the Music of Upper India	—Pandit V N Bhatkhande
4	Hindustani Music	—G H. Ranade
5	History of Universal Music	—Raja Sir S. M. Tagore
6.	Music of India	—H. A. Poply
7	Music of Southern India	—Capt. Day
8	Treatise on the Music of Hindustan	—Capt. Willard
9	The Music of Hindostan	—A. H. Fox Strangways